निबन्ध-कुसुमावली

हिन्दी प्रभाकर, साहित्य-रत्न, बी० ए०, ऐम्० ए०, E. A. C.
और I. C. S तथा उनके समकक्ष परीक्षाओ
एव प्रतियोगिताओं के लिए

द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण

लेखक तथा सम्पादक
श्रीयुत गोपालचन्द्र देव

प्रकाशक
अतीआता-पुस्तक-भण्डार
गणपत रोड, अनारकली, लाहौर

मूल्य ४)

हिन्दी अब उन्नत भाषाओं के समकक्ष आ पहुँची है। साहित्य के अन्य अङ्गों के साथ साथ निबन्ध-रचना का प्रवाह भी अबाध है। सुपठित और अल्पपठित दोनो प्रकार के समाज में निबन्धों की मांग दिनोदिन अधिक ही अधिक हो रही है। परीक्षाओं में भी निबन्ध-लेखन अनिवार्य है। निबन्ध-प्रेमियों और परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर हिन्दी में कई निबन्ध-संग्रह निकले हैं और उनसे लोग लाभ भी उठा रहे हैं। इतना होने पर भी हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के लिये ऐसी एक ही पुस्तक की आवश्यकता थी, जिसमें भिन्न भिन्न विषयों पर विभिन्न शैलियों में सारगर्भित निबन्ध हो। इसी मांग को देखकर यह पुस्तक तैयार की गई है। अपना विचार तो सारे निबन्ध स्वयं लिखने का था, परन्तु इस प्रकार शैली और भाषा के अनेक चित्रों का प्रदर्शन न हो पाता; यही सोच कर अपने केवल बारह ही निबन्ध दिये हैं, शेष निबन्ध अन्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों के उद्धृत किये हैं। इसके लिये मैं विद्वान् लेखकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक सम्पादन करते समय परीक्षोपयोगिता का अधिक ध्यान रखा गया है। पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध होगी।

—गोपालचन्द्र देव

प्रकाशक—श्यामचन्द्र विशारद, सतीभ्राता-पुस्तक-भंडार, गणपत रोड, लाहौर।

मुद्रक—सुरेन्द्रकुमार कपूर, पञ्जाब प्रेस लिमिटेड, ६, मिराजी रोड, लाहौर सिटी।

विषय-सूची

(विषय)

कला-खण्ड

(१) निबंध लेखनकला

पारिभाषिक कठिनता ... १
विषयो की विभिन्नता ... ३
प्रस्ताव मे विषय की स्वतन्त्रता .. ४
प्रस्ताव मे लेखक का व्यक्तित्व ... ५
प्रस्ताव और लिरिक कविता की समानता ... ८
विदेशी निबंध-लेखको का परिचय ... ९
हिदी साहित्य मे निबंध ... १२
हिंदी साहित्य मे निबंध का अभाव, उसके कारण ... १३
हिंदी के प्राचीन गद्य पर एक दृष्टि ... १४
हिंदी में निबंध की महत्ता पहले पहल परखने वाले... १५
हिदी-निबंध का क्रमिक विकास १६
हरिश्चंद्र काल १७
द्विवेदी काल २०
आधुनिक काल २८
आधुनिक काल के अन्य लेखक २९
निबंध का हिन्दी साहित्य में वर्तमान स्थान . ३०
निबंध की कठिनता ३१
निबंध की कठिनाइयां निवारण करने के उपाय ३२
सीधे मार्ग का अभ्यास . ३२
निबंध लिखने में ध्यान देने योग्य बातें .. ३४
लेखन कला का अभ्यास और उन्नत चरित्र से संबंध .. ३४
निबंध के प्रकार तथा उनकी लेखन-शैली . ३५
प्रस्तावना, विवेचन तथा परिणाम निबंध के तत्त्व नही ३७

अभ्यास खंड

(१) काव्य और कविता ४०
(२) दृश्यकाव्य का विकास ... ४२
(३) हिंदी गद्य का विकास . . ४५
(४) हिंदी गद्य के विकास मे द्विवेदी जी का स्थान... ५०
(५) 'प्रसाद' जी का अजातशत्रु नाटक .. ५२
(६) अलंकारो की महत्ता-उनके विरुद्धमतो की विवेचना ५५
(७) प्रसाद जी की कामायनी ५८
(८) हिन्दी मे निर्गुण मत का साहित्य ... ८३
(९) हिन्दी समाचारपत्र वा पत्रिकाओं का क्र० इ० ८७
(१०) काव्यसापाक्ष रूप और काव्यरचनाकी विभिन्न शै० ८९
(११) तुलसीदास की सर्वांगणिता . ९४
(१२) रहस्यवाद ९६
(१३) छायावाद १०२
(१४) प्रगतिवाद १०९
(१५) हिन्दी भाषा और उसकी उपभाषाएँ ११५
(१६) प्रकृति-सौन्दर्य १२०
(१७) हिन्दी साहित्य में हास्य-रस .. . १२६
(१८) बंगला और मराठी साहित्यका हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध १३२
(१९) युद्ध मानवजाति का एक प्रबल शत्रु . १३५
(२०) हिन्दी साहित्य और मुसलमान ... १३८
(२१) पंजाब के प्राचीन हिन्दी कवि १४८

आदर्श खंड

(१) कला १५१
(२) कवि और कविता १६२
(३) भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा १८१

(४) धर्म और सुख .. . .

(५) मित्रता १९९

(६) सौन्दर्य २०७

(७) कर्मवीर महाराणा प्रताप . . २१८

(८) समाज और साहित्य . . २२३

(९) साहित्य और हिंदी-साहित्य की प्रगति २३२

(१०) आधुनिक शिक्षा-प्रणाली . . २४८

(११) इतिहास की उपादेयता . २६४

(१२) विकासवाद या ह्रासवाद २७०

(१३) योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना २७९

(१४) स्वास्थ्य रक्षा २८८

(१५) जीवन में सफलता पाने के लिए आत्म संयम० २९८

(१६) नम्रता ३०८

(१७) आनंद की ओर ३१५

(१८) मितव्ययिता ३२४

(१९) राष्ट्रभाषा हिन्दी कैसी होनी चाहिए .. ३३१

(२०) मनुष्यत्व और पशुत्व . . ३३७

(२१) रस ३४३

(२२) पूंजीपतियोकी स्वार्थांधता ही अशांतिका कारण है ३५३

(२३) सेवा धर्म ३६०

(२४) भारतीय शौर्य ३६७

(२५) गद्य और पद्य ३७५

(२६) कबीर : सिद्धान्त और रहस्यवाद . ३८२

(२७) बॅंगला-साहित्य ३९७

(२८) नवीन युग की हिंदी-कविता ४२१

(२९) देवनागरी लिपि ४३०

निबन्ध-लेखन

किसी पदार्थ, व्यक्ति, गुण, स्वभाव आदि पर सुबोध भाषा में क्रमबद्ध और विस्तृत विचारों से युक्त लेख निबन्ध कहलाता है। प्रस्ताव, प्रबन्ध आदि निबन्ध के ही पर्याय-वाचक हैं। हृदय के भावों और विचारों को औरों तक पहुँचाने के कविता, उपन्यास, गल्प आदि अन्य साधनों से इसकी अधिक महत्ता है। आजकल निबन्ध और निबन्ध-लेखन को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। समाज, धर्म और राज-नीति से निबन्ध का बड़ा प्रभाव है। परीक्षाओं में भी विद्यार्थी की योग्यता को परखने की यही एक कसौटी है। अन्य विषयों में तो घोखा लगा कर सफलता प्राप्त की जा सकती है, किन्तु निबन्ध के लिए अपनी बुद्धि और प्रतिभा का ही सार निकालना होता है।

निबन्ध लिखने के लिए अपनी बुद्धि को सूक्ष्म और प्रतिभा को तीव्र तथा विस्तृत बनाना आवश्यक है। उत्तमोत्तम विचारों से परिपूर्ण पुस्तकों के अध्ययन से भावों में वृद्धि होती है। पर पुस्तकों के चुनाव में भूल करने से लाभ होने की सम्भावना बहुत कम है। निम्न कोटि के उपन्यास आदि से भावों और विचारों की पुष्टि और उनका परिमार्जन हो सकना असम्भव है, क्योंकि निबन्ध-लेखन के लिए आवश्यक सामग्री का उनमें अभाव रहता है। यद्यपि चतुर भौंरा उनमें से भी कुछ न कुछ रस ले ही लेता है, फिर भी सब के लिए यह

सम्भव नहीं। तो भी किसी भी पुस्तक को पढ़ते समय उसमें से कुछ ले लेने की भावना अवश्य बना लेनी चाहिए। स्वर्गीय श्री पद्मसिंह जी शर्म्मा कहा करते थे "चाहे उपन्यास को पढ़ो, उसमे से भी कुछ न कुछ प्राप्त करो। पढ़ते समय कागज पैंसिल अवश्य हाथ में होनी चाहिये।" यह सर्वथा ठीक है। संस्कृत मे 'कापी' को 'सञ्चिका' कहा जाता है। जो अध्ययन-शील व्यक्ति सञ्चिका को वास्तव मे सञ्चिका बनाते हैं वे उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक बन जाते हैं। भावों और विचारो का कोश सञ्चित किये बिना निबन्ध-लेखन मे सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। हम प्रतिदिन अनेक कार्य करते हैं, कई दृश्य देखते हैं, बहुत से साधारण व्यवहार करते है, यदि हम नितान्त जड़ नहीं हैं तो हमें उनसे एक विशेष अनुभव प्राप्त होता है और शिक्षा मिलती है। उस अनुभव और शिक्षा को ले-लेकर भाव-पुञ्ज एकत्रित करने से निबन्ध लिखने की शक्ति बढ़ती है। पर्वत, नदी, वन, देश, विदेश आदि मे भ्रमण करने से भी अनुभव बढ़ता है। फिर उस सञ्चित राशि को व्यय करने से लेखक सफल निबन्ध-लेखक बन जाता है। कहा भी है—

"सरस्वती के भण्डार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यो खर्चे त्यों त्यो बढ़े बिन खर्चे घट जात॥"

अभ्यास की उपेक्षा लेखन-शक्ति-लता के लिये पैनी छुरी है। एक कवि ने कहा है कि अभ्यास के अभाव मे विद्या विष हो जाती है।

संसार मे नाना प्रकार के लोग हैं, भाँति भाँति के भाव और विचार हैं, अतः निबन्धो के प्रकार निश्चित नहीं किये जा सकते; फिर भी साधारण दृष्टि से निबन्धों के तीन विभाग

किये जा सकते हैं—वर्णनात्मक निबन्ध, आख्यानात्मक निबन्ध और विचारात्मक निबन्ध। निबन्ध के प्रत्येक प्रकार के लिये पूर्ण अभ्यास की आवश्यकता है।

जैसे आजकल कवियो को कविता-निर्माण के लिये छन्द आदि बन्धनों का जाल खटकता है वैसे ही निबन्ध-लेखको को भी निबन्ध क्रम आदि का प्रतिबन्ध अखरता है। भूमिका वर्णन, हानि-लाभ, दृष्टान्त, उपसंहार—इस क्रम की उंगली पकड़ कर चलने मे उन्हें लज्जा आती है, भाषा की भूल-भुलैय्यो से उनका जी ऊब गया है। वे कवियो की भाँति स्वातन्त्र्य-वाद के पक्षपाती हैं। वे कहते हैं कि प्रतिबन्ध लगाने से भावों की नदी रुक जाती है और विचारधारा अस्तव्यस्त हो कर गँदली हो जाती है। एक प्रकार से उनके ये विचार ठीक भी हैं। पर यह तो अत्यन्त उच्चलेखकों का पथ है। सर्व साधारण को अभी पहला पड़ाव पार करना है, इसलिये उनके लिये क्रम आदि का ध्यान रखना अनिवार्य है। उन्हे भाषा की सफाई और उत्कृष्टता को भी दृष्टि मे रखना चाहिये, अश्लील, अप्रसिद्ध और लड़खड़ाते शब्दो के प्रयोग से तथा पुनरुक्ति, वदतोव्याघात आदि दोषों से बचना आवश्यक है। यद्यपि शैली प्रत्येक लेखक की अपनी-अपनी होती है, फिर भी उत्कृष्ट लेखको की शैलियो का निरीक्षण उपादेय है, इससे अपनी शैली परिमार्जित हो जाती है; किन्तु अनुकरण करना कदापि अच्छा नही कहा जा सकता। भाषा और भावो का सौन्दर्य बढ़ाने के लिये अलंकारो की पुट प्रशंसनीय है, परन्तु अलंकार ही अलंकार लाद देना कभी भी प्रशस्त नही।

सर्वाङ्ग-पूर्ण निबन्ध लिखने का मार्ग देखने के लिए यह अल्प सा प्रकाश है।

—लेखक

निबन्ध-कुसुमावली

कला-खण्ड

निबन्ध-लेखन-कला

पारिभाषिक कठिनता।

आधुनिक साहित्य मे प्रबन्ध या निबन्ध को बहुत ऊचा स्थान दिया जाता है। विद्वानों मे तो विशेषतया इसका बडा मान है। अब इसपर यदि यह विचार किया जाए कि 'निबन्ध' या 'प्रस्ताव' किसे कहते है तो इसका उत्तर देना सहज काम नहीं; क्योंकि विद्वानों ने समय समय पर जो लक्षण इसके बनाए है वे सभी विवादास्पद हैं। ऐसी विकट समस्या मे पाठकों के आगे हम यदि कोई अपनी परिभाषा बना कर रखे तो व्यर्थ है; पर तो भी विद्वानों की बातों का भलीभान्ति परिशीलन करनेसे अपनेसंतोष के लिये प्रत्येक व्यक्ति निबंध के लक्षण के संबंध मे कुछ न कुछ धारणा बना ही लेता है। अत. हम अपने पाठकों को प्रस्ताव-विषयक परिभाषा का दिग्दर्शन अगरेजी भाषा से, अपनी भाषा के प्रामाणिक महापुरुषों तथा पुस्तकों से उद्धृत करके इस विचार से दिखाना चाहते है क्योंकि गद्य का यह अंग भी हमे एकांकी· नाटकों की भान्ति अंगरेजी साहित्य से प्राप्त हुआ है।

❋ (१) इंग्लिश साहित्य में सर्वमान्य डाक्टर जानसन प्रस्ताव की परिभाषा करते हुए कहते है—मन की विश्रृंखलित विचारतरंग-जो अनियमित और अपच हो-उसे प्रस्ताव कहते हैं।

† (२) आक्सफोर्ड डिक्शनरी में लिखा है, जो रचना-चाहे वह किसी विषय पर है-तारतम्य से संक्षिप्त है, मन की विश्रृंखल विचारतरंग है तथा न्यूनाधिक शैली मे परिश्रम साध्य और कुछ सीमित है, उसे प्रस्ताव कहते है।

(३) बाबू श्यामसुंदरदास जी अपनी पुस्तक 'साहित्यालोचन' पृष्ठ १५२ मे लिखते है—

"हमारी समझ मे निबन्ध उस लेख को कहना चाहिए जिसमें किसी गहन विषय पर विस्तारपूर्वक और पांडित्यपूर्ण विचार किया गया हो।"

(४) हिन्दी विश्वकोप तथा हिन्दी शब्दसागर निबन्ध, प्रस्ताव और संदर्भ के अर्थ लिखते हुए प्राय: समान रूप से यह कहते हैं—"ग्रन्थ की वृत्ति; कई वस्तुओं या बातों का एक मे ग्रथन; एक दूसरे से संबद्ध वाक्य-रचना का विस्तार।"

(५) संस्कृत कोप शब्दकल्पद्रुम 'सन्दर्भ' के अर्थ मे रूप-

---

*Dr. Johnson defined an essay to be "a loose selly of the mind, an irregular, indigested piece, not a regular and orderly performance.

† A composition of moderate length on any particular subject, or branch of a subject, originally implying want of finish, 'an irregular, indigested piece,' but now said of a composition more or less elaborate in style though limited in range.

सनातन गोस्वामीकृत श्री भागवतीय षट्-सन्दर्भ की पहली कारिका ही उद्धृत करता है। जिसका अर्थ है—

"संदर्भ उसे कहते हैं जो गूढार्थ को प्रकाशित करे तत्त्व एवं उत्तमता से मुक्त न हो और नाना अर्थों से समन्वित हो।"

विषयों की भिन्नता।

प्रस्ताव की पारिभाषिक विषमता के अतिरिक्त निबन्ध लेखकों द्वारा नाना प्रकार के विभिन्न विषयों का चुन लेना भी इसकी अनिश्चितता मे सहायक हुआ है। एक ओर कहां तो अंगरेज़ी के सर्वप्रथम प्रबन्ध लेखक लाके ने 'मानवीय ज्ञान पर' और दूसरी ओर चार्ल्स लैम्ब ने 'भूने हुए सूअर पर' भी प्रस्ताव लिखा हो तो इसका यह अभिप्राय हुआ कि विषय साधारण से साधारण या गम्भीर से गम्भीर कोई हो लेखक अपनी इच्छानुसार किसी भी विषयपर लिख सकता है।

श्रीयुत † लिड और बेकन का भी यही विचार है कि प्रस्ताव सामान्य से सामान्य विषय—जूता, जहाज, गोभी का फूल, राजा का जीवन आदिपर लिखा जा सकता है, पर वही साधारण विषय कुशल लेखक के हाथ से एक असाधारण चीज बन जाती है। उदाहरणरूप "प्राचीन चीन" क्योंकि लैम्ब जैसे दक्ष लेखक के हाथ से लिखा गया है, इसलिये वह अपने नए रूप और भव्य आलोक मे है। इसी तरह हैजलिट ने "भारतीय बाजीगर" और

❋ "गूढार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्ति श्रेष्ठता तथा।
नानार्थवत्व वेद्यत्व, सन्दर्भ कथ्यते बुधैः ॥१"

† *Mr. Lynd*—'The theme of the essay may be anything from "the Day of Judgement to a pair of scissors."

चैस्टरटनने "हैट के पीछे भागना" जैसे अत्यन्त साधारण विषयों पर निबंध लिखकर भी बड़ी ख्याति प्राप्त की है।

प्रस्ताव में विषयकी स्वतन्त्रता

इस प्रकार प्रस्ताव की परिभाषिक अनिश्चितता, व्याख्या की कठिनता और विषय, उद्देश्य तथा शैली आदि की विभिन्नता से इतनी कठिनता पैदा हो जाती है कि प्रस्ताव का निश्चित स्वरूप जानना दुरूह हो जाता है। फिर भी साहित्यिक चर्चा मे हमे किसी न किसी प्रकार परिसीमित धारणा करनी ही पडती है। पूर्वकथित लाके के "ऐस्से आन ह्यूमैन अन्डर स्टैन्डिग" और लैम्ब के "डिस्सर्टेशन आन ए रोस्ट पिग" को देखकर गवेषणा करने से यह कहा जा सकता है कि लेखक की सामयिक चित्तवृत्ति को बड़ी सुन्दरता से बतलाने वाली साहित्यिक वस्तु को प्रस्ताव कहते है; क्योंकि इससे लेखक का निष्कपट व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है; अतः इसमे विषय का कोई विचार नहीं, चाहे कोई और कैसा ही विषय हो, प्रस्ताव के लिये सब सुन्दर है। इसमे वास्तविक तत्व विषय नहीं; अपितु लेखक के ज्ञान, विचार और मन के आवेगका दिग्दर्शन कराना होताहै। प्रस्ताव एक प्रकार का दर्पण है, जिससे लेखक के मन को देखा जा सकता है। प्रसिद्ध निबन्ध लेखक मोन्टेग के ये शब्द "ये मेरी अपनी भावनाएं हैं; इनके द्वारा मैं किसी नवीन सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता, इनके द्वारा मै अपने आपको पाठकों की सेवा मे अर्पित करता हूं" और लैम्ब का अपने विषय में यह कहना कि उसकी सारी रचना उसके अपनेपन से भरी हुई है, वह उसके व्यक्तित्व का स्रोत है, उपर्युक्त कथनकी सत्यतामें प्रमाण रूप है।

बैनसन अपने सारगर्भित निबन्ध "निबन्ध लेखकों की कला" में बड़े सहज ढंग से इस बात को लक्षित करता है कि

निबन्ध मे व्यक्तित्व प्रतिफलन बडा आवश्यक है। अतः प्रस्ताव वह रचना है जिसमे लेखक अपना आपा बताए; क्योंकि प्रस्ताव मे आकर्षण तो लेखक के मानसिक आकर्षण पर आश्रित है जिससे कल्पना करके वह हमारे सामने रखता है। लेखक मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, धार्मिक, अथवा विनोदात्मक विषय पर विचार लिखे तो इनमे से प्रभुता किसी विषय को कभी नहीं दी जाएगी। प्रधानवस्तु जो प्रस्ताव मे देखी जाती है वह है उस वस्तु या विचार पर परामर्श की सुबोधता और उमंग—जिसने पाठकों के दिल को प्रभावित किया है। साहित्य के सभी अंग जीवन से कोई न कोई सम्बन्ध रखते हैं। नाटक को ही लीजिए—इसमे कानों और आंखों के अतिरिक्त कहानी सुनाने वाला, गायक, गान, भाषण तथा शब्दादि सभी वस्तुएं मानवीय जीवन से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित हैं, पर प्रस्ताव तो सर्वथा मनोयोग पर ही आश्रित है। इसमे किसी और पात्र तथा बाह्य साधन की आवश्यकता नही, यदि है तो केवलमात्र लेखक की मनस्तरंग की—जिससे आदिमपुरुष की भान्ति वह अपने आप को ही कहता है, अपने ही हृदय को व्यक्त करता है।

प्रस्ताव मे लेखक का व्यक्तित्व

प्रस्ताव-लेखक की सृष्टि ही निराली है। साहित्य के अन्य अंग उपन्यास तथा नाटक आदि में जो लेखक अपने व्यक्तित्व को अपनी रचना मे आए हुए पात्रों से जितना पृथक् रखता हुआ भाव-संघर्ष दिखाता है, वह लेखक उतना ही सफल समझा जाता है; पर निबन्ध-कला मे लेखक जब स्वयं ही अनिवार्यरूप से उसका एक पात्र है तो उसने अपने सिवा और कहना ही क्या है ? इसीलिये सर टाम्स ब्राउन के अनुसार एक प्रस्ताव-लेखक

मकड़े के जाले की नाईं अपने ही प्रसारमात्र की सृष्टि बनाता है, जो उसका अपना ही सूक्ष्मरूप होता है और जिसे वह अपनी इन्द्रियों मे देख-सुनकर लोगों के सामने रखता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कई निबन्धों मे निबन्ध लेखक का पूर्ण आपा नहीं होता। जैसे लैम्ब का 'ईलिया' और ऐडिसन का 'स्पैक्टर' अपने लेखकों का सम्पूर्ण आपा नहीं। ऐसी दशा मे यह कहा जा सकता है कि लेखक पर ऐसे व्यक्तित्व का इतना सान्निध्य है कि उससे झट पहिचाना जा सकता है कि यह लेख अमुक व्यक्तित्व से समुद्भूत है।

निबन्ध लेखक को चाहिए कि वह अपने विषय मे पाठकों के मध्य एक प्रतीति सी बैठा दे। उसका हृदय सात किलों मे बन्द होकर प्रसन्न न रहे; किन्तु हर समय शब्द शब्द मे अपनेपन का विज्ञापक हो। अपने को गम्भीर तथा अलग रखने वाला निबन्ध लेखक कभी सफल नही बन सकता। प्रस्ताव को सफलतापूर्वक लिखने का यदि कोई गुप्त मंत्र है तो वह यह है कि प्रस्ताव-लेखक अपने पाठकों को अपने हृदय के बहुत छिपे हुए स्थान से भी परिचित रखे और अपनी आत्मा का पूरा साक्षात् कराए। अर्थात् पाठक और लेखक के मध्य मे किसी प्रकार का परदा न हो। लेखक का घर राजमहल का अन्तःपुर न हो, किन्तु सभागृह हो-जिसमे सब का स्वागत हो। लैम्ब अपने पाठकों के सामने ललचाता हुआ भी जरा नहीं हिचकता। यही कारण है कि निवन्धकला के विशेषज्ञों ने लैंब जैसी शैली को अपनाने के लिए कहा है। आजकल के सभी निवंध-लेखक यही कहते हैं कि वही प्रस्ताव प्रस्ताव कहलाता है, जिसे पढ़ते हुए पाठक और किसी ओर ध्यान ही न दे सके। निवधलेखकका उद्देश्य पाठक को शिक्षा देना नहीं, किंतु आह्लादित करना है। इसका अर्थ यह नहीं कि निवंधलेखक कभी दुःखद बात पर कुछ न लिखे; प्रत्युत बड़ी से बड़ी दुखदायक

घटना को भी वह ऐसे ढंग से पाठकों के सामने रखे कि वे उससे भी आनन्दित हों। उदाहरणतया आपके सामने चैस्टरटन का प्रस्ताव "हैट के पीछे भागना" मे से एक स्थल उद्धृत किया जाता है। देखिए कि उसने इसमे साधारण से साधारण घरेलू विपत्तियों को दूर करने के लिये उपदेश नही दिया, प्रत्युत हास्य विनोद मे किस प्रकार दुख भुला दिया है और दुखद घटनाओं मे भी आनंद का उद्वेग किस तरह बहाया है—

"सो ऐसी दुखद घटनाओं मे जिनका मैंने ऊपर वर्णन किया है, प्रत्येक वस्तु मन के आवेग पर आश्रित है। आप अपनी दैनिक घटनाओं में जो बहु प्रचलित और विशिष्ट क्लेशकारक हैं प्रायः उन सब को इसी प्रकार जांच कर सकते हैं।

उदाहरण मे यह साधारणतः सब मानते हैं कि हैट के पीछे भागना बडा दुखदाई है। भला आप विचारे कि इस बात से सम्मानित तथा धार्मिक लोगों को क्यों दुख हो? क्या इसीलिये दुख होना चाहिए, कि भागना पडता है और भागने से वे थक जाते हैं? क्या लोग खेलों या मैचों मे इससे भी तेज नहीं भागते? लोग एक चमड़े की सडी हुई गदी सी बाल के पीछे कितने शौक से भागते हैं। तो क्या कोमल रेशम के बने हुए बढिया हैट के पीछे भागना उससे भी गंदा है? यदि यह कहा जाए कि हैट के पीछे भागने में मानहानि है, पर मानहानि हास्यप्रद ही है न? निस्सन्देह यह बात हास्यप्रद अवश्य है, किंतु पुरुष भी तो हास्य-विनोद ही चाहता है और इसलिए वह बहुत से काम हास्यजनक ही करता रहता है, जैसे भोजन खाना। यह भी है कि जितने हास्यप्रद काम हैं, वे प्रायः सारे आवश्यक तौर से किये जाने वाले है। चलो, प्रेम करना ही देख लो। सच पूछा जाए

तो क्या हैट के पीछे भागता हुआ मनुष्य अपनी प्रेमिका के पीछे भागते हुए मनुष्य से भी अधिक हास्यजनक है?"

कहने तात्पर्य यह है कि मिले जुले भावों से और विनोद ही से प्रस्ताव का ढांचा तैय्यार करना चाहिए।

प्रस्ताव और लिरिक कविता की समानता।

प्रस्ताव की इसी अंशमे यदि ❀लिरिक कविता से तुलना की जाए तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि इन दोनों मे भेद केवल इतना है कि प्रस्ताव गद्य मे होता है और लिरिक कविता पद्यमे। व्यक्तित्वकी प्रभुता दोनों मे समान है। सच तो यह है कि वास्तविक निबन्ध लेख, किसी विषयपर विचार (papers), गवेषणात्मक विचार (thesis), एक देशीय विचार (monographs), अध्ययन, आवेदनपत्र, और भाषण से सदा स्पष्टतया भिन्न वस्तु, है क्योंकि इसके उद्देश्य मे ही बडा अन्तर है। प्रस्ताव को आत्म-स्वीकृति, आपबीती, या आत्मचित्रण कह सकते है। प्रस्तावमे नैतिक शिक्षा देना या धर्मोपदेश करना बडा भारी दोष है। उत्तम प्रस्ताव मे केवल सूचना देना, प्रोत्साहित करना या आलोचना करना भी उद्देश्य नही होता। प्रस्ताव को संक्षिप्त होना चाहिए, वह यदि अव्यस्थित हो जाए तो कोई बात नहीं; किन्तु सबसे बढ़कर निबन्ध मे जो विषयगुण है वह है व्यक्तित्व का प्रदर्शन। मोन्टेग ने भी इसीलिये कहा है कि निबन्ध अपने लेखक से एकरूपता रखे। श्रीयुत गोस्से के अनुसार प्रस्ताव की शैली विश्वस्त, वर्णन मे सहज सुबोधताका आदर्श स्वरूप और बात-चीत करने का प्रतिबिम्बित आधार होना चाहिए।" इसी व्यक्तिगत चिन्ह से ही प्रस्ताव को लिरिक कविता के साथ सादृश्य दिया

❀ लिरिक = मनोवेग-प्रधान संक्षिप्त मुक्तगीत।

जाता है और इसीलिए साहित्य की ये दोनों ही अमूल्य वस्तु हैं कि जिनसे हम प्रत्येक समय के अच्छे से अच्छे महानुभावों के बहुत निकट ठहर सकते हैं।

विदेशी निबन्ध लेखकों का परिचय

प्रस्ताव पर इतना कुछ कह लेने पर यह असंगत ही नहीं अपूर्ण भी होगा यदि हम साहित्य के ऐसे महत्त्वपूर्ण अंग के उत्पादक, पोषक तथा विकासक महापुरुषों से हिन्दी-जगत् को परिचित न कराएं।

मोन्टेग फ्रांसीसी-निबन्ध-लेखक।

महारानी ऐलिजबेथ के शासनकाल मे अंग्रेजी साहित्य मे निबन्ध की भी प्रगति हो चली थी; क्योंकि लार्ड-बेकन ने इसी समय इस विभाग पर लिखना प्रारंभ किया था। यह ठीक है कि बेकन ने यह परिपाटी फ्रांस के लेखक मोन्टेग से सीखी थी, इसलिए निबन्ध शैली का वास्तविक जनक मोन्टेग ही है। आपने ही पहले पहल अपनी ऐसी रचना का नामकरण ऐस्सेज (Essxis) किया और इस नवीनशैली से पाठकों को परिचित कराया। आप एक हास्यप्रिय, भावुक, प्रेमी तथा मनोवैज्ञानिक जीव थे। आपने जो कुछ लिखा, आत्मतुष्टि के लिए लिखा; इसलिए आप पाठकों के आगे अपने आपे को दिखाने मे कुशल होकर उनके अतिनिकट हो गए।

लार्ड बेकन

लार्ड बेकन बड़े बुद्धिमान, चतुर तथा निष्पक्ष लेखक थे। आपको अपनी भाषा पर इतना अधिकार था कि उसे पढते हुए पाठक ऐसा अनुभव करता है कि मानो वह किसी जौहरी की दुकानपर सुन्दर सुन्दर शब्दरूपी अनमोल रत्न देख रहा है। यह सबकुछ होनेपर भी

आप में मोन्टेग जैसी आत्मीयता तथा सहृदयता का अभाव है। आपके निबन्ध, आपके अपने लेखानुसार "कुछ ऐसे संक्षिप्त नोट हैं जो कि विलक्षणता के स्थानपर अर्थपूर्णता से इस प्रकार लिखे गए हैं कि जिनका अर्थ उनके प्रकाश से अधिक आंखों से बहुत स्पष्ट दीखता है।"

कौले

साधारण जनता तो क्या एडेमन्ड गोस्से के अनुसार भी अब्राहम कौले ही वास्तवमे अंग्रेजी साहित्य में निबन्धकला के पिता हैं; हालाकि कहने में हम बेकन को ही पहिले गिनते हैं। क्योंकि बेकन की तीक्ष्ण बुद्धि हमारे मन मे विस्मय के स्थान पर भय पैदा करती है। कौले के निबध मे ही पहले पहल व्यक्तित्व का दिग्दर्शन होता है। आपकी पुस्तक 'सैवरल डिसकोर्स बाई वे आफ़ ऐसेज" मे "माईसैल्फ" पर लिखा हुआ एक आदर्श निबन्ध है। आपके निबन्ध यद्यपि बेकन की भान्ति इतने विद्वत्तापूर्ण नहीं होते; पर पाठकों के हृदय मे घुसकर बडा गहरा संबन्ध पैदा कर लेते हैं। आपका यह निबन्ध तो विशेषतया सरलता और स्वाभाविकता से ओतप्रोत है।

सरविलियम टैम्पल

बेकन पद्धति का अनुसरण न कर श्रीयुत विलियम टैम्पल ने एक नई शैली को उत्पन्न किया। आपने प्रसिद्ध विषयों पर संक्षिप्त धार्मिक उपदेशों में निबंध लिखे आपके निबंधों मे उत्तरोत्तर शैलीका अच्छा विकास पाया जाता है। इस प्रकार की लोकप्रिय शैली मे अभिव्यञ्जना अधिक सरल हो गई और विचारात्मक शैली के साथ ही साथ वर्णनात्मकशैली चल पडी।

निबंधकारों को वास्तविक प्रोत्साहन १८ वीं ईसवी मे पत्र-पत्रिकाओं द्वारा मिला। ऐसे समय में 'दि रिव्यू' मे डेनियल डैफो, 'दि टैटलर' मे रिचर्ड स्टील और 'दि स्पै-

क्टेटर' में जोजेफ़ ऐडिसन ने बड़ी ख्याति पाई। श्रीयुत स्टील और ऐडिसन ने मिलकर निबन्ध का क्षेत्र बडा व्यापक बना दिया। फलतः चरित्रचित्रण भी निबन्धों मे स्थान पाने लगा। ऐडिसन ने 'सर रागर डी कोवर्ले' का चित्रण बड़ी खूबी से किया है। आपकी भाषा मुहावरेदार, सरल और चुटकीली है।

डफो स्टील ऐडिसन

निबन्धरचना मे क्रान्तिकारी लेखक डाक्टर जानसन थे। आप परिवर्तन को जी जान से चाहते थे। इस विषय मे यदि आपको शाब्दिक हिटलर कहा जाय तो अत्युक्ति नही। आपके प्रबन्ध तुलनात्मक दृष्टि से आकर्षण भावावेश और, कल्पना मे स्टील और ऐडिसन की समता नहीं करते। आपकी शैली बडी कष्टसाध्य थी। आपकी भाषा के विषय मे यहां तक कहा गया है कि आप अंगरेज़ी मे नही, प्रत्युत जोनसनीज मे लिखते थे। निबन्ध शैली को विकसितरूप आलिवर गोल्डस्मिथ ने दिया। आप परम्परा के अनुगामी होते हुए भी स्टील प्रचालित आदर्शों को बड़ी निपुणता से मधुर तथा हास्यप्रद बनाने मे समर्थ हुए। आपकी रचना ने स्पष्ट कर दिया कि निबन्धों का उद्देश्य अपनी सम्मति का निश्चितरूप से प्रकट कर उपदेश देना नही, प्रत्युत मनोरंजकता और सम्मिलन है।

डा० जोनसन और गोल्डस्मिथ

१६ वी सदी मे ख्यातनामा निबन्धकार चार्ल्स लैम्ब, विलियम हैजलिट, ले हन्ट, स्टिवनसन और लार्ड मेकाले हैं। इनमे लैम्ब सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि आपकी रचना मे ताजगी और हरापन के अतिरिक्त व्यक्तित्व पाया जाता है। आप एक पूरे कला-कोविद और अति चतुर लेखक हैं। आपकी अत्युत्तम रचना 'ईलिया'-

मे आदि से अन्त तक स्थिर भावना, चिरकालीन चिन्तन, और मनोहारी आत्मश्लाघा का संवाद पाया जाता है। लैम्ब की इस विषय मे पूर्ण निपुणता को प्रकट करने के लिए यहा तक कहा गया है कि निबन्धकला की परिपूर्णता और लैम्ब पर्यायवाचक शब्द हैं। हैजलिट भी कम कलाकार नहीं। वर्णन करने मे आप पूरी सफलता और सजीवता लाने वाले लेखक हुए है। आलोचना मे आप अपने समय के अतुलनीय निबन्धकार थे। मेकाले भी एक प्रसिद्ध आलोचक निबन्ध-लेखक थे। स्टिवनसन अपनी कोटि के एक ही उदाहरण थे।

वर्तमान कालिक निबन्धकार

आधुनिक काल मे लैम्ब के व्यक्तित्व के पास पहुंचने वालों मे पैटर, मैथ्यू आर्नल्ड, जी. के. चैस्टरटन और कार्लाईल अपना विशेष स्थान रखते है। आज अंग्रेज़ी साहित्य मे निबन्ध अपने अन्य अंगों के समान पूर्ण विकास पर है; अतः इस विषय के अनेकों विद्वानों ने नाना प्रकार की शैली से अपनी अपनी विशेपता प्रकट की हैं। वर्तमान काल मे यदि हम बरिवोश्र का नाम छोड़ जाएं तो अपराधी होंगे। आप यद्यपि लैम्ब की अहंभावना, वासनायुत नाडी, सहज मानवता और अपनेपन को सम्भवतः न छू सकें; पर आपकी रचनाओं मे चरमकोटि की सरलता, हास्य और उपहास में वक्रता और गम्भीरता के साथ ही साथ उभरी हुई शब्द रेखाओं और विषयों का चुनाव असाधारण है।

हिन्दी-साहित्य में निबन्ध का स्थान

अन्य भाषाओं के साहित्य की भांति हिन्दीसाहित्य मे भी निबन्ध का स्थान इतना ऊंचा कहा गया है कि जैसे लेखकों

और कवियोंके परखनेकी कसौटी गद्य है वैसे ही गद्य के परखने की कसौटी निबंध बताई गई है। अब देखना यह है कि हिन्दी साहित्य में इस अंगकी महत्ता पहिले पहिल किसने किस कोटि तक समझी, इसका क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ और हिन्दी साहित्यमें निबन्धका अब क्या स्थान है।

हिन्दी साहित्य में निबन्धका अभाव और उसके कारण

उपर्युक्त तीनों बातों का विवेचन करने से पूर्व यह अग जिसकी शाखा है उसकी; अर्थात् साहित्य की मूलावस्था पर भी थोडा विचार कर लेना सुसंगत होगा। संस्कृत की नाई हिन्दी मे भी साहित्य शब्द के लिये बडी भ्रान्ति रही। साहित्य शब्द आजकल के अंगरेजी के शब्द Literature के अर्थ मे अब थोड़े समय से प्रयुक्त होने लगा है, अन्यथा साहित्य शब्द कविता या काव्य का समानार्थक ही चला आया है। पहिले साहित्य शब्द से यदि बहुत विस्तृत अर्थ लिया जाता था तो कविता के साथ नाटक भी ले लिया जाता था। कहने का अभिप्राय यह है कि पहिले साहित्य से क्योंकि काव्य और नाटक ही अभिप्रेत होते थे, अतः इन्ही अंगों को कवियों तथा लेखकों ने चरमसीमा तक पहुंचाया। यद्यपि कादम्बरी, हर्षचरित आदि कहानियों के भी कई ग्रंथ मिलते हैं, पर उन पर तत्कालीन लेखकों का बहुत अधिक ध्यान नही गया और निबंध का आधुनिक रूप तो संस्कृत साहित्य मे कही भी नहीं मिलता; अतः यह मान लेना असत्य की रेतीली भित्तिपर आश्रित होना नही कि साहित्य के निबन्ध आदि अंगों का पहिले अभाव था। यही कारण है कि संस्कृत और हिन्दीके जितने भी बड़े बड़े कोष हैं उनमे से किसी मे भी प्रबन्ध, प्रस्ताव, निबन्ध और सन्दर्भ के अर्थ मे इसके अस्तित्व पर कुछ प्रकाश नहीं डाला गया। अंगरेजों के यहा आने पर उन

की नई भाषा तथा विकसित साहित्य से ज्यों ज्यों भारतीय परिचित होते गए, त्यों त्यों उन्हें अपने साहित्य में कई न्यूनताएं दिखाई देने लगीं। अंग्रेजों के आने से पूर्व जब अभी हिन्दीगद्य का रूप ही स्थिर नहीं हुआ था तब गद्य की कसौटी-निबन्ध की विद्यमानता की कल्पना तो ऐसी है जैसे पिता से पूर्व पुत्र के हो जाने की कल्पना।

हिन्दी के प्राचीनगद्य पर एक दृष्टि।

यह ठीक है कि अंगरेजों से पूर्व हिंदी का गद्य वर्तमान था; पर कुछ तो छापाखाना आदि के अभाव से और कुछ उसे साहित्यिकरूप न मिलने से उसका प्रसार न हो सका था। अंगरेज़ों के यहां आनेपर उन्होंने यहां वालों से मिलकर काम करने के लिये गद्य का कुछ रूप निर्धारित करने के हेतु फोर्टविलियम-कालेज कलकत्ता के प्रोफ़ैसर लल्लूलाल तथा सदलमिश्र द्वारा यह काम प्रारंभ करवाया। इधर स्वतन्त्ररूप से मुंशी सदासुखलाल और ईंशा अल्लाखां स्वान्तःसुखाय हिंदीगद्य लिख रहे थे। हिंदीगद्यका यह रूप राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के क्रमशः फारसी अरबीमिश्रित और फ़ारसी आदि शब्दों के से रहित शुद्ध हिंदी की दलदल मे फँसा हुआ था। उसी समय बाबू हरिश्चन्द्र मैदान मे आए। उन्होंने इस दलदल मे न फंसकर दोनों के बीचका तीसरा मार्ग निकाला। अर्थात् हिंदी गद्य को परिमार्जित कर के उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छरूप देकर हिंदीगद्यका रूप तत्कालीन लेखकमंडल के लिए स्थिर बना दिया। गद्य का रूप स्थिर हो जाने पर आवश्यक था कि बाबू हरिश्चन्द्र जैसे सूक्ष्मबुद्धि और सर्व-विषय-वेत्ताकी दृष्टि काव्य के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगोंपर पडती और हुआ भी वैसा ही।

बाबू हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा का रूप स्थिर करने मे ही न पड़ा, प्रत्युत साहित्य पर भी उनका गहरा रंग

चढ़ा। उन्होंने शिक्षित जनता के साहचर्य में
ध की महत्ता लाने के लिए साहित्य की नवीन माग यह
ी में पहले- दिखाया कि हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो
ऽ परखने का विच्छेद पड़ा हुआ था उसे दूर करने के लिए
किसे मिला? साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त किया।
देशहित और समाजहित जैसी नई उमंगों के लिए
होंने 'कविवचनसुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' आदि पत्रिकाओं से
ब को आकर्षित कर लिया। इनके देखते देखते फिर अनेकों
त्र-पत्रिकाएं हिन्दी जगत् मे उत्पन्न हो गईं और लेखकों का
क खासा अच्छा मंडल बन गया। उन्होंने जब देखा कि एक तो
हिन्दी की अभिनयशालाओं का अभाव है और दूसरे नाटक
खेलने वाली व्यापारिक कम्पनिया उर्दू के स्थान पर
हिन्दी के नाटक खेलने मे उदासीन है तो हिन्दी प्रेमियों का उत्साह
बनाए रखने के लिए गद्य-लेखन और प्रबन्ध-निर्माण आरम्भ कर
दिया। फल यह हुआ कि हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, ब्राह्मण, आनन्द-कदम्बिनी, हिन्दीप्रदीप आदि पत्रिकाओं मे भिन्न भिन्न विषयों पर बड़े से बड़े निबन्ध लिखे जाने लगे; परन्तु उस समय के लेखक उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता, सम्पादकत्व आदि जहां जिसका जैसा दाव लगता, काम कर लेते। परिणाम यह हुआ कि निबन्ध जैसा महत्वपूर्ण अंग विकसित न हो सका। इसका यह मतलब नही कि निबन्धों का लिखा जाना ही बंद हो गया। जब लेखक साहित्य के अन्य अंगों की रचना से अवकाश पाते तो निबन्ध-रचना भी कर देते थे। इस तरह अंगरेजी निबन्धों के अनुकरण पर भिन्न भिन्न शैलियों मे निबन्ध लिखने का क्रम तो मन्दगति से जारी रहा; पर इस विषय मे पाश्चात्यों जैसी दक्षता प्राप्त करने की सूझ किसी को न हुई।

हिन्दी निबन्ध के क्रमिक विकास को समझाने के लिये निबन्ध तीन कालों मे विभक्त किया जाता है—

हिन्दी निबन्ध का क्रमिक विकास

हरिश्चन्द्रकाल, महावीर प्रसाद द्विवेदीकाल और आधुनिककाल। हिदी निबन्ध को इन तीनों कालों अथवा युगों मे विभक्त करने का प्रयास तो आगे भी कई विद्वानों ने किया है; परन्तु हमारा और उनका मतभेद केवल इस बात मे है कि हम हरिश्चन्द्र काल को उनके समान हिन्दी निबन्ध का उत्पत्तिकाल तो मानते है; पर जिस प्रकार विद्वान से विद्वान मनुष्य भी उत्पत्ति के समय से दो वर्ष तक बोल नही सकता और हास्य रुदनादि से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता हुआ मातपिता को आह्लादित करता है, ठीक उसी तरह भारतेंदु के समय मे जितने भी लेखक हुए हैं उन्होंने वास्तव मे अपने गद्यात्मक लेख निबन्ध की महत्ता से अनभिज्ञ होकर लिखे है। यही कारण है कि उनके निबंधों का प्रारम्भ ऐसे वाक्य-विन्यासों हुआ कि जिनका निबन्ध से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता था। यह निरर्थक भूमिका बांधने की शैली सबको बडी प्यारी थी और साथ ही 'लकीर का फ़कीर रहना' अपना प्रभुत्व अलग जमाए हुए था। दूसरा काल द्विवेदी जी का है। इस काल को कई विद्वानों ने निबन्ध का परिष्कृतकाल कहा है, पर हम इसे निबन्ध के पिता-गद्यका-परिष्कृत काल भले ही कह सकते हैं, पर उस समय भी जिस तरह दो तीन वर्ष का एक शिशु अभी शब्दों को ठीक न बोल सकने के कारण 'रोटी' को 'लोती' कहता है ठीक इसी प्रकार हिन्दी जगत को निबन्ध के महत्त्व का ज्ञान होने पर भी अपनी शक्ति के अनुसार भाषा की शुद्धि या परिवर्तन ही अभीष्ट; अतः यह निबंध का शैशवकाल ही था। अब आधुनिक काल जिसे अन्य विद्वान लोग निबन्ध का पूर्ण-

विकास काल कहते हैं और समझते हैं कि अब इसमे विषय और शैली की अनेकरूपता मिलती है, हमारे विचार मे हिन्दी निबन्ध का यह काल अभी विकासकाल नहीं, क्योंकि हिन्दी के आज के निबन्ध भी विद्वानों के सम्पर्क से साहित्यिक विषयों द्वारा गम्भीर तो हो गए है, पर उनमे निन्वध का वास्तविक तत्व—व्यक्तित्व अब तक भी नही के बराबर है।

हरिश्चन्द्रकाल

भारतेदु प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे गद्य का रूप स्थिर कर रहे थे। समाज सुधार की ओर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। उनके निबन्ध विषय की दृष्टि से दो भागों मे बाँटे जा सकते हैं—१. धर्म सम्बन्धी एव धार्मिक रीति-त्यौहार आदि संबधी। २ सामाजिक एवं राजनैतिक।

१. धर्म पर्व और त्योहार पर जैसे—

"हम मूर्तिपूजक है", "श्रुति रहस्य". "भगवत्स्तुति", "होली," "त्योहार" आदि।

२ राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों पर—

"अपव्यय", "मित्रता", "भूकम्प", "खुशी", "इग्लैण्ड और भारतवर्ष", "भारतवर्ष के सुधार के उपाय आदि।"

भारतेंदु ने अपने लेखों मे तात्कालिक समाज तथा धर्म का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। आपकी कविता की भाषा के साथ आपके लेखों की भाषा की तुलना करने पर यद्यपि निबन्धों मे नीरसता, क्लिष्टता और पण्डिताऊपन आगया है। पर फिर भी साहित्यिक सौंदर्य का प्रभाव जहा तहां मिलता है। सब से अधिक विशेषता जो आपके सारे दोषों को छिपा देती है, वह है, आपके स्वभाव के अनुसार व्यङ्ग्य। यही चीज उन्नतावस्था मे 'व्यक्तित्व' को व्यक्त करती है।

प० बालकृष्ण भट्ट

'कवि-वचनसुधा' में भारतेंदु द्वारा आरम्भ किये भावात्मक निबन्धों से प्रेरणा पाकर भट्ट जी ने अपने पत्र 'हिंदी प्रदीप' मे बड़ी विदग्धता से निबंध लिखने का प्रयास किया। आपके प्रस्तावों के विषय भिन्न भिन्न हैं। जैसे आंसू, चन्द्रोदय, कुआर के दस दिन, मानवी सम्पत्ति, ईश्वर भी क्या ठठोल है, मकुआ कौन कौन है? चरित्र-शोधन, परिश्रम, नीयत प्रेम और भक्ति आदि। आपकी गद्य-लेखन शैली संस्कृत प्रधान होने पर भी उर्दू और अंगरेजी शब्दों से मिश्रित है और मुहावरों से चुस्त है। आपके गद्य मे कविता जैसा आनन्द मिलता है। आपने सरल से सरल और गंभीर से गंभीर विषयों पर निबंध लिखे।

प० प्रताप नारायण मिश्र

साहित्यिक लेख लिखने वालों मे सर्व-प्रथम पंडित प्रताप-नारायण जी मिश्र थे। ये भारतेन्दु के समकालीन लेखकों मे से थे। इन्होंने 'ब्राह्मण' मे धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों पर लेख लिखे। बेगार, होली, रिश्वत, देशोन्नति, भारतरोदन, धर्म, गगा जी, बन्दरों की सभा, हाथी चले ही जाते है कुत्ते भौंका ही करते है, देवमन्दिर के प्रति हमारा कर्तव्य, दशहरा, मुहर्रम आदि साधारण असाधारण प्रत्येक प्रकार के विषय पर इन्होंने लिखा। इनकी रचनाओं से इनकी निश्चितता, मन की मौज, स्वदेश-प्रेम, आलस्य, सामाजिक तथा आहारविहार की अनियन्त्रितता और स्वाभाविक विनोद का अच्छा आभास मिलता है। संस्कृत प्रधान शैली के लेखक भट्ट जी और इनमे बड़ा भेद है इनकी शैली भट्ट की शैली के सामने गंवारू, रोचक, शिथिल और अशिष्ट है। इन्होंने आज की हिंदुस्तानी भाषा, अर्थात् फ़ारसी शब्द मिश्रित भाषा का प्रयोग किया। मिश्र जी अपने मन के भावों को स्वाभाविक रूप से कहने मे

अच्छे सफल हुए; अतः इनके लेख जनता को भट्ट जी के लेखों की अपेक्षा अधिक रोचक लगे। इनके निबंधों का संग्रह 'निबंध-नवनीत' बहुत प्रसिद्ध है।

पंडित बदरीनारायण प्रेमघन भी भारतेंदु जी के समकालीन थे। वे वर्णनात्मक प्रबंध लेखक हुए हैं। उन्होंने अपने पत्र "आनन्द-कादम्बिनी" मे सम्पादकीय सरमति मे समीर, काव्यामृत वर्षा, नियमनिर्घोष, विज्ञापन वीर बहूटियां आदि विषय के लेख निकाले। उनके इन लेखों से स्पष्ट है कि उनका ध्यान जितना शैली और भाषा तथा वाक्यों की सुघराई की ओर रहा था उतना विषयवस्तु की ओर नही। उक्त लेखों के शीर्षक इस बात के द्योतक हैं कि प्रेमघन जी रूपकादि अलंकारों के भक्त थे। उनकी शैली भी संस्कृत-प्रधान थी। पर कहीं कहीं उर्दू फ़ारसी के शब्द तथा मुहावरे भी आ जाते थे। कहीं कहीं इनके वाक्य संस्कृत की भांति बहुत लम्बे है, उनमे धारा-प्रवाह टूट गया है। उनकी शैली को वर्णनात्मक इसलिये कहा गया है; क्योंकि उनके वर्षा, वसंत प्रभृति ऋतुओं आदि पर निबंध लिखे निबंधों से अधिक हृदयग्राही है। ये भारतेंदु काल मे कलाकार निबंध-लेखक थे।

प० बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन

भारतेंदु के अभिन्न मित्र ठाकुर जगमोहन सिंह बड़े उच्चकोटि के लेखक माने गये हैं। हिंदी मे वर्णनात्मक शैली के वास्तविक जन्मदाता ठाकुर साहिब ही थे। आपने अपने "श्यामा-स्वप्न" मे प्रकृति की अद्भुत छटा दिखाई है। आपके संस्कृत और अंगरेज़ी साहित्य के परिशीलन का ही यह परिणाम हुआ कि आपने प्राकृतिक दृश्यों के भावपूर्ण और चित्ताकर्षक वर्णन से

ठाकुर जगमोहन सिंह

प्रकृति को सजीव रूप दिया। आपके अनुसार नदी, पहाड़, झरने, वन, उपवन आदि प्रकृति के अंगों को भी मानव-हृदय की भांति हर्ष, शोक, क्रोधादि का अनुभव होता है। आपकी भाषा बड़ी साफ़ सुथरी है और आपके हृद्गत भावों से बड़ा सुंदर सामञ्जस्य रखती है। संस्कृत के तत्समशब्दों की भरमार होने से मुहावरे और उर्दू शब्दों का प्रायः अभाव मिलता है।

हिन्दी निबन्ध का दूसरा काल

भारतेंदु काल की परंपरा को जारी रखते हुए पण्डित माधव प्रसाद मिश्र, 'सुदर्शन' सम्पादक पण्डित गोविंद नारायण मिश्र, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, पं० बालमुकंदगुप्त आदि विद्वान् लेखकों ने हिंदी निबन्ध को श्रीयुत आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के काल तक पहुंचा दिया। हिंदी निबन्ध के आदिकाल और इस मध्य काल में विषयों का कोई विशेप अन्तर नहीं। शैली का भी भेद इसलिये दीखता है, क्योंकि द्विवेदी जी की कृपा से गद्य का अपना ही व्याकरण सम्मत रूप प्रचलित हो गया था। इस मध्यकाल में व्यर्थ की भूमिका आदि का प्रायः लोप हो गया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

विचारात्मक शैली के नेता, हिन्दी गद्य के सुधारक और पाडित्य-प्रदर्शन से अलग रहने वाले आचार्य द्विवेदी जी ने अपने 'सरस्वती' के सम्पादन काल मे साहित्य के सभी अंगों को पूर्ण करते हुए हिन्दी निबन्ध में भी नया जीवन डाल दिया। आपसे पूर्व विचारात्मक शैली में लिखते हुए लेखक अपने पण्डिताऊपन और भाषा की क्लिष्टता से न्यारे नहीं रह सके; पर आपने 'बेकन-विचार रत्नावली' (बेकन के निबंधों का अनुवाद) विचार विमर्श,' 'हिन्दी के प्राचीन कवि और पण्डित', 'साहित्य सीकर,'

'साहित्य संदर्भ,' 'लेखाञ्जली' आदि अनेकों निबन्धात्मक पुस्तकों मे मनोरंजक तथा कुतूहल-वर्धक विषयों के साथ साथ साहित्यिक विषयों मे रुचि उत्पन्न कराने का अच्छा प्रयत्न किया है। आपकी भाषा शुद्ध खडी बोली है वह मनोरंजक है विषयानुसार साधारण चलते शब्दों और मुहाविरों से युक्त है। स्वाभाविक प्रवाह शील और प्रसाद तथा ओज गुण के सामञ्जस्य से वह अधिक निखरी हुई है। ज्यों ही आप साहित्यिक विषयरूपी राजप्रसाद मे अपनी शैली को ले जाते है तो आप उसके व्यङ्ग्यात्मक और हास्यात्मकरूपी बाजारू वेश को उतारकर संस्कृत के तत्सम शब्दों से युक्त राजकीय वेश पहिना देते हैं। पर फिर भी भाषा के सरल और सुंदर रूप को नही छोड़ देते। इस प्रकार आचार्य जी ने हिन्दी गद्य के साथ ही हिंदी निबन्ध को नये मार्ग पर चलाया और भाषा की भांति निबंध को भी अनिश्चित दशा से निकाल कर निश्चित दिशा की ओर प्रेरित किया।

बाबू गोपालराम (गहमरी)

उपन्यास क्षेत्र को छोड कर बाबू गोपालराम (गहमरी) कभी कभी पत्र पत्रिकाओं मे लेख और निबन्ध भी दिया करते थे। आपका "ऋद्धि और सिद्धि" नामक निबन्ध विशेष प्रसिद्ध है; क्योंकि आपने इसे मनोरंजक और चित्रोपम शैली मे लिखा। आप की भाषा चंचल, चटपटी और प्रगल्भ है। अपनी अनुभूत बात को पाठकों के लिये भी वैसी ही विलक्षण और कुतुहल-जनक बनाना आप का ही काम था।

बाबू बालमुकन्द गुप्त

यद्यपि बाबू बालमुकन्द गुप्त जी का नाम-निर्देश हो चुका है, पर आपके "शिव शम्भु का चिठ्ठा" का परिचय कराये बिना नही छोडा जा सकता। गुप्त जी उर्दू से हिन्दी मे आये और साथ ही अपनी हास्य

और व्यङ्ग्यात्मक रुचि को ज्यों की त्यों ही लेते आए। आपने अपने इस निबन्ध; अपितु निबंध-समूह में तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। आपकी भाषा मे बहुत से शब्द और वाक्य उर्दू के हैं, पर उनका झुकाव हिन्दी की ओर है। आपने यथासंभव छोटे छोटे वाक्यों मे व्यङ्ग्य का अच्छा पुट दिया है।

मिश्रबन्धु

निबन्धात्मक लेखों मे मिश्रबन्धुओं को बड़ी सफलता मिली है। राय बहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र ऐम. ए., दीवान ओछरा राज्य राय बहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र बी. ए., दीवान छतरपुर तथा श्रीयुत पं० गणेश बिहारी मिश्र ने पर्याप्त समय हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के हित-चिंतन मे लगाया है। मिश्रबन्धुओं की संयुक्त रचनाएं "मिश्रबन्धु विनोद" तथा "हिंदी नवरत्न" आदि पुस्तकरूप मे प्रसिद्ध हैं। संकलन रूप के अतिरिक्त इनके कई फुटकल लेख भी निबंध रूप मे मिलते हैं। यद्यपि इन की रचनाओं मे बुद्धि को उत्कृष्ट मार्ग पर लाने वाली उत्तेजना का अभाव है; पर उनमे एक अच्छे शिक्षक की भांति शिक्षक पद्धति के अनुसार उपयुक्त शैली मे विचारात्मक भाव अवश्य पाए जाते हैं।

पूर्णसिंह

कला के दो रूप है—आकर्षण और उपयोगिता। अध्यापक पूर्णसिंह जी ने उपयोगिता को मानव जीवन से सम्बंधित करते हुए भाषा गाम्भीर्य के साथ आधुनिक विचारों से उद्दीप्त नवीन भाव भंगी से भाषा को नवीन गति देने वाले निबंध लिखे। नयनों की गंगा, आचरण की सभ्यता, प्रेम और मजदूरी, सच्ची वीरता आदि

नवंधों मे आपने उर्दू के चलते शब्दों को भी प्रयुक्त किया है। छोटे छोटे वाक्यों द्वारा वर्ण्य विषय की सजीव मूर्ति सी उपस्थित कर देने मे आप सिद्धहस्त थे। आपके निबंध कला के उत्कृष्ट रूप हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास

बनारस हिंदू युनिवर्सिटी के हिंदी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्यामसुंदरदास जी का भाषा विषयक लेख लिखने मे परिश्रम बडा प्रशंसनीय है। आपने यद्यपि भारतीय साहित्य की विशेषता, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, हिंदीभाषा का विकास, कुरूपता आदि अनेकों विचारात्मक लेख लिखे हैं; परन्तु वास्तव मे आपका क्षेत्र भाषा-विज्ञान और साहित्य-समालोचना रहा है। आपकी भाषा मे यह विशेषता है कि आप अंगरेजी उर्दू मिश्रित खिचडी नहीं पकाते; अपितु शुद्ध संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग करते है। मुहाविरों के अभाव मे भी आपकी वाक्यरचना मे स्पष्टता और स्वाभाविकता का प्रवाह है। आपके विषय जटिल होते है; अतएव आपके निबंधों मे साधारण पाठकों के मनोरंजन की सामग्री का अभाव होता है। पर इसका यह तात्पर्य नही कि आपकी भाषा का भावों से सामंजस्य नही। आपने अपनी तार्किकशैली मे भी भाषा की सरलता, सुबोधता और व्यवहारिकता की ओर पूर्ण ध्यान रखा है।

प० रामचन्द्र शुक्ल

स्वर्गीय शुक्ल जी काशी विश्वविद्यालय के हिंदी अध्यापक थे। ये हिंदी के चुने हुए निबंधकारों मे उच्चकोटि के निबंध लेखक थे। इनके लेख गम्भीर तथा विद्वत्तापूर्ण है। इन्होंने सूर, तुलसी और जायसी पर आलोचना लिखने के अतिरिक्त अनेकों अन्य निबंध भी लिखे हैं। जिनका संग्रह 'विचारवीथि' और

चिंतामणि नामक दो प्रसिद्ध ग्रन्थों मे हुआ है। इन्होंने विचारात्मक निबंधों के लिखने में बड़ा उत्कर्ष दिखाया है। इनके निबंधों में व्यक्तित्व का अच्छा पुट है, यही कारण है कि इनकी रचनाएँ रुचिकर और प्रभावशाली हैं। आप ऐसे लेखकों में से थे जो बुद्धि के साथ हृदय का बराबर समन्वय करते रहते हैं और इसीलिए अपने आप को प्रकट करने मे समर्थ होते हैं। आपकी भाषा मे न केवल संस्कृत तत्सम शब्द हैं; अपितु उर्दू के तत्सम शब्द और कुछ अंगरेज़ी के भी शब्द आ गए हैं। पर वे ऐसी विद्वत्ता से आपने प्रयुक्त किये हैं कि उनके विना भाषा में लोच और बल अशक्य था। आपने भाषा की व्यवहारिकता पर अधिक ध्यान रखते हुए भी भाषा को विदेशीपन से सुरक्षित रखा है।

प० भीमसेन जी

महर्षि दयानन्द के सहायक पं० भीमसेन शर्मा ने धर्म-सम्बंधी ग्रन्थों के अतिरिक्त धार्मिक विषयों पर कई लेख लिखे थे। वे लेख 'आर्य सिद्धांत' मे सम्पादकीय लेखों के रूप मे छपते थे। इनकी भाषा प्रौढ़-और संस्कृतमयी है। ये अंगरेजी और अरबी फ़ारसी के शब्दों को संस्कृत मे परिणत करके प्रयुक्त करने पर बहुत बल देते थे। जैसे—चश्मा का चक्षमा।

प० पद्मसिंह शर्मा

यदि पण्डित पद्मसिंह को एक ओजस्वी लेखक कहा जाए तो अनुचित नही होगा। आपने आलोचनात्मक और साहित्यिक विपयो के अतिरिक्त फुटकल लेख भी लिखे। 'पद्मपराग' आपके निवन्धों का प्रसिद्ध संग्रह है। आपकी भापा मे हिन्दी, उर्दू, फारसी और अंगरेजी सभी भाषाओं की छाप है। आप प्रचलित मुहाविरो के वहुत शौकीन थे। दोप इतना है कि आलोचना करते हुए व्यक्तिगत आलोचना करने में भी आप नहीं पिछड़ते थे। जिस विपय पर

लिखते थे उसे अपनी ओजस्विनी लेखनी से सजीव कर देते थे। आपके लेखो मे निबन्ध का यह लक्षण 'विशृङ्खलित मनस्तरंग, पूरी तरह से चरितार्थ है। आपके निबन्धो मे हास्य और व्यङ्ग्य कूट कूट कर भरे है। आपके 'वर्कर की मै मै' नामक लेख मे से निम्न उद्धृत अंश से किस सचाई से आपने हास्य और व्यङ्ग्य के पुट द्वारा अपने व्यक्तित्व की स्फुरणा की है। आपकी वाक्य-रचना में प्रवाह कैसा स्वाभाविक तथा साधारण-जन-मनरंजक है। ऐसा लिखने से मेरा यह अभिप्राय नही कि आपकी व्यक्तिगत आलोचना आदि सभी प्रवृत्ति अनुकरणीय हैं; पर आपकी शैली साधारण जनता के लिए बड़ी आकर्षक है। उदाहरण देखिए--

"एक तरह के लोग वे भी है जो सिर्फ नाम के लिये काम करते है। किसी न किसी बहाने अपने नाम को पब्लिक नोटिस में लाना ही जिनका मुख्य उद्देश्य है। जिस काम मे सबसे पहले उनके श्री नाम की पुकार नही मचती--फिर वह काम चाहे जैसा क्यो न हो, उसे किसी काम का नही समझते। उनके नाम का 'पारस' जिस काम के साथ है वह लोहा भी सोना है। उनकी यशश्चन्द्रिका का संचार जहां पर है, वह स्याह अंधेरा भी सफेद चांदनी से बढ़ कर है। संसार भर के अच्छे कामो का क्रेडिट वे अपनी ही पाकेट मे डालना चाहते है। ऐसे वर्कर कहलाने की लै जब हद से बढ़ जाती है, तब बुरे भले की सब तामीज़ उठा दी जाती है। उस समय वे अपना लोकापवाद भी यह कह कर टाल देते है कि--"यह तो काम करने वालो के भूषण है, काम करने वालो पर लांछन लगा ही करते है।" जब यह नौबत यहां तक पहुंच जाती है, तो फिर खुले बन्दो खुल खेलते है। ऐसे

वर्करों के नाम के नोटिस की ख्वाहिश उन्हें यह सुनने का मौका नहीं देती 'अफ़ आते-मुज़िर से कुछ न करना अच्छा ।' आदि । 'विशाल भारत नवम्बर १९३२

गणेश शङ्कर विद्यार्थी विद्यार्थी जी की लेखनी बहुत तीव्र थी । उनका 'महाराणा प्रताप' हिंदी मे अत्युत्कृष्ट निन्वध है ।

आजकल हास्यविनोदात्मक लेखकों मे 'विशाल भारत' के भूतपूर्व सम्पादक पंडित जगन्नाथ प्रसाद

प० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी चतुर्वेदी भी इस क्षेत्र में किसी से पीछे नहीं । आप अपनी तार्किकता से एक व्याख्याता की नांईं पाठकों को घुमाव फेर की अस्पष्ट बात भी पूरी तरह समझा देते हैं । ऐसी भाषा मे उर्दू आदि अन्य भाषाओं के चलते शब्द और मुहाविरो का प्रयोग स्वाभाविक ही है । 'हम क्या करें' आपका विनोदात्मक निवन्ध है ।

स्वर्गीय पं० चन्द्रधर गुलेरी संस्कृत के विद्वान् थे । उन्होने 'समालोचक' का संपादन करते हुए बड़ी

प० चन्द्रधर गुलेरी मार्मिकता और विनोदपूर्णता से गंभीर शास्त्रीय विषयो को सहज सुलभ वनाने में सिद्धहस्तता प्रकट की । आपने व्याकरण जैसे शुष्क विपय के लेख भी हास्य की अभिव्यंजना से ऐसे सरस और आकर्पक वना दिए थे कि पढ़ते ही वनता है । आपकी भापा सुधरी हुई और चमत्कारपूर्ण है ।

गुलावराय जी विचारात्मक निवन्ध लिखने वाले लेखकों मे है । आपने दार्शनिक विपयों पर

गुलावराय भी निवन्ध लिखे है । इनके "निराशा क्यों" मे कई विपयो पर वहुत छोटे छोटे आभास पूर्ण निवन्ध है । इनकी शैली मे संस्कृत और अंगरेजी का

मिश्रण तथा चलते मुहाविरो और उर्दू शब्दों का सहयोग है।

वियोगी हरि

श्रीयुत वियोगीहरि ब्रज भाषा के आधुनिक काल के एक मात्र कवि हैं। साथ ही साथ जब अपनी कविता के प्रेम प्रवाह से समय पाते हैं तो निबन्ध भी लिख छोड़ते है। आपकी भाषा बड़ी चलती, मुहावरेदार, कहीं कहीं ब्रजमय, व्यङ्गयात्मक और भावपूर्ण है। आपके निबन्ध प्राय: ऐसे प्रतीत होते है, जैसे आप पाठकों से बातचीत कर रहे हो। गीता जैसे गूढ़ विषय को 'भक्तियोग' मे आपने अपनी माधुरी भरी भाषा से इतना सरल बना दिया है कि साधारण मनुष्य भी शीघ्र समझ जाता है। पर आपका काव्यात्मक गद्य लम्बे लम्बे वाक्यो और समस्त पदो से क्लिष्ट हो गया है।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

आधुनिक विचारात्मक निबन्ध लिखने मे बख्शी पदुमलाल पुन्नालाल दर्शन एवं इतिहास के अतिरिक्त आध्यात्मिक और आलोचनात्मक विषयो में भी सिद्धहस्त माने गए हैं। आपके निबन्धो का संग्रह 'हिन्दी साहित्य विमर्श' और 'पंचपात्र' मे हुआ है। आपकी भाषा पर उर्दू शब्दो और मुहाविरो की छाप है, पर शैली आपकी संस्कृत प्रधान है। आपकी रचनाओं से प्रतीत होता है कि आपने वर्षों सस्कृत और अंगरेजी साहित्य का अध्ययन तथा मनन किया है।

जयशकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद कामायनी काव्य और चन्द्रगुप्त आदि नाटक लिखकर अमर हो गए है, पर कभी कभी आप निबन्ध भी लिखते थे। काव्य और कला मे उनका सगूह हुआ है।

कवि होने पर भी पं० सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' कभी

प० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

कभी निबंध लिख लिया करते हैं। आपके निबंधों के संग्रह 'प्रबंध-पद्म' और प्रबंध-प्रतिमा' हैं। कवि होने के कारण आपकी भाषा पर कवित्वपूर्ण ललितशैली की अस्पष्टता किसी समय इतनी बढ़ जाती है कि वह दुरूहता मे परिवर्तित हो जाती है। आपने भाषा से अधिक भावों की ओर ध्यान दिया है; पर भाव भाषा की अस्पष्टता रूप बादलों से तिरोहित हो जाते हैं। अपनी ओर से भाषा की व्यवहारिकता के लिये आपने उर्दू शब्दों और मुहावरों के प्रयोग के साथ साथ कही कहीं हास्य और व्यङ्गय का पुट भी दिया है; पर आपकी रचना जन-साधारण की वस्तु नही बन सकी; गंभीर साहित्यिकों की ही वस्तु बनी है।

शान्ति प्रिय द्विवेदी

पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भावात्मक तथा विचारात्मक विषय पर अच्छी सफलता प्राप्त की है। आपके बहुत से निबंध जीवन यात्रा, साहित्यिकी, संचारिणी और हमारे साहित्यके निर्माता मे एकत्रित किए गए है; पर इनके अतिरिक्त पत्र पत्रिकाओं मे भी इनके लेख निकला करते है। आपकी शैली तो वैसे बड़ी स्वाभाविक गतिशील, हास्यविनोद तथा व्यङ्गयात्मक है; पर आपके वाक्य बड़े लम्बे लम्बे हो जाते हैं और पुनरावृत्ति भी आ जाती है। फिर भी आप जो कुछ लिखते हैं वह अपने अध्ययन और अध्यवसाय के बाद निश्चित सिद्धान्त स्वरूप लिखते हैं। पर आपके निबंध लघुगीत (लिरिक) की भाति स्वच्छ प्रवाहमय और तरल होते हैं। उनमे भाव-दुरूहता भले ही हो भाषा-दुरूहता नहीं होती।

आज के कतिपय प्रसिद्ध निबंध लेखकों के नाम इस प्रकार हैं—बनारसीदास चतुर्वेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, रूपनारायण

पांडेय, रामचन्द्र वर्मा, पीतांबर दत्त, इलाचन्द्र जोशी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, चन्द्रगुप्त, माधवराव सप्रे, रमाशंकर प्रसाद, रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर,' सोमनाथ गुप्त ऐम्० ए. सुधाकर ऐम्० ए०, विश्वबंधु, ऐम्० ए०, आदि।

निबन्ध के अन्य लेखक

बहुत से निबंध लेखक हमारे अज्ञान से रह गए होंगे, अतः उनसे क्षमाप्रार्थी होते हुए पाठकों को हम यह अवश्य सूचित करेंगे कि हिंदी के निबंध लेखकों में कवि-सम्राट् श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय (जिनका संग्रह 'बंकिम निबंधावली है.), महात्मागांधी, श्री काका कालेलकर और राय बहादुर काली प्रसन्न घोष सी० आई० ई० को छोड़ देना कृतघ्नता होगी क्योंकि उपर्युक्त महानुभावों के लेख समय समय पर यथास्थान हिंदी में अनुवादित हुए।

इधर पंजाब निःसंदेह हिंदी-साहित्य-सेवा में किसी समय बहुत पिछड़ा हुआ था, पर अब अपनी स्वाभाविक वीरता से इस दौड़ में भी साथ रहने को प्रयत्नशील हो रहा है। पंजाब यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष और ओरियेण्टल कालिज के प्रिंसिपल श्रीयुत डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप जी ऐम्. ए, डी. लिट, डी. फिल ने (जब आप अभी इंग्लैण्ड में थे तभी) सरस्वती आदि पत्रिकाओं में कभी लण्डन और कभी बर्लिन पर और कभी उनकी सुहावनी ऋतुओं पर और कभी उनके रमणीय दृश्यों पर बड़ी मनोरंजक शैली से निबंध लिखे। कई वर्षों से श्रीयुत डाक्टर बनारसीदास जी जैन ऐम्. ए, पी ऐच डी. हिंदी अध्यापक पंजाब यूनिवर्सिटी भाषा और भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त जैनधर्म प्रचारार्थ जैन पत्र-पत्रिकाओं में धार्मिक विषयों पर उर्दू मिश्रित शैली में बड़ी सरल रीति से हिंदी निबंध लिख रहे हैं। डा० सूर्यकान्त ऐम ए, डी. लिट, डी. फिल

ने 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' बडी विवेचनात्मक शैली से लिखा है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ बड़ी गवेषणा पूर्वक लिखे हैं, और भी वे लिख रहे हैं। डा० गौरीशंकर ऐम ए. संस्कृत प्रोफैसर गवर्नमैण्ट कालिज लाहौर अपने हिंदी निबंध रावी मे ही प्रकाशित करने से संतुष्ट न हुए प्रत्युत रेडियो स्टेशन पर निबंध पर बोलते रहे हैं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कहानी, उपन्यास तथा नाटक से कुछ समय बचाकर 'विशाल भारत' आदि पत्रों में विभिन्न विषयों पर हिंदी लेख लिखते आए हैं। डाक्टर कैलाशनाथ भटनागर ऐम० ए०, पी ऐच डी. हिंदी जागृति के लिए यूनिवर्सिटी तथा डिपार्टमैण्ट की क्रम-गणना-पूर्वक हिंदी मिलापादि में लेख लिखते रहे हैं। श्रीयुत खुशहालचन्द जी आनन्द (खुर्सन्द) दैनिक हिंदी मिलाप के स्वामी कभी कभी अपने सम्पादकीय नोट मे समाज तथा देश हितार्थ अपील के रूप में साधारण जनमन खींचते रहते है। श्री युत संतराम जी बी ए. 'क्रांति' मे अनुवादात्मक तथा जीवन और यात्रादि विषयक निबंध लिखते हुए सचमुच हिंदी जगत् मे क्रांति ही का संदेश दे रहे हैं। इधर श्रीयुत गोपालचन्द्र देव अन्यान्य विषयों पर बडी योग्यता से निबंध लिखते रहते है। निबंध-कुसुमावली मे ही इनके १२ निबंध निबंध कला का उत्कृष्ट नमूना हैं। 'आनंद की ओर' तो एक ही सांस में पढ़ने की वस्तु है। इनकी 'निबंध-कौमुदी' नामक पुस्तक बहुत ही प्रसिद्ध हुई है।

निबन्ध का हिन्दी साहित्य में वर्तमान स्थान

निबंध-लेखन-कला-पर यह निबंध अधूरा ही रहेगा यदि यह न बताया जाय कि हिंदी जगत् मे निबंध का आज क्या स्थान है। हिंदी मे निबंध का उपोद्घात अंगरेज़ी साहित्य से हुआ है; अत. उसके साथ तुलना करने से ही हम निबंध का हिंदी साहित्य मे 'आज क्या स्थान है' इसका निश्चय कर सकते हैं।

अंग्रेज़ी में निबंध को आज ललित-साहित्य के अन्य अंगों के साथ बराबर का दर्जा मिला हुआ है। कविता, नाटक और उपन्यास आदि की भांति इसे भी ललित-साहित्य के अंतर्गत लिया जाता है! पर हिंदी मे निबध को अभी वह पद नही मिला। भारतेंदुकाल मे हिंदी निबध व्यर्थ की भूमिका आदि की शैली से घिरा रहा। द्विवेदीकाल मे अनुवाद ही अधिक हुए। जो कुछ मौलिक निबध लिखे भी गए वे भी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के कारण स्वाभाविक प्रवाह मय न बन पाये। बंगाल मे रवीन्द्र नाथ के उदय होने पर हिंदी मे भी उनके प्रभाव से आध्यात्मिकता का प्रवाह आया। इधर रामचंद्रशुक्ल और श्यामसुंदर दास के निबंधों से हिंदी ने साहित्य-समालोचना का मुँह देखा; पर विषयों की वह विविधता और शैली की वह तरलता हिंदी निबध में अभी तक नही आ पाई जो अंग्रेजी मे है। आशा है नवीन लेखक इधर ध्यान देकर निबंध को ललित साहित्य के रूप मे रचेंगे।

निबन्ध लिखना वड़ा कठिन है

निबन्ध के तत्वज्ञान और हिन्दी साहित्य मे इसके स्थान की विवेचना के अनन्तर निवन्धों के प्रकार तथा उनकी लेखन-शैली बतलानी अत्यावश्यक है। पर इससे पूर्व हम अपने पाठकों विशेषतया विद्यार्थियों और उनमे भी नवशिक्षितों को सूचित कर देना चाहते है कि निबन्ध-कला का ज्ञान प्राप्त करना गणितशास्त्र का अध्ययन नहीं कि एकबार परिश्रम करके तथा दत्तचित होकर कुछ नियमों को समझ लेने तथा स्मरण कर लेने से विद्यार्थी उस तरह के प्रश्नों को ठीक ठीक स्वयमेव कर लेंगे। इस कला मे तो किसी विषय का निवन्ध आप किसी विद्वान् का लिखा हुआ पढ कर भी यदि आपने लिखने मे कभी अभ्यास नहीं किया तो लिखने मे असमर्थ रहेंगे। निवन्ध लिखना

बड़ा कठिन है—ऐसा कहने से हमारा अभिप्राय आपको निरुत्साहित करके इस ओर से निवृत्त कराना नही; पर एक मार्ग दर्शक की भांति आपको सचेत करना हमारा कर्तव्य अवश्य है।

निबन्ध लिखने में कठिनाइया और उनके निवारण के उपाय।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति रोकर या इशारे से बताकर लिख कर या बोलकर अपने विचार प्रकट करना जन्म-सिद्ध अधिकार है। बोलने और लिखने मे कुशलता प्राप्त करके कई लोग बड़े अच्छे व्याख्याता बन जाते है और कई प्रबल लेखक; पर सामान्य विद्यार्थियों मे ये दोनों बातें नहीं होती हैं। उनकी जिह्वा रुकती है, कलम झिझकती है, यहां तक कि वे आरंभ मे कुछ कहने तथा लिखने मे असमर्थ हो जाते हैं। उनके विचार इतने संकुचित होते हैं कि कहने की इच्छा होने पर भी वे अपने भावों को प्रकट करने मे असमर्थ हो जाते हैं; क्योंकि एक तो उनसे सुसंगठित वाक्य-रचना नहीं होती दूसरे उनका शब्द-कोप तथा भाव-कोप बड़ी शीघ्रता से खाली हो जाता है। इस दुरवस्था को हटाने के लिए यदि कोई एक मात्र उपाय है तो वह है अभ्यास और केवल अभ्यास।

सीधे मार्ग का अभ्यास

अभ्यास से हमारा यह मतलब नहीं कि आप एक प्रस्ताव नित्य लिखें। आपका अभ्यास सीधे मार्ग पर होना चाहिए। जैसे कोई बालक सुन्दर लेख लिखते हुए जब तक कलम को ठीक प्रकार से पकड़ना न जाने; वह कभी सुन्दरता से नहीं लिख सकता उसी प्रकार आप यदि नित्य प्रति लिखते रहें और लेखन-शैली तथा आवश्यक बातों से अनभिज्ञ हों तो आपका नित्य प्रति का अभ्यास जंगल मे रोना है। कोई प्रस्ताव हो उसे लिखने से

पूर्व आरंभ मे एक दो दिन लग जाएँ तो कोई बात नही—उस विषय को हर समय स्मरण रख कर विचार करें कि अमुक विषय का पूरा मतलब क्या है और उसको प्रकट करने के लिये आपने क्या साधन जुटाए हैं ? जब आप उस विषय पर विचार स्थिर कर ले तो फिर पुस्तकालय आदि मे जाकर प्रयत्न करे, उस विषय पर किसी विद्वान् ने लिखा हो तो उसे पढ़ कर अपने विचारों के साथ उनका मिलान करे। इसके बाद आप एक सादा ढांचा (Rough Sketch) बनाएँ और उस ढांचे पर पुनः विचार सुश्रृंखलित करके लिखने का प्रयास करे। आप लिखते हुए यदि स्वयं प्रसन्न हों तो समझिए कि आपका परिश्रम सफल हो रहा है। यदि लिख लिख कर बार बार काटना पड़े तो जानिए कि वह विषय अभी आपके मस्तिष्क मे ठीक तरह से बुद्धिगम्य नहीं हुआ। ऐसी दशा मे लिखना बंद करके फिर से ढांचा स्थिर कर लिखने का प्रयास करे। इस प्रकार यदि आपको पहिले पहल एक प्रस्ताव लिखते हुए एक सप्ताह या दस दिन लग जाएं, कोई बात नही; परन्तु किसी पुस्तक या मित्र की कापी से लेख का विषय चुराने या नकल करने से आप अपने शिक्षक या परीक्षक को नहीं छल सकते। प्रस्ताव का विषय चाहे कोई हो; पर यह देख ले कि आप अपने भावों को बड़ी सरलता, वक्रता, उमंग, स्पष्टता, ओजस्विता, मधुरता और उचितता से प्रकट करे। निबंध, लिखने से पूर्व हृदय को सन्नद्ध करना नितान्त आवश्यक है। पहले लिखने की रुचि और उमंग पैदा करें, तब लिखने बैठे और प्रस्तोतव्य विषय पर रूढ़िवाद की नकल किये बिना झरने की भांति उछलती हुई भाषा मे लिखे।

निबन्ध लिखने में उपर्युक्त सरलता आदि गुण ही ध्यान रखने योग्य बातें हैं। सरलता से हमारा तात्पर्य न तो

निबन्ध लिखने में ध्यान देने योग्य बात

भाषा के ढीलेपन से है और न ही सर्वसामान्य की बोलचाल की भाषा से है; क्योंकि भाषा के ढीलेपन से नीरसता आ जाती है और सर्वसाधारण की बोलचाल की भापा प्राय. अव्यवस्थित होती है। सरलता का यह अभिप्राय है भाषा बड़े बड़े शब्दों तथा लम्बे लम्बे सामासिक वाक्यों से रहित सुव्यवस्थित तथा सहज बोध्य हो। सहजबोध्य होने से स्पष्टता स्वयमेव आ जाती है। लेख मे ओजस्विता तभी आती है जब लेखक व्यर्थ की भूमिका न बांध कर सीधा विषय पर संक्षेप मे अपने भाव जताए। भाषा मे मधुरता लाने के लिए विचारों मे तथा उनके प्रकट करने मे आडम्बर रहितता होनी चाहिए। उचितता का अभिप्राय यह है कि विषयानुसार ही भाषा लिखी जाय। अर्थात् वीररस के द्योतन मे यदि ऐसे शब्दों से रचना की जाए, जिनसे शान्ति मिले तो वह भाषा का अनौचित्य कहाएगा। ये सभी गुण तभी आ सकते हैं यदि लेखक रुचि से, समझ बूझ से तथा अनुकूल मार्ग से अभ्यास करता रहे।

लेखनकला का अभ्यास और उन्नत चरित्र से संबंध

यह ठीक है कि अन्य कलाओं की भांति लेखनकला भी जन्म-जात गुण के रूप मे होती है, पर कविता, संगीत आदि कलाओं की तुलना मे लेखनकला परिश्रम ससाध्य है। किसी मे कविता का स्वाभाविक माद्दा न हो तो वह यत्न करके भी कवि नहीं बन सकता, पर स्वाभाविक माद्दा न होने पर भी अभ्यास करता हुआ एक सामान्य लेखक भी अच्छा निबंध लेखक बन सकता है। जिस प्रकार बड़े बड़े आदमियों का संसर्ग जागृति की ओर खीच कर दूसरे के चरित्र और व्यक्तित्व

को ऊचा बना देता है उसी प्रकार लेखन कला चरित्र से घनिष्ठ मम्बन्ध रखती है । उस लेख का उद्देश्य पूरा नही होता जिसमे लिखने वाले का चरित्र नहीं झलकता। अतः जब तक किसी लेखक का चरित्र अच्छा न हो उसे लिखना नही चाहिए। अपने चरित्र को उन्नत करने के लिए सदा चरित्रवान पुरुषों के साथ रहे और चरित्रवान् पुरुषों की पुस्तके पढ़े। अधम संगति निश्चय ही अवनति की ओर ले जाती है। अत. लेखन बनने के लिए चरित्र को उन्नत बनाना बडा आवश्यक है।

निवन्ध के प्रकार तथा उनकी लेखन-शैली

यह कहना वास्तव मे बडा दुष्कर है कि निबन्ध कितने प्रकार के हैं। ये लेखक के विचार, काल, समाज और शैली पर निर्भर हैं; पर हिन्दी साहित्य मे आजतक जितने प्रकार के निबन्ध लिखे गए हैं उन्हे हम पांच भेदों मे विभक्त कर सकते हैं। वर्णनात्मक (Descriptive)। ऐतिहासिक (Historical)। विचारात्मक (Reflective)। गुणात्मक (Virtuous)। और भावात्मक (Emotional)।

वर्णनात्मक निवन्ध इस प्रकार लिखने चाहिएँ कि यदि पाठकों ने उस वस्तु, घटना, नगरादि को देखा न हो तो उनका सजीव चित्र आखों के आगे आजाए और वे अनुभव करने लगे कि मानो उन्होंने अपनी आंखों से देखा है। ऐसे ही निबन्ध सफल होते है। इसके लिए लेखक को वडा सूक्ष्मद्रष्टा होना चाहिए; क्योंकि सामान्य व्यक्ति अपनी आंखो के आगे विद्यमान साधारण सी वस्तुओं को देखने मे असमर्थ होता है और असाधारण वस्तु को वह शीघ्र देख पाता है। ऐसे निबन्धों मे घटना आदि का ब्योरामात्र बताना अभीष्ट नहीं; प्रत्युत उस ब्योरे को लेखक अपनी कल्पना का सहयोग देकर ऐसा मनोरंजक

तथा आकर्षक बनाए कि जैसे अदृष्ट-पूर्व पदार्थ देखने मे आकर्षक होते हैं।

ऐतिहासिक निबन्ध के आरंभ मे व्यक्ति की जीवनी, घटना, आविष्कार, सभा आदि का क्रमिक तथा पूर्ण उल्लेख होता है। इसमे कल्पना का पुट कम और वास्तविकता का रंग गहरा दिया जाता है। इसमे संस्मरणात्मकता अर्थात् विख्यात पुरुषों के कामों को स्मरण करते हुए बड़े आकर्षक ढंग से बताना भी सम्मिलित हो जाता है। इसका इतिहास के साथ भेद इतना है कि इतिहास मे जीवन की मुख्य बाते जो कि प्रायः प्रसिद्ध हो जाती है बतलाई जाती हैं; पर ऐतिहासिक निबन्ध मे सूर की कविता के समान कृष्ण के बाल्यवर्णन मे कृष्ण की, उसके माता पिता तथा तत्कालीन गोप गोपियों के अतिरिक्त कृष्ण-भक्तों के मानसिक विचारों पर भी प्रकाश डाला जायगा। इसमे लेखक कालज्ञान, जन्मपरिचय, मुख्य बातों आदि से निबन्ध को बड़ी अच्छी तरह सजा सकते है।

विचारात्मक मे समालोचना भी सम्मिलित होती है। अर्थात् किसी व्यक्ति या उसकी रचना के गुणदोष विवेचन रूप लेख भी विचार का विषय होने से इसी विभाग मे आते है। इस प्रकार के निबन्ध लिखने के लिये लेखक को पहिले तद्विषयक पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। फिर उसके होने न होने मे लाभ हानि, आवश्यकता अनावश्यकता की जांच के आधार पर विचारपूर्ण गवेषणा और परिणाम, इन विषयों से युक्त लेख होना चाहिए। इसमे हास्य और व्यङ्ग्य भी बडी चतुराई से देना पड़ता है, क्योंकि गम्भीर विषयों मे यदि वह ठीक न हों तो लेखक की अयोग्यता प्रकट होती है। ऐसे निबन्ध यदि पूरी सफलता से लिखे गए हों तो बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते है।

गुणात्मक मे देशभक्ति, सचाई, वीरता आदि गुण तथा सूक्तियों

और कहावतों पर लिखा जाता है। इसमे लेखक को सब से पूर्व उस गुण तथा सूक्ति का अर्थ समझाते हुए पूर्ण परिचय देकर और लाभ हानि सोदाहरण समझाकर बड़ी मनोरजकता से अपने हृदय गत भाव बतलाते हुए—कि अमुक गुण से इसलिए सम्मान आदि होता है—विषय को समाप्त करना चाहिए।

भावात्मक निबन्धों में बुद्धि से अधिक योग हृदय का होता है; क्योंकि भावों की उत्पत्ति भी तो हृदय से ही होती है न कि बुद्धि से। हृदय के उद्गार होने से निबंध को यदि गद्य-कविता कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। ऐसे विपयों पर लिखने मे ऐसे लेखक को सब से अधिक कठिनाइयां होती है। पहिले तो पद्य से गद्य लिखना कठिन है, फिर गद्य मे कविता और भी दुष्कर है। अतः लेखक को इसके लिये बडा सावधान होना पडता है। इसमे व्यक्तित्व प्रतिफलन की सबसे अधिक प्रधानता रहती है। इसका लक्ष्य पाठकों को किसी भाव विशेष के लिए प्रभावित करना होता है।

प्रस्तावना विवेचन तथा परिणाम निबन्ध के तत्व नही है।

हम पाठकों को सावधान किया चाहते है कि बहुधा शिक्षक और विद्वान भी कह देते हैं कि निबन्ध के प्रस्तावना, विवेचन तथा परिणाम-ये तीन तत्व है, पर वास्तव मे ये कोई तत्त्व नही हैं। उनके मत मे 'प्रस्तावना अनूठे ढंग से बनी होनी चाहिए, विशेपतया उसका प्रथम वाक्य तो ऐसा हो जिससे लेखक की सारी योग्यता का ज्ञान हो जाए और वह सुन्दर प्रस्तावना धीरे-धीरे मध्य अर्थात् विवेचन मे आकर अपने उत्कर्ष की ओर बढ़ती हुई अन्त मे परिणाम मे चरम सीमा तक पहुंच जाय।" हमारे विचार मे इस प्रकार का लेख कृत्रिम, कठोर और मृतप्राय हो जायगा, क्योंकि "निबन्ध तो एक सुन्दर तितली की भांति होता

है जो बड़ी मृदुता से एक प्रकरण से दूसरे प्रकरण पर उड़ता हुआ जाए। इसमे तो लेखक को स्थान स्थान पर अपने विषय पर प्रकाश डालने के साथ साथ अपने व्यक्तित्व को प्रकट करना चाहिए।"

अब हम आपको एक विचारात्मक विषय "क्या हिन्दुस्थान मे हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है ?"-पर लिखने से पूर्व की अवस्था और उसका निर्जीव ढांचा बनाकर दिखाते हैं कि ऐसे विषय पर किस प्रकार लिखना चाहिए। इस पर यदि आप बार बार सोचे तो आपके मन मे ये विचार आएंगे कि राष्ट्रभाषा की क्या आवश्यकता है और उसकी सत्ता के लिए हिन्दी मे अब क्यों दोहाई हो रही है ? राष्ट्रभाषा किसे कहते है ? साधारण भाषा और राष्ट्रभाषा मे क्या भेद है ? क्या सभी भाषाएं राष्ट्रभाषा बन सकती है या राष्ट्रभाषा बनने के लिए कोई विशेष गुण होते है ? हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यों बनाया जाए—आदि इस तरह के अनेकों प्रश्न जब आप करेंगे तो सम्भव है कइयों का उत्तर आप दे सके और कइयों को न भी दे सके। अपने प्रश्नों के समाधान के लिए आप अपने शिक्षक से या तत्सबन्धी पुस्तकों से मन्त्रणा लें। जब आपको आपके प्रश्नों के उत्तर मिल जाएँ तब उन प्रश्नों को सुशृंखलित करे। तब इस निबन्ध का एक निर्जीव सा ढांचा तैयार हो जाएगा। उसे सजीव करने के लिए आपके तर्क-पूर्ण तथा हास्य-मिश्रित उत्तर ही से एक निबन्ध का स्वरूप बन जाएगा। प्रश्नों को हम नीचे क्रमबद्ध करते है।

१ राष्ट्रभाषा किसे कहते है और उसकी क्या आवश्यकता है ? (राष्ट्रभाषा के स्वरूप-निर्णय मे ही साधारण भाषा से भेद भी इसी पहिरा ग्राफ में बता सकते हैं।)

२. राष्ट्रभाषा बनने के गुण कौन से हैं ? (इसमे आप सभी

भाषाएं राष्ट्रभाषा नही बन सकती, यह खोलकर बताए तो दोनों प्रश्नों का उत्तर मिल जाएगा।)

३ हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों बनाई जाए? (इसके उत्तर मे आप उन गुणों से हिन्दी की संपन्नता दिखाएं।) इस तरह आपका निबन्ध पूर्ण हो जायगा। विचारात्मक निबन्धों में यह लेखक पर निर्भर रहता है कि वह उस विचार से सहमत हो या असहमत। वह दोनों मे से कोई भी मार्ग लेकर निबन्ध लिख सकता है। इस विषय मे इन दो मार्गो के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग-निष्पक्ष मार्ग भी है जिसमे आप सब बातें बताकर पाठकों पर छोड दें कि ऐसी अवस्था मे हिन्दी, उर्दू, बंगला आदि कौन सी भाषा राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है।

अन्त मे हम यह अवश्य कहेगे कि जब भी निबंध लिखने बैठे-प्रवाह से लिखे। रुक रुक कर डर डर कर न लिखे। उत्साह से उमंग से, तरग से. लिखा हुआ निबंध ही निबंध होगा। यदि आप अच्छा निबंध लिखेंगे तो बार बार उसे पढ़ने को आपका हृदय चाहेगा। यदि निबध लिखने के बाद आपका ही चित्त उसे पढने मे न लगे तो समझिए कि निबंध निकम्मा है।

अमृतसर। १७ १० ४२ —सूल जी मनुज ऐम ए

निबंध-कुसुमावली

अभ्यास खंड

काव्य और कविता

विद्वानों ने काव्य के भिन्न भिन्न लक्षण किये है। साहित्य-दर्पण-कार ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है। रसगंगाधर के रचयिता ने रमणीय-अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य स्वीकार किया है। इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने भी अपनी अपनी रुचि एवं समझ के अनुसार काव्य के विभिन्न लक्षण किये हैं। सबके सारांश रूप मे यह कहा जा सकता है कि जिस गद्यमयी, पद्यमयी अथवा गद्य पद्यमयी रचना को पढ़, सुनकर या जिसका अभिनय देख कर चित आह्लादित हो उठे, किसी अलौकिक आनन्द का अनुभव करे, उसे काव्य कहते हैं। वे ही ग्रन्थ काव्य के अन्तर्गत हैं जो अपने असाधारण विषय और चमत्कृत प्रतिपादन-रीति से पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों के हृदय मे एक अलौकिक आनन्द उत्पन्न कर सके।

साधारणतया प्रत्येक छन्दोबद्ध रचना को लोग कविता कह देते हैं, पर यह सर्वथा भूल है। यदि किसी रचना मे मात्रा या वर्णोंकी संख्या नियमित हो, यति और गति का पूरा ध्यान रक्खा गया हो और चरणान्त मे तुक भी मिलती हो, तो भी वह इतने मात्र से कविता नहीं हो सकती, वह पद्य ही होगी, परन्तु जब छन्दोबद्ध रचना मे काव्य के अलौकिक-आनन्द-दायित्व आदि गुण मिले तो वह कविता होगी। भाव यह कि प्रत्येक कविता का पद्यमय होना अनिवार्य है; परन्तु प्रत्येक पद्य का कविता होना अनिवार्य नहीं।

कविता सदा पद्यात्मक ही होती है, पद्यपन अर्थात् छन्दोबद्धता के नष्ट होते ही रचना का कवितात्व नष्ट हो जाता है; परन्तु काव्य वह फिर भी रहती ही है। अर्थात् काव्य को स्वतन्त्रता है, वह जिस रूप मे चाहे रह सकता है। छन्दोबद्ध रचना, छन्दरहित गद्य, गद्यपद्यमय चम्पू, सङ्गीत संवादमय नाटक, अल्प आख्यायिका और सुविशाल उपन्यास भी हृदय को आह्लादित करने के कारण काव्य है।

काव्य आश्रय है और कविता उसके आश्रित है। काव्य के लक्षणों से हीन रचना कविता नहीं होती, वह तो एक नीरस पद्य ही होगा, जिसे पढ़ या सुनकर हृदय आनन्दित नही होता, परतु पद्य-रूप मे न होने पर भी काव्य की कीमत कम नही होती। वह हर रंग और रूप मे हमारे हार्दिक हर्ष का हेतु होता है।

'जानसन' के मत मे कविता पद्यमय निबंध है, परतु यह मत ठीक नही; क्योंकि प्रत्येक पद्यमय निबंध कविता नही हो सकती। पद्य मे मानवहृदयस्पर्शी कोई बात होनी चाहिये, तभी वह कविता होगी। 'कार्लाइल' का कहना है कि 'कविता संगीतमय विचार है।' यह लक्षण भी अपूर्ण है क्योंकि कविता मे मनोवेगों की प्रधानता होती है, परन्तु यहा पर उसका सकेत तक नही। 'मिल्टन' का कहना है कि कविता वह कला है जिसमे कल्पना-शक्ति विवेक की सहायक होकर सत्य और आनंद का परस्पर सम्मिश्रण करती है। कविता के इस लक्षण मे संगीतमय भाषा की आवश्यकता नही कही गई, अतः यह लक्षण भी अपूर्ण है। 'वाट्सडेटन' कहते हैं—'कविता मनोवेग-मय और संगीतमय भाषा मे मानव अंतःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यंजना है।' सस्कृत के कवियों ने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक अथवा रसात्मक वाक्य को कविता (काव्य) कहा है। यद्यपि इन लक्षणों मे सत्य का बहुत कुछ अंश

है, फिर भी ये लक्षण सन्तोषजनक नहीं है, वास्तव मे 'कविता वह पद्यमय साधन है जिसके द्वारा सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बंध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।' हम जड और चेतन सृष्टि के भीतर इतना गहरा नही घुस सकते जितना कि कवि लोग। प्रकृति के जिन जड और चेतन पदार्थों का हमारे हृदय पर कुछ भी प्रभाव नही पडता, कवि उन्ही के सौन्दर्यपूर्ण वर्णन से उनका हमारे हृदय से रागात्मक सम्बंध जोड देते हैं। हम भी उन्ही के समान उन पदार्थों मे अलौकिक सौन्दर्य का अनुभव करने लगते हैं; पर सच तो यह है कि प्रेम, सौन्दर्य और धर्म की तरह कविता की भी शतप्रतिशत परिभाषा करनी सभव नही, वह तो सहृदय-संवेद्य वस्तु है।

(२)

दृश्य-काव्य का विकास

मनुष्य अपने मानसिक भावों को कई प्रकार से प्रकट करता है। वाणी, लेख, इङ्गित और अनुकरण के अतिरिक्त हर्षोत्सवों मे अपने हर्षातिरेक को व्यक्त करने के लिये मनुष्य गान और नृत्य का आश्रय लेता है। यही गान और नृत्य दृश्य-काव्य या रूपक के कारण हैं; अर्थात् गान और नृत्य ही से नाटक की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य मे दूसरों को बोली, इङ्गित, चाल-ढाल और वेशभूषा का अनुकरण करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है; वह दूसरे का अनुकरण करके हर्ष अनुभव करता है। यह अनुकरण की प्रवृत्ति ज्यों ही अभिनय अर्थात नाट्य का रूप ग्रहण करती है त्यों ही एक प्रकार से नाटक का वीज वोया जाता है।

प्राचीनकाल मे गर्मी, वर्षा और शीत आदि के अधिष्ठाता स्वीकार किये गये सूर्य, इन्द्र आदि देवताओं की तुष्टि के लिये बड़े बड़े यज्ञ और उत्सव किये जाते थे। उन्हीं उत्सवों मे लोग देवता की स्तुति के गीत गाते और नाचते थे। गीतिकाव्यों और

नाटक के मूल गीतों का आरम्भ यही से है। कालान्तर मे इन उत्सवों के उद्देश्यों मे अल्पाधिक परिवर्त्तन भी होते गये; परन्तु गीत और नृत्य का प्रयोग यथावत् रहा, अपितु अधिक होता गया। यूनान मे डेमिटर (द्युमित्र-सूर्य) धान्य की देवी मानी जाती थी। धान पकने के समय उसकी पूजा के लिये कुछ धार्मिक अभिनय किया जाता था। चीन के लोग फसल कट चुकने पर मन्दिरों मे देवताओं के धन्यवाद के गीत गाया करते थे और उन देवताओं की कल्पित अथवा तथ्य जीवन-घटनाओं का उन्हीं के अनुकरण पर अभिनय किया करते थे। एवमेव ब्रह्मा और जापान मे भी ये रीतियाँ प्रचलित थी। भारत मे आजकल भी फसल काटने के बाद होली का त्योहार मनाना इसी भाव का निर्शदन है। उसमे भी नृत्य, गीत और स्वाग-अभिनय का बाहुल्य है।

दृश्यकाव्य के विकास मे वीरपूजा ने भी पर्याप्त योग दिया है। धन धान्य की वृद्धि की कामना से अथवा कृषि काटने के अनन्तर प्राचीन वीरों का धान्यवाद करने के लिये उनके शव या मूर्ति आदि का पूजन होता था। इसी उत्सव के समय मृत वीरों की जीवन-घटनाओं का अभिनय किया जाता था। यह प्रथा प्रायः सर्वत्र प्रचलित थी। भारतीय राम-लीला तथा कृष्ण-रास-लीला उसी अभिनय के विकसित रूप है। विभिन्न जातियों के इतिहास साक्षी हैं कि यही देव-पूजा और वीरपूजा के समय के सङ्गीत और नृत्य नाटक के मूल कारण है।

इसके अतिरिक्त दूसरों के आदर सत्कार के लिए और उनकी मनस्तुष्टि के लिए भी नृत्य की प्रथा चिरकाल से चली आई है। युद्ध से लौटे हुए वीर भी नाचते थे और उनके सम्मानार्थ पुरवासी भी। इसके अतिरिक्त सैनिकों के वीरतापूर्ण कृत्यों का भी अभिनय किया जाता था। ब्रह्मा, चीन, जापान आदि देशों मे मृतक वीरों

के सम्मान और स्मृति मे नाचने और गाने की प्रथा थी। लोग मुंह पर चेहरे लगा कर नाचते और मृतकों के वीरकृत्यों का अभिनय करते थे। जावा, जापान आदि देशों में इसके साथ कुछ वार्त्तालाप भी होता था और इस प्रकार नाटक का एक पूर्वरूप सा बन रहा था। पेरू, बोलीविया, ब्राजील आदि मे आजतक ऐसे नृत्य और अभिनय होते हैं।

नाटक शब्द मे विद्यमान 'नट्' धातु जिसका अर्थ नाचना है, सिद्ध करता है कि नाटक अर्थात् दृश्यकाव्य का आरम्भ नृत्य से ही हुआ है। कंबोडिया की नृत्यशाला का प्राचीन 'रंगाराम' नाम भी इसी बात का पोषक है कि नृत्य से ही दृश्य काव्य का विकास हुआ है।

—व्रती भ्राता,

(३)

हिन्दी गद्य का विकास

'भाषा' और 'गद्य' ये दोनों शब्द यथाक्रम 'भाष्' और 'गद्' धातुओं से बने हैं, जिनका अर्थ है 'व्यक्त बोली'। इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति ही प्रकट करती है कि भाषा और गद्य का जन्म साथ साथ ही होता है । हिन्दी भाषा भी इस नियम का अपवाद नही है। हम अपनी मानसिक भावनाओं को बोल कर प्रकट करते है और वह बोलना आरम्भ मे अक्षरों या मात्राओं के किसी नियम (छन्दोबद्धता) मे नही होता; अर्थात् गद्य मे होता है । अनन्तर जब हम अपनी उसी साधारण बोलचाल मे संगीत उत्पन्न करने के लिये उसे वर्णों या मात्राओं के नियम मे बाध देते है तो वह पद्य बन जाती है । हिन्दी भाषा का गद्य भी उसके आदि काल से ही प्रचलित है; परन्तु काव्यनिर्माण तथा अन्य ग्रन्थ-रचना मे गद्य की उपेक्षा ही की गई। हिन्दी गद्य के सर्वप्रथम लेखक गोरखनाथ कहे जाते है। ये पृथ्वीराज से कुछ पहले हुए । इनका गद्य बिल्कुल बेसिर-पैर का है और केवल अद्भुतालय की शोभा बढा सकता है। वास्तव मे हिन्दी गद्य के आदि ग्रन्थ सोलहवी शताब्दी के अन्त मे गोस्वामी गोकुलनाथ जी के लिखे "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' है। इनकी शैली मे सादगी, पुनरुक्ति, विषमता तथा शिथिलता स्पष्ट दिखाई देती है। सभवतः इसी काल मे जटमल ने 'गोराबादल' की और बनारसीदास ने 'धर्मकथानक' की रचना की। इनमे भी गद्य परिमाण मे थोड़ा और गठन, प्रवाह तथा स्वाभा-

विकता से रहित है । सन् १६२६ ई० मे किशोरदास ने शृंगार शतक पर टीका लिखी । इस टीका का गद्य वाक्य-रचना आदि की दृष्टि से सर्वथा अपरिमार्जित है और ऐतिहासिक दृष्टि से उसका कोई महत्त्व नही है । इसके अनन्तर १६ वी शताब्दी के आरम्भ तक हिंदी गद्य का कोई ग्रन्थ नही मिलता । वास्तव मे हिंदी गद्य की नीव डालने वालों मे मुन्शी सदासुखलाल का नाम सर्व-प्रथम लिया जाना चाहिए । उन्होंने बिना किसी की प्रेरणा के 'सुखसागर' के नाम से भागवत पुराण का हिंदी गद्य मे अनुवाद किया। उनके बाद सैय्यद इंशाउल्लाह खां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी । जिसमे हिन्दवी की छुट' और 'और किसी बोली की पुट' नही है । इसकी भाषा बडी चञ्चल, रसीली और रंगीली है । तत्पश्चात् फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के प्रिंसिपल जान गिलक्रिस्ट की प्रेरणा से सदलमिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' और लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' का निर्माण किया । 'प्रेमसागर' मे ब्रजभाषा के शब्दों की भरमार है । उसमे शब्दाडम्बर बहुत हैं और उसका गद्य पद्यमय और तुकाग्रही है । 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा मिली जुली और मुहावरेदार है । सदलमिश्र ने गद्य को सरल और प्रभावशाली बनाने के लिए उर्दू फारसी के प्रचलित शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग किया । वर्त्तमान हिंदी गद्य का अपरिपक्व रूप सदलमिश्र की रचना मे ही दीख पड़ता है ।

लार्ड विलियम वेंटिक के समय मे शिक्षा का माध्यम अङ्गरेजी भाषा को बनाया गया । उसके गद्य को देखकर हिन्दी के गद्य का अभाव खटका । इसी समय ईसाई पादरियों ने हिंदी गद्य मे बाइबिल आदि के अनुवाद प्रकाशित कराये । सन् १८३७ ई० मे हिंदी की छपाई का काम आरम्भ हो गया था । छापेखानों में पुस्तकें तथा पत्र छपने लगे थे । हिंदी गद्य के विकास में

छापेखानों से बड़ी सहायता मिली । सन् १८५४ ई० में ग्रामीण पाठशालाओं की स्थापना तथा देशी भाषाओं की शिक्षा की आयोजना हुई । प्रारम्भिक कक्षाओं के लिये पद्य में पुस्तकें लिखना निष्फल था । इसलिये प्रत्येक विषय पर गद्य में पाठ्य-पुस्तकें लिखी गईं । इस प्रकार मुद्रणालयों तथा पाठशालाओं ने हिन्दी-गद्य के विस्तार में भारी सहयोग दिया ।

इन्हीं दिनों राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी की बहुत उन्नति की । राजा लक्ष्मणसिंह का गद्य संस्कृत के शब्दों से भरपूर रहता था और राजा शिवप्रसाद उर्दू-फारसी-मय हिन्दी लिखते थे ।

तदनन्तर हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति करने वाले बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-गद्य का पूर्णरूपेण विकास किया और उसे अनिश्चितता से निकाल कर निश्चित पथ की ओर प्रेरित किया । उन्होंने समझ लिया कि गद्य का विकास तभी होगा जब वह ब्रज-भाषा, शुद्ध संस्कृत और अरबी-फारसी के प्रयोगों का साथ छोड़कर प्रचलित मिश्रित भाषा का आश्रय लेगा । उन्होंने गद्य में हास्य और व्यंग्य, सामयिकता और रोचकता का समावेश करके उसे आकर्षक और उपयोगी बनाया । आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द जी ने व्याख्यानों तथा सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों द्वारा हिन्दी गद्य के विकास तथा प्रचार के लिए बड़ा काम किया । उनके शिष्य पं० भीमसेन ने भी इसमें पूर्ण सहयोग दिया । इन्हीं दिनों उपन्यासों तथा समाचार पत्रों की खूब धूम मची । पत्रों में कविवचनसुधा, बिहारबन्धु, भारत मित्र, बंगवासी आदि प्रसिद्ध थे । इनसे गद्य में ऐसी सजीवता का संचार हुआ जो कि इससे पूर्व दिखाई नहीं देती थी । उपन्यास लेखकों में किशोरी लाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री और कार्त्तिक

प्रसाद मुख्य थे। इनके उपन्यासों का गद्य बड़ा रसीला, भड़कीला और चमत्कारपूर्ण है। पत्रकारों मे से बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र, चौधरी बदरी नारायण, ठाकुर जगमोहनसिह और बालमुकुन्द गुप्त प्रभृति विद्वानों ने उत्तम निबन्धों द्वारा गद्य के प्रसार मे बडी सहायता दी।

सन् १८६४ ई० मे नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना के साथ साथ हिंदी गद्य मे युगान्तर उपस्थित हो गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती के सम्पादक रहकर हिंदी गद्य की बड़ी अमूल्य सेवा की। अभी तक लेखकों की दृष्टि हिंदी व्याकरण की ओर विशेपतया न गई थी। वर्णविन्यास, क्रियायोजना आदि मे प्रमाद से काम लिया जा रहा था। विरामचिह्नों की ओर भी किसी का ध्यान न गया था। आचार्य जी ने इन सब बातों की ओर ध्यान दिया और गद्य का संस्कार किया। इन्होंने गद्य की कई शैलियों का आविष्कार किया; परन्तु सामान्यतया इन्होंने मिश्रित भाषा मे मुहावरेदार गद्य लिखा।

नए युग मे प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चण्डीप्रसाद हृदयेश, श्रीसुदर्शन, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार आदि ने उपन्यास गल्प आदि द्वारा, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र वर्म्मा, हरिभाऊ उपाध्याय, संतराम बी० ए०, बनारसीदास चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी, गोपालचंद्र देव आदि ने निवन्धादि से रायवहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, काशीप्रसाद जायसवाल, जयचन्द्र विद्यालङ्कार आदि ने ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा, अन्नपूर्णानन्द, हरिशंकर शर्मा, आदि ने हास्य-ग्रन्थ लिखकर, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल-सांकृत्यायन आदि ने यात्रा-वर्णनों से, रामदास गौड़ प्रभृति ने वैज्ञानिक रचनाओं से, डा० गोरखप्रसाद आदि ने फोटोग्राफी आदि

अन्यान्य विषयों के ग्रन्थों से हिंदी गद्य को समृद्ध किया है। इस प्रकार अब हिंदी गद्य की सर्वाङ्गीण तथा पूर्ण उन्नति हो रही है। सरस्वती, विशाल-भारत, चाँद, हंस, सुधा, माधुरी, शांति, विश्व-मित्र, युगान्तर आदि पत्रिकाएँ तथा आज, विश्वमित्र, वेङ्कटेश्वर समाचार, प्रताप, हिंदी-मिलाप, हिंदुस्तान, नवयुग, अर्जुन, विश्वबन्धु, स्वराज्य, भारत, आदि पत्र विभिन्न विषयों के लेखों द्वारा हिंदी गद्य को संपन्न बना रहे हैं।

—सतीभ्राता

(४)

हिन्दी गद्य के विकास में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का स्थान

हिन्दी गद्य के विकास मे द्विवेदी जी का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इनके पूर्व गद्य पर्याप्त परिमाण मे लिखा जा चुका था, तथापि गद्य का सस्कार करने का श्रेय इन्ही को है। इनके पूर्ववर्त्ती लेखकों के गद्य मे प्रांतीय शब्द अथवा संस्कृत, अरबी, फारसी के कठिन शब्द अधिक होते थे। उनकी वाक्य-रचना शिथिल और अस्तव्यस्त होती थी। व्याकरण के नियमों का ध्यान न रक्खा जाता था। अङ्गरेजी पढ़े लिखे लोग हिंदी-भाषा की निजी विशेषताओं की परवाह न करते हुए अंग्रेज़ी के मुहावरों और लाक्षणिक प्रयोगों का हिंदी गद्य मे अक्षरशः अनुवाद कर देते थे। बंगला, मराठी आदि से होने वाले अनुवादों मे भी यही त्रुटि दिखाई देती थी। इन प्रयत्नों से यद्यपि साहित्य बढ़ रहा था, तथापि गद्य विकृत हो रहा था।

द्विवेदी जी सम्वत् १९६० मे सरस्वती के सम्पादक बने और उन्होंने तभी से हिंदी-गद्य के नियन्त्रण का प्रशस्त प्रयत्न प्रारम्भ किया। इससे पहले लोग अक्षर-योजना पर विशेष ध्यान न देते थे। ऐसे लोगों मे प्रतापनारायण मिश्र जैसे उच्चकोटि के लेखक भी थे। द्विवेदी जी ने इस दोष को दूर करके हिंदी गद्य को सुसम्बद्ध और परिमार्जित किया। अंग्रेजी के ढंग पर पैरे बनाने की तथा विराम-चिह्नों के प्रयोग की प्रथा भी द्विवेदी जी ने ही प्रारम्भ की। आरम्भ में द्विवेदी जी के इन प्रयत्नों का बड़ा विरोध हुआ, इन

विषयों पर बड़े वादविवाद चलने लगे, परन्तु अन्त में परिणाम अच्छा रहा। आखिर भाषा को स्थिरता मिली और नवीन लेखक सतर्क हो गये।

यद्यपि द्विवेदी जी ने उच्चकोटि का मौलिक साहित्य नही लिखा, तथापि इन्होंने महाभारत आदि अनेक श्रेष्ठ ग्रन्थों का अन्यान्य भाषाओं से हिंदी मे अनुवाद किया और हिंदी को अनेक नये विषयों से परिचित कराया। निबन्ध लिखने की जो परम्परा भारतेन्दु के काल से चली आ रही थी उसमे अधिकतर लेख भावात्मक ही होते थे, द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' मे व्यावहारिक विषयों पर लेख लिखे। इन्होंने कभी भी अपना पांडित्य दिखाने के लिये भाषा को जटिल नही बनाया। बात को बिना घुमाये फिराये सीधी तरह कह देना इनका विशेष गुण रहा था। इन्होंने कई प्रकार की शैलियों पर अधिकार प्राप्त किया था। उनमे से मुख्य तीन हैं। प्रथम शैली वह है जिसमे वे हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी, फारसी तथा संस्कृत आदि के शब्दों पद्यों एवं मुहाविरों को निःसंकोच प्रयुक्त करते थे, साथ ही चुटीलेपन का पूरा ध्यान रखते थे। दूसरी शैली वह है जिसमे जान बूझकर हिंदी-उर्दू का मेल रखकर लिखते थे। यह शैली बिना व्यंग की चाबुक चलाये नहीं लिखी जाती। तीसरी वह शैली है जिसमे, यद्यपि संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य रहता था, फिर भी प्राय छोटे छोटे वाक्य रहने के कारण दुरूहता नही आ पाती थी।

द्विवेदी जी बड़े सावधान लेखक थे। इन्होंने हिंदी गद्य को सयत परिमार्जित और नियमित करके उसे पूर्ण विकसित होने मे सहायता दी। हिंदी-गद्य स्वर्गीय द्विवेदी जी का सदा आभारी रहेगा।

—व्रतीभ्राता

'प्रसाद' जी का अजातशत्रु नाटक

स्वर्गीय श्री जयशंकरप्रसाद हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार माने जाते हैं। उन्होंने जनमेजय का नागयज्ञ, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु आदि कई उत्तमोत्तम मौलिक नाटकों की रचना की। प्रसादजी का अजातशत्रु ऐतिहासिक नाटक है। कथावस्तु का सम्बन्ध मौर्य्यवंश के प्रसिद्ध सम्राट् बिम्बिसार के शासनकाल से है। कथावस्तु अधिकतर पुराणों और बौद्ध जातकों से ली गई है। कला की आवश्यकता की दृष्टि से कही पर कल्पना की भी सहायता ली गई है। प्रसाद जी का यह नाटक बहुत ही प्रसादगुण पूर्ण है। आरम्भ मे ही अजात का शिकारी को कोड़े से मारना दिखाकर उसकी प्रचण्डता दिखलाई गई है। लेखक घटनाओं को एक सूत्र मे पिरोने मे अत्यन्त कुशल सिद्ध हुआ है।

नाटक की रचना मे देश तथा काल का बहुत ध्यान रक्खा गया है। पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम आज ही लगभग अढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व के भारत में विद्यमान है। रीति-रिवाज, चालढाल तथा सामाजिक संस्कार सब उन्हीं दिनों के हैं, वर्तमान की कोई भी वस्तु उसमे दिखाई नही देती। कही पर बौद्धों के संघाराम दिखाई देते है, कही बौद्ध भिक्षुओं की टोलियां घूम रही हैं और कही पर तत्कालीन हिंदु और बौद्ध-भावनाओं का घात-प्रतिघात दृष्टिगोचर होता है।

अजातशत्रु मे पद्यों की भरमार नहीं है। उचित स्थान पर एक दो कविताएं सुसज्जित है। प्रत्येक छोटा बड़ा पात्र गाना नहीं गाता। पद्यों मे भी एक अनिरीक्ष्य अनन्त की ओर संकेत किया गया है और दुर्निवार विश्वव्यापी वेदना और करुणा को व्यक्त किया गया है। उसका एक पात्र मानों अखिल विश्व के स्वर मे कह रहा है—

अधीर न हो चित्त विश्व मोह जाल में।
यह वेदना विलोल वीचि मये समुद्र है॥
है दुःख का भंवर चला कराल चाल में।
वह भी क्षणिक इसे कहीं टिकाव है नहीं।
सब लौट जायेंगे उसी अनन्तकाल मे॥

नाटक मे चरित्रचित्रण भी बहुत उत्तम हुआ है। अजात् बहुत ही उग्र स्वभाव का है। वह अबोध किन्तु वीर है। छलना और कपटी देवदत्त की प्रेरणा से वह पिता तथा माता वासवी को कैद कर लेता है; परन्तु समय आता है जब उसे अपने कृत्यों का फल मिलता है। वह कोशल मे बन्दी हो जाता है और छलना उसके वियोग मे बिलखने लगती है। अन्त में सब की कृपा से ही उसे बन्दी-गृह से छुटकारा मिलता है और वह अन्त मे पश्चात्ताप करता है तथा पिता बिम्बिसार से क्षमा मांगता है।

लोकहित-रत गौतम का अक्रोध एवं प्राणिमात्र को समान समझने के लिये उपदेश, महाराज बिम्बिसार की उदार-हृदयता और उनका 'सम्राट' सम्बोधित होने पर "चुप चुप, यदि मेरा नाम न जानते हो तो 'मनुष्य' कह कर पुकारो, यह भयानक सम्बोधन (सम्राट्) मुझे न चाहिये" कह कर राजत्व से मनुष्यत्व को भी ऊंचा समझना आदि बातें नाटक की कल्याणमयी भावनाएं हैं। संस्कृत के महाकवि-दिङ्नाग ने भी 'कुन्दमाला' नाटक में कण्व के राम को 'राजन्' कहने पर राम से ऐसी ही बात कहलवायी है।

स्त्री-पात्रों मे प्रसाद जी ने वासवी और मल्लिका का चरित्र बहुत ऊंचा चित्रित किया है। वासवी क्षमाशीला देवी है, वह छलना को कई बार-उससे अपमानित होने पर भी क्षमा कर देती है।

मल्लिका तो सचमुच स्वर्ग की देवी है। उसका हृदय इतना महान् है कि शत्रु भी उसे मित्र दिखाई देते हैं। वह मूर्त्तिमती विश्वमैत्री है। यहां तक कि जो भी पात्र उसके संसर्ग मे आता है वही शुद्ध और निर्मल हो जाता है। सार यह कि प्रसाद जी इस नाटक की रचना में पूर्ण सफल हुए हैं।

हिंदी में दृश्यकाव्यों की न्यूनता का मुख्य कारण यही है कि हिंदी-साहित्य का अधिकतर विकास मुस्लिम शासन-काल में हुआ है और इस्लाम मे गाने बजाने का निषेध है, अतः मुस्लिम राजा नाटकों के खेल आदि की कभी खुली आज्ञा नहीं देते थे, नाटक के पढने से इतना आनन्द नही आता जितना खेलने से; इसलिये साहित्य का यह अंश अधूरा रहा।

अङ्गरेजी शासन मे इस प्रकार की कोई रुकावट न थी, अतः साहित्य के इस अंश की वृद्धि होने लगी। भारतेन्दु के काल से अनेक नाटकों की रचना आरम्भ हुई। अनेक नाटक दूसरी भाषाओं से भी अनूदित हुए। फिर भी हिंदी नाटकों का पूरा विकास न हुआ। इसके दो कारण हैं। पहला तो यह कि नट बने बिना अर्थात् अभिनय का गूढ रहस्य समझे बिना उत्तम नाटककार नहीं बना जा सकता और हमारे समाज मे अभिनय एक नीच व्यवसाय समझा जाता है, अतः नाटकों के यथायोग्य विकास मे यह बडी बाधा है। दूसरी बात यह कि हिंदी वालों की कोई नाटक-मण्डली या संगठित व्यवसायिक कम्पनी नहीं है।

दृश्य-काव्य के विकास मे सिनेमा द्वारा भी बाधा पहुँची है। साधारण नाटकों का स्थान सिनेमा ने ले लिया है। सिनेमा के लिये वे ही नाटक लिये जा सकते हैं जो चित्रपट की आवश्यकताओं को ध्यान मे रख कर लिखे गये हों। इन सब कारणों से हिंदी मे दृश्य-काव्यों की सख्या न्यून है और उत्तम दृश्य-काव्य तो इने-गिने ही हैं।

—मतीभ्राता

(६)

अलंकारों की महत्ता तथा उनके विरुद्ध मतों की विवेचना

जिस रचना मे चमत्कार या रमणीयता न हो उसे रोचक-काव्य नहीं कहा जा सकता। काव्य मे रमणीयता अनिवार्य है। काव्य मे रमणीयता या चमत्कार लाने के अनेक उपाय हैं। उनमे अलंकारों का विशेष स्थान है। महाकवि केशवदास ने उचित ही कहा है कि 'जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त। भूषण बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त ॥' प्राचीन अलंकार-शास्त्रियों का कथन है—'शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म, परन्तु स्त्री पुरुषों के सौंदर्य को बढाने वाले कड़े-हार आदि गहनों की तरह उनके सौंदर्य को बढाने वाले गुण, साहित्य मे अलंकार कहलाते हैं।

मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है, वह जैसे अपने शरीर तथा वेश भूषा को सुन्दर से सुन्दर करने का यत्न करता रहता है, वैसे ही वह अपनी वाणी को भी सुन्दर और चित्ताह्लादकारी बनाने का यत्न करता है। इससे वक्ता और श्रोता का चित्त प्रसन्न होता है और वाणी भी प्रभावशाली हो जाती है। वाणी की सजावट के लिये वह जिन विच्छित्तियों को काम मे लाता है, वे अलंकार के नाम से कही जाती हैं। रमणीयता लाने के लिये अलंकार आवश्यक ही नहीं; अपितु अनिवार्य होते है। वेद से लेकर सर्वसाधारण की सामान्य उक्तियों तक मे इनका प्रयोग होता रहता है। जैसे—यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा' विशिखा इव' (वेद) में पूर्णोपमा तथा पुनरुक्तवदाभास अलंकार

हैं। लोक में भी 'जल में रहे मगर से वैर' आदि में लोकोक्ति तथा अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार हैं।

कई लोगों का मत है—'अलंकारों के बिना भी कविता अच्छी बन सकती है, अतः ये अनावश्यक हैं।' यद्यपि सिद्धान्त रूप मे यह ठीक है कि अलंकारों के बिना भी अच्छी कविता का निर्माण सम्भव है, तथापि इससे अलंकारों की व्यर्थता सिद्ध नहीं हो सकती। कविता-निर्माण-काल में अलंकार अनजाने मे आ ही जाते हैं। केशवदास ने अपनी एक कविता अलकार-रहित रचना के उदाहरण में दी थी, परन्तु ध्यान से देखने पर वहां पर भी अलंकार दृष्टि-गोचर होते है। अलंकारों का बहिष्कार करके कमनीय कविता करना कठिन कार्य है। बड़े से बड़े अलंकार-विरोधियों की कविता मे भी यत्र तत्र अलंकार आ ही जाते हैं।

ऐसा भी एक 'वाद' है कि 'शताब्दीयों से प्रचलित उन्हीं पुराने अलंकारों को अन्धाधुन्ध मानने से कोई लाभ नहीं, जैसे आभूषणों के ढंग नित्य नये बदलते रहते है, वैसे ही अलंकार भी नये नये निकलने चाहियें।' उनके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह ठीक है, यदि कोई प्रतिभाशाली विद्वान् शब्द और अर्थ मे किसी अभूत-पूर्व ढंग से चमत्कार ला सके तो वह बहुत ही अधिक हर्ष की बात होगी, परन्तु इससे प्राचीन अलंकारों की महत्ता घट नही सकती, क्योंकि उनके चमत्कारोत्पादक गुण उनमे यथावत् विद्यमान हैं। प्राचीन विद्वान् भी अलंकारों की संख्या आदि में युक्तियुक्त मतभेद रखते थे। इसीलिये भिन्न भिन्न अलंकार-ग्रन्थों मे अलकारो की सख्या मे भी भेद है।

हिन्दी मे ये अलंकार विशेप प्रचलित हैं—अनुप्रास, यमक, वीप्सा, उपमा, रूपक, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अतिशयोक्ति, और अर्थान्तरन्यास। जिन अलंकारों मे चमत्कार का आधिक्य

है तथा जो सरलता से हृदय पर प्रभाव जमाते हैं, कविगण प्रायः उन्हीं का प्रयोग किया करते है। इन्हीं गुणों के कारण उपर्युक्त अलंकारों का हिन्दी साहित्य मे प्रचुर प्रयोग हुआ है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य मे से उदाहरण—

अनुप्रास—वित्त विना विख्यात विरद विपरीत हुआ है ;

(नाथूराम शंकर)

यमक—मन ! रमा, रमणी, रमणीयता ।
मिल गई यदि ये विधियोग से । पर जिसे न मिली कविता सुधा ॥
रसिकता सिकता सम है उसे ॥ (रामचरित उपाध्याय)

उपमा—शरद-चन्द्र-समान सफेद ये, कुसुम काश पराग विराजते ।

(बलदेव शास्त्री)

रूपक—प्रेमसलिल से द्वेष का सारा मल धो जायगा । (सनेही)

वीप्सा—कर कर केहरिनाद वलाहक बरस रहे हैं । (नाथूरामशंकर)

अपह्नुति—मुख बाल रवि सम लाल होकर ज्वाल सा बोधित हुआ।
प्रलयार्थ उसके मिस वहा क्या काल ही क्रोधित हुआ ॥
(मैथिलीशरण)

उत्प्रेक्षा—कुल कपूत करनी निरखि, धरनी के उर दाह ।
धधकि उठत सोई कबहुं ज्वालागिरि की राह ॥
(जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी)

दृष्टान्त—निरखि रूप नँदलाल को, दृगन रुचै नहिं आन ।
तजि पीयूष कोऊ करत, कटु औषध को पान ॥ (भगवान्दीन)

अतिशयोक्ति—वीर रस ने खुद बनाया है अहा उस वीर को ।
वृद्ध विधि कैसे बना सकता भला उस धीर को ॥

अर्थान्तरन्यास—जो करता अन्याय नाश उसका निश्चित है ।
कहां गया लंकेश कहां वह कंस पतित है ?
(किशोरीदास वाजपेयी)

(७)

'प्रसाद' जी की कामायनी

'कामायनी' न केवल भारतीय साहित्य की वरन् विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि है। हिन्दी-काव्य के मानस को तो कामायनी से समुद्र की सी विशालता प्राप्त हुई।

कामायनी का कथा भाग वैदिक उपाख्यानों से लिया गया है। इसमे एक नूतन मानवी युग की प्रतिष्ठा के ऐतिहासिक प्रयत्न का चित्र है। मानवता के सर्वथा नूतन युग का आरंभ किस-किस भांति से होता चला गया, एक नवीन सभ्यता की प्रतिष्ठा किस भांति हुई, यही कामायनी मे स्पष्ट किया गया है। 'कामायनी' की महत्ता विभिन्न दृष्टिकोणों से यहां दिखाने का प्रयत्न किया जाता है।

\+ + +

कथा—'बहुत संक्षेप मे कामायनी की कथा यों है—

'कामायनी' के नायक मनु महा प्रलय के पश्चात् बच गये हैं। देव-सभ्यता का पूर्णतः पतन हो गया है! मनु चिंतित हैं, इसी समय कामगोत्र की पुत्री श्रद्धा (कामायनी) से उनका परिचय होता है। मनु आकर्षित होते है। श्रद्धा उनके यहां रहने लगती है। मनु मे वह मानवीय संस्कारों की जड डालती है, पर मनु के पुराने देव-संस्कार फिर जाग जाते हैं। वह यज्ञ की वलि के लिए शिकार करते हैं। श्रद्धा में उनको उस चंचलता का अभाव दीखता है, जो पुरुष के मन को आकर्षित करती है। श्रद्धा माता होती है। उसकी ममता प्राणियों मे विस्तृत हो रही है, पर मनु चाहते हैं कि यह दूसरों को क्यों स्नेह करे ? सारा प्रेम मुझे ही क्यों

न दे । इस ईर्ष्या और अहंकार के कारण मनु का मन उड़ा-उड़ा फिर रहा है। वह भाग खड़े होते हैं। सारस्वत प्रदेश मे उनकी भेट रानी इडा से होती है। इड़ा देवों की बहन थी, और मनु के यज्ञ के अन्न से उसका पालन-पोषण हुआ था, पर मनु को इसका ज्ञान न था। सारस्वत देश उजड रहा था और इडा को एक ऐसे आदमी की तलाश थी जो राज काज संभाल सके। वह मनु से प्रार्थना करती है, मनु राज-कार्य संभाल लेते हैं। राज्य की खूब उन्नति होती है। मनु राज्य के सर्वस्व बन कर सन्तुष्ट नही हो पाते। उनका मन इडा की ओर बार-बार दौड़ता है। वह उस पर भी अधिकार चाहते हैं। प्रमाद बढ़ता है, और मनु बलात्कार पर उतारू हो जाते है। इस पर देव क्रुद्ध हो उठते हैं, और प्रजा विद्रोह कर देती है, मनु युद्ध मे घायल हो जाते हैं और कई दिन तक वेहोश पड़े रहते है. उधर श्रद्धा मनु की इस दुर्दशा का भयानक स्वप्न देखकर अपने बच्चे को लेकर मनु की खोज मे चल पडती है। भटकते-भटकते इडा के यहां पहुंचने पर वहां उसे मनु दिखाई देते हैं। वह अनेक उपचारों से उन्हे होश मे लाती है मनु का स्नेह फिर श्रद्धा की ओर उमडता है। किन्तु उनकी आत्मा उन्हे धिक्कारती है, और फिर एक दिन मनु सब को छोड़ कर वहां से भी भाग खड़े होते हैं। श्रद्धा दुःखी है। इड़ा को भी ग्लानि होती है। वह अपनी भूलों को समझती और श्रद्धा की ओर आकर्षित होती है। वह अपनी आत्मा के सुख के लिए श्रद्धा के पुत्र मानव को प्यार करने लगती है। वह श्रद्धा से अपने हृदय की अशान्ति और अतृप्ति की बातें कहती है। श्रद्धा उसे समझाती है और अपने पुत्र को भी इडा के हाथ सौंप देती है और लोक-कल्याण का आदेश देती है। इसके वाद मनु की खोज मे चल देती है। इसके वाद एक पर्वत की घाटी मे मनु से उसकी भेट होती है। इधर मनु अपनी भूले

समझ चुके होते हैं। वह अब श्रद्धा का अनुसरण करते हैं, और वह उन्हें संसार के विविध रूपों का दर्शन कराती हुई बहुत ऊंचे स्थान पर ले जाती है। यही मानस-सरोवर और कैलाश हैं। यहां पहुंच कर मनु को एकात्म्य की अनुभूति और समता का ज्ञान होता है, और उस विराट् नृत्य के दर्शन होते हैं, जिसमें सब रहस्यों का लय होकर 'आनंद' की प्राप्ति होती है।

कामायनी में मनोविज्ञान

कामायनी का तात्विक अध्ययन करने के लिए यह जान लेना परमावश्यक है कि कामायनी की आधार-भूमि मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर निर्मित हुई है। यद्यपि कामायनी प्रागैतिहासिक महाकाव्य है, किन्तु फिर भी मनोविज्ञान का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत करता है। व्यष्टि और समष्टि-रूप से मानवता का विकास क्रमिक भावनाओं की सरणियों मे से होकर हुआ है, इसी की प्रतीकात्मक व्यंजना कामायनी की कथा का उद्देश्य है। ऐतिहासिक मूल कथा का कवि ने उन्ही अंशों में ग्रहण किया है, जिसमे उसकी आध्यात्मिक अथवा रूपक के रूप मे मनोवैज्ञानिक व्याख्या अनिवार्य हो जाये। कामायनी मे नवीनता यही है कि किसी अध्याय के अन्तर्गत उसका शीर्षक सम्बन्धी भाव ही नहीं, वरन् उससे संबद्ध सभी अन्य भावनाओं का समावेश भी है। घटनाएं और प्रकृति-वर्णन इन मूल भावनाओं के प्रतिबिम्बमात्र हैं। इन्हीं के क्रमिक उदय और अवसान द्वारा मानवता का विकास दिखलाना ही 'कामायनी' का उद्देश्य है।

प्रथम चिन्ता का सर्ग है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में

जल है, उसी भांति मानवता के आरंभ में चिन्ता। प्रलय के बाद मनु चिंतित बैठे है, प्रकृति में भी नीरवता है। प्रकृति मानव-भावनाओं की अनुगामिनी भी है और उनकी प्रेरक भी। इस प्रथम अध्याय मे जो अन्य भावनाएं हैं, वे इस प्रकार है—

'बुद्धि, मनीषा, मति, आशा,
चिन्ता तेरे हैं कितने नाम।'

चिन्ता का अन्त निराशा से होता है। सर्ग के अन्त मे -

'परम व्योम से भौतिक कण सी—
घने कुहासों की थी वृष्टि'

में प्रकृति भी उदास छोड़ दी गई है।

निराशा के बाद आशा का सुनहला प्रभात आया करता है। आशा के सर्ग मे अरुणोदय होता है। प्रभात की स्वर्णिम रमणीयता कौतूहल को जन्म देती है। इस कौतूहल का अन्त इस विश्वास मे होता है कि इन सभी परिवर्तनों के बीच कोई चिरन्तन, अनन्त और अपरिवर्तनशील भी छिपा है—

"हे विराट्! हे विश्वदेव!
तुम कुछ हो ऐसा होता भान!
मन्द गभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान!"

यहां केवल सागर की ही तान नही है, मनु के हृदय की स्वरलहरी भी इसमे मिली हुई है।

इसी अनन्त व्यापक तत्त्व के साथ आशा का उदय होता है और तब 'अहम्' की भावना अपना रूप धारण करती है—

'मै हूं यह वरदान सदृश क्यों,
लगा गूँजने कानों मे।

मै भी कहने लगा 'मैं' रहूँ"
शाश्वत नभ के गानों मे।'

अहं की यही भावना अनुराग को उत्पन्न करती है। मनु फिर यज्ञ करते है और यज्ञ का अवशेष अनुरागवश किसी संभाव्य जीवित अपरिचित व्यक्ति के लिए रख देते है। जहा मनु के हृदय मे यह सहानुभूति उदित होती है, वहां प्रकृति मे चाँदनी खिलती है, मानो मानव हृदय के साथ प्रकृति किन्हीं अदृश्य सूक्ष्म तन्तुओं से जुड़ी हो। यहा कवि का रहस्यवाद निखर उठता है। सवेदनाशील मनु को अब अकेलापन अखरने लगता है। माधुर्य और प्रेम की आकाक्षा प्रबल होती है, और इस प्रकार आशा के सर्ग मे क्रमशः ये भावनाएं काम करती है—कौतूहल विश्वास, आशा, अहम्भाव, अनुराग, सहानुभूति, संवेदना, माधुर्य और प्रेम की आकांक्षा।

इसके बाद मनु आशावान से श्रद्धावान बन जाते हैं, वास्तव में श्रद्धा ही हृदय की वह वस्तु है, जो किसी भी निराश-हृदय को सान्त्वना, अवलम्ब और जीवन देने मे समर्थ है। श्रद्धा कहती है—

"दया, माया, ममता, लो आज,
मधुरिमा लो अगाध, विश्वास।"

श्रद्धा मे ही वह क्षमता है जो असफल को सफल बनाकर मानवता की विजय-कामना करती हैं। श्रद्धा की इन वृत्तियों के साथ अभिलाषा भी लगी चला करती है, किन्तु अभिलाषाएँ—'काम'-अनन्त है, उनकी कभी तृप्ति नहीं होती। क्योंकि काम स्वार्थ, सौन्दर्य-पान और ऐन्द्रिकता के सहारे वासना मे परिणत हो जाता है, इसी से काम के बाद 'वासना' का अध्याय है। वासना के अधिक होने से लज्जा का आना स्वाभाविक है। उस प्रकार चिन्ता

और निराशा में एकाकी अतीत चिन्तन, फिर कौतूहल, फिर क्रमशः विश्वास, आशा, अनुराग, सम्वेदना; फिर श्रद्धा और तदुपरान्त विश्वास और काम-वासना तथा इनके अतिचार से लज्जा—यही मनु के जीवन की भावात्मक सीढ़िया रहीं, और यही आज भी प्रत्येक मानव के जीवन का मनो-वैज्ञानिक क्रम रहता है।

मानव के मानसिक विकास की ऐसी अनूठी अभिव्यक्ति विश्व-साहित्य मे शायद ही दूसरी जगह मिले। सचमुच ही कामायनी मे सम्पूर्ण मानवता का चित्रण है। वह मनुष्य की सम्पूर्णता की साधना मे प्रकाशित है। उसमे मानवी सृष्टि का आरंभ, उसका विकास, और उसकी चरमसिद्धि की झलक है। मनुष्य मे जो काम-लिप्सा है, वह हेय नही है, निन्दनीय नही है, पर श्रद्धाहीन होकर वह उच्छृंखल भोग-विलास और स्वार्थपरता मे बदल जाती है। इस पतन से मन को ऊपर उठाने वाली शक्ति श्रद्धा ही है, ऐसे यथार्थ जीवन का चित्रण और कहाँ मिलेगा? आज यथार्थवादी और काम-विज्ञान के गीत गाने वाले प्रगति-वादियों के लिए, प्रसाद जी की यह सुदर अभिव्यक्ति, कला की चरम सीमा के चित्रण का मार्ग खोलती है।

× × × ×

'कामायनी—' की दार्शनिकता—'कामायनी' प्रसाद की बौद्धिकता और दार्शनिकता का फल है, यह उनकी एक विशेष बौद्धिक-प्रतिभा-मूलक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हुई है। इसमे मानव-जीवन की वास्तविकता की स्वीकृति है और उस वास्तविकता के द्वारा ही है, समस्त शकाओं के समाधान को खोजने का सफल प्रयत्न। इसमे स्त्री है, पुरुष है, व्यक्ति और समूह के मध्य संघर्ष की अभिव्यक्ति है, संस्कृति के विभिन्न-पक्षों का दिग्दर्शन है। और यह सब-का सब एकत्र रूप मे भी और पृथक

पृथक भी अपना एक विशेष महत्व रखता है। जो कुछ संघर्ष अथवा विप्लव है, उसका कारण है मानवता की चेतन-शक्ति की विशृंखलता। सारी व्यथा, समस्त दैन्य केवल इसीलिए है कि मानव-समाज-बिखरी हुई वस्तुओं को रंगीन रूप में देखने का आदी है। विश्व के समस्त विकार मनुष्य की विकृत-भावना और उसके अस्वस्थ मन के ही दुष्परिणाम-स्वरूप है। जैसे-जैसे मन में श्रद्धा घर करती जाती है और चेतन बुद्धि विवेक प्रदान करती जाती है, मानव अपनी-आनन्द की साधना मे सफल होता जाता है और उसका समस्त दुःख नष्ट हो जाता है।

वास्तव मे 'कामायनी' जिस दार्शनिक आधार पर खडी हुई है, वह अत्यन्त विशाल है। यह समस्त सृष्टि या जीवन की विराट् धारणा पर टिकी हुई है। यहां सारी सृष्टि आत्मामयी है और चित् शक्ति से प्रफुल्लित हुई है। 'कामायनी' के दर्शन, रहस्य और आनंद मे मानव और विराट प्रकृति के बीच इसी सामंजस्य का संदेश है।

'कामायनी' का आधार शुद्ध शैव-तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञान के अनुसार ही सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमयी है। आनन्द से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है, आनन्द मे ही उसकी स्थिरता है, और आनन्द मे ही उसका निर्वाण है। शिव के ताण्डव नृत्य में इसी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की अभिव्यक्ति है।

विश्वात्मा के चिर-मंगल का तत्त्व है शिव, शिव ही एकान्त प्रेम और चिरंतन आनन्द का तत्त्व है, शक्ति इस आनन्द में स्फुरणा डालती है। जैसे शक्ति शिवमय है, वैसे ही कृति भी आनन्दमय है। इसी कारण विप भी चिर-आनन्द मे मिलकर आनंदमय ही हो गया था। शिव ने अमृत की विप पर विजय दिखाई—आनन्द की दुःख पर विजय दिखाई। ज्यों-ज्यों मानव

इस शिवत्व को प्राप्त करता चलता है, वह नित्य आनंद और मंगल प्राप्त करता है और यही मानव का लक्ष्य है।

कामायनी के मूल मे जो चिरन्तन आनंद की साधना का तत्त्व-ज्ञान स्थित है, वह तत्त्वज्ञान विशुद्ध बुद्धि के आधार पर स्थित है। यह विशुद्ध बुद्धिवाद, विकृत बुद्धिवाद के प्रति खुला विद्रोह करता है—विकृत बुद्धिवाद (इडा) को लक्ष्य करके श्रद्धा रूप मे विशुद्ध बुद्धिवाद कहता है—

सिर चढी रही पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय।
अपनापन चेतन का सुखमय,
खो गया, नहीं आलोक दृश्य॥
सब अपने पथ पर चले श्रान्त।
प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त॥
जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह।
ओ तर्कमयी, तू गिने लहर,
प्रतिबिम्बित तारा पकड़ ठहर।
तू रुक-रुक देखे आठ पहर,
वह जडता की स्थिति भूल न कर॥
सुख दुख का मधुमय धूपछाँह,
तूने छोडी यह सरल बाँह॥
चेतनता का भौतिक विभाग—
कर जग को बाँट दिया विराग;
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत—शत।
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत,
उल्लास-पूर्ण आनन्द सतत॥

तल्लीन पूर्ण है एक राग।
झंकृत है केवल 'जाग-जाग!' (दर्शन)

और आगे बढ़कर यही विशुद्ध बुद्धिवाद (इड़ा रूप में) मनु से कहता है—

"इस देव-द्वन्द्व का वह प्रतीक—
मानव! कर ले सब भूल ठीक;
यह विष जो फैला महा विषम,
निज कर्मोन्नति से करते सम।
सब मुक्त बने, काटेंगे भ्रम,
उनका रहस्य हो शुभ्र संयम॥
गिर जायेगा जो है अलीक,
चल कर मिटती—है पड़ी लीक॥ (दर्शन)

इस प्रकार बुद्धिवादी इड़ा के प्रकाश से मनु घोर अन्धकार में देखते हैं—शून्य वायुमण्डल चित् शक्ति के अन्तर्निनाद से परिपूर्ण है। वे विराट का दर्शन करते है—

"लीला का स्पन्दित आह्लाद,
वह प्रभापुंज चितिमय प्रसाद।
आनन्द पूर्ण ताण्डव सुन्दर,
झरते थे उज्ज्वल हिम सीकर।
बनते तारा, हिमकर; दिनकर,
उड़ रहे धूलिकण से भूधर॥
संहार सृजन से युगल पाद—
गति शील, अनाहत हुआ नाद॥

❀ ❀ ❀

"उस शक्ति शरीरी का प्रकाश,
सब पाप शाप का कर विनाश—

नर्तन मे निरत; प्रकृति गलकर;
उस कांति सिंधु मे घुलमिल कर,
अपना स्वरूप धरती सुन्दर,
कमनीय व्यथा बन भीपण तर,
हीरक- गिरि पर विद्युत् विलास,
उल्लसित महा हिम धवल हास ॥"

(दर्शन)

इसी आनन्दमय विराट चेतनता की साधना मनुष्य मात्र का ध्येय है। मानव का बुद्धि-भेद चेतनता के टुकड़े करके साधना पूर्ण नहीं होने देता। मनु इस रहस्य को जानने लगे हैं। श्रद्धा त्रिपुर का दर्शन कराती है—इच्छा, ज्ञान और कर्म ये उन तीन लोकों के नाम है—ये तीनों लोक क्रमशः मानसिक, आध्यात्मिक और भौतिक जगत् के प्रतीक है। तीनों अलग-अलग अपूर्ण और भ्रमित हैं। उनमे अशान्ति है। पुराणों मे यही त्रिपुरासुर के नाम से विख्यात हैं। शिव इसी त्रिपुरासुर का वध करके सृष्टि की रक्षा करते हैं। और तीनों के सामंजस्य और समत्व से आनन्द की सृष्टि करते है। यही आध्यात्मिक तत्त्व है। यह आध्यात्मिक तत्त्व शैव तत्त्वज्ञान के आनन्द तत्त्व के आधार पर स्थित है। यही 'कामायनी' का दार्शनिक आधार है।

× × ×

महाकाव्य 'कामायनी' और उसकी काव्यगत विशेषताएँ—

महाकाव्य की रचना के लिए यह आवश्यक है कि कथावस्तु का संचालन इस प्रकार किया जाय कि उसके द्वारा मानव-जीवन की पूरी-पूरी व्याख्या हो जाय। काव्य का उद्देश्य ही जीवन की नाना परिस्थितियों और उत्थान-पतन के बीच उत्पन्न होने वाली सामान्य मनुष्यता के भावों का चितन करना है। जीवन की

पूरी-पूरी व्याख्या करना साधारण कौशल का कार्य नहीं। कवि को प्रतिक्षण इस बात के लिये सचेष्ट रहना पडता है कि कहीं मानव जीवन मे सर्वदा व्याप्त रहने वाले मुक्त भावों की उपेक्षा न हो जाय। महाकाव्य मे किसी ऐसे उच्च आदर्श की सृष्टि की जानी चाहिए जो वह राष्ट्र या जाति का सदा पथ-प्रदर्शन करता रहे। इस दृष्टि से 'कामायनी' की परीक्षा पिछले पृष्ठों मे हो चुकी है। 'कामायनी' न केवल हमे एक संदेश देती है वरन् जगत् के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण भी देती है। यह महाकाव्य मानवता के अन्धकारमय जीवन मे प्रकाश-पुंज अंशुमाली की भाँति देदीप्यमान है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से महाकाव्य मे कुछ अन्य आवश्यक बाते भी देखनी होती है, जिनका क्रमश. संक्षेप में नीचे उल्लेख किया जाता है। महाकाव्य का लक्षण करते हुए 'साहित्यदर्पण' कार ने ये उपादान स्वीकार किये हैं—महाकाव्य की कथावस्तु कल्पित नहीं होनी चाहिए, उसका आधार ऐतिहासिक या पौराणिक हो। वह जाति की स्थायी सम्पत्ति हो। महाकाव्य का नायक देवता अथवा सद्वंशजात उच्च विचारों वाला व्यक्ति हो। महाकाव्य के अन्य पात्र चाहे मनुष्य-सृष्टि हों या मनुष्येतर सृष्टि, परन्तु उनका चरित्र सदैव नायक के चरित्र के नीचे दबा रहेगा। शृंगार, वीर और शान्त रस प्रधान होते हैं। इसमे आठ से अधिक सर्ग होने चाहिएँ, जो न अधिक बड़े हों और न ही अधिक छोटे, जहां तक बन पड़े प्रत्येक सर्ग के अन्त मे आगामी सर्ग की घटना की सूचना-सी देते चलना चाहिए। प्रकृति का वर्णन विविध रूपों मे हो। सन्ध्या, सूर्योदय, रात्रि, प्रातः, अन्धकार, वर्षा आदि के वर्णन भी रहने चाहिएँ। संयोग-वियोग शृंगार की अभिव्यक्ति तथा आखेट आदि का वर्णन भी रहे।

'कामायनी' की कथावस्तु के विषय मे तो पहिले ही लिखा जा चुका है। इसका कथानक प्रागैतिहासिक है, आवश्यकतानुसार कल्पना का सहारा भी कलाकार ने लिया है।

नायिका—'कामायनी' की नायिका देव-कन्या है, उसका स्वभाव क्षमाशील, उसका हृदय, दया, माया, ममता और मधुरिमा का घर है।

"आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पदतल मे विगत विकार।"

× × ×

"दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास।"

—(श्रद्धा)

श्रद्धा के संदेश पावन और महान है, जो मानवता का संस्कार और संस्थापन चाहते हैं—मनु से श्रद्धा कहती है—"शक्तिशाली बनो, विजयी बनो।" और संदेश देती है, विश्वास दिलाती है—

"डरो मत अरे अमृत सन्तान,
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि।"

× × ×

"विधाता की कल्याणी सृष्टि,
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण।
पटे सागर, बिखरे ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखिया हों चूर्ण॥
उन्हे चिनगारी सदृश सदर्प,
कुचलती रहे खड़ी सानंद।
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल मे रहे न बंद॥" (श्रद्धा)

इसी प्रकार का मानवीय संदेश इडा और मानव को भी 'कामायनी' की नायिका ने दिया है—

"तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति,
शासक बन फैलाओ न भीति ।।"

(दर्शन)

श्रद्धा के अतिरिक्त इडा और मनु दो और मुख्य पात्र 'कामायनी' मे हैं, जिनका अस्तित्व श्रद्धा के ही कारण है ।

रस—'कामायनी' मे शृंगार और शांत रस ही मुख्य हैं, यों तो सभी रसों का सन्निवेश यथास्थान है अवश्य । शृंगार संयोग और वियोग दोनों ही प्रकार का है। संयोग शृगार की अभिव्यक्ति सराहनीय है। 'वासना' सर्ग के अधिकांश चरण इसी के उदाहरण है। शृंगार रस के सभी उपादान 'प्रसाद' जी ने यहां एकत्र करके रख दिये है। चांदनी खिल रही है। नायिका और नायक मे एकांत स्थान मे रति के अंकुर उत्पन्न हो रहे हैं। श्रद्धा और मनु मे हृदय की यह प्रेमाभिव्यक्ति देखते ही बनती है—श्रद्धा ने—

"कहा हसकर–'अतिथि हूॅ, मै, और परिचय व्यर्थ ।
तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ ।।
चलो देखो वह चलाआता बुलाने आज—
सरल हँसमुख विधु जलद लघु-खंड वाहन साज ।"

× × ×

"देख लो, ऊँचे शिखर का व्योम चुम्बन व्यस्त ।
लोटना अंतिम किरण का और होना अस्त ।।"

उत्तर मे—

"कहा मनु ने तुम्हे देखा अतिथि कितनी बार ।
किंतु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार ।।"

इसके बाद शृंगार की पराकाष्ठा 'कर्म' के अंतिम छदों मे समेट कर रख दी गयी है। श्रद्धा और मनु के निरंतर मधुमय कथोपकथन के उपरांत—

"और एक फिर व्याकुल चुम्बन, रक्त खौलता जिससे।
शीतल प्राण धधक उठता है, तृषा तृप्ति के मिस से॥
दो काठों की संधि बीच उस निभृत गुफा में अपने।
अग्नि शिखा बुझ गई, जागने पर जैसे सुख सपने॥"

(कर्म)

इसके अनंतर मनु मे हिंसक भावनाएं जाग उठती हैं, वासना की प्रतिक्रिया हिंसा मे ही होनी भी थी। मन मे हिंसा की उत्पत्ति से कर्म मे प्रवृत्ति होती है—मनु को भी हुई थी, आज भी सभी को होती है। हिंसा मे एक बार प्रवृत्ति हो जाने पर कर्म शृंखला मजबूत हो जाती है। कर्म अधिकार चाहता है। इसका परिणाम होता है श्रद्धा से विरक्ति, यहां मनु श्रद्धा हीन हो जाते है—श्रद्धा हीनता के मूल में ईर्षा की भावना है। यह ईर्षा मनुष्य की बुद्धि जाग्रत करती है, यह बुद्धि इडा के रूप मे है।

इडा (बुद्धि) की मन्त्रणा से ज्ञान-विज्ञान की उन्नति होती है, अधिकार बनते है। बुद्धिवादी मनुष्यों के द्वारा कृत्रिमता का विकास होता है, पर मनु (मन) को नियमों का पालन सदा असह्य रहा है। अधिकारों की आकांक्षा 'संघर्ष' को जन्म देती है। इडा के अतिचार से अर्थात् बौद्धिक व्यभिचार के कारण प्रजा कुपित हो जाती है। विद्रोहिनी प्रजा मनु को घायल कर देती है। इस स्थान पर आकर 'प्रसाद' जी न केवल मानव मनोविज्ञान के विकास की विवेचना करते है, बल्कि सामाजिक मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति कर उठते हैं। इस बौद्धिक पराजय के अवसर पर श्रद्धा सहसा प्रगट होती है, जो मनु (मन) की रक्षा कर लेती है। इडा हार मान कर कहती है—"मेरा साहस अब गया छूट।"

वैभव, विलास और अधिकारों के प्रति संघर्ष-जनित उपेक्षा निर्वेद की रूपरेखा निश्चित करती है। श्रद्धा का वास्तविक मूल्य तभी पहचाना जा सकता है। मनु विलास को त्यागकर तपस्या को प्रश्रय देते है। परन्तु सूखी तपस्या तो भ्रान्ति को ही बढ़ाने वाली सिद्ध होती है, इस भ्रान्ति को दूर करने का मूल-मंत्र श्रद्धा को ही आता है। श्रद्धा ही मन को उस रहस्य-मय लोक में ले जाने मे समर्थ है जहां इच्छा, ज्ञान और कर्म अपने तात्त्विक रूपों मे जाने जा सकते हैं। विश्व की समस्त विषमता इन तीनों के उचित सामजस्य के अभाव के कारण है। और अन्त मे श्रद्धा की ही प्रेरणा से इच्छा, सम और कर्म का सामंजस्य हो सकता है, जिससे समस्त चेतना चिरंतन आनंद मे मग्न हो जाती है। साराश मे, श्रद्धा वृत्ति ही मन को चिरंतन आनंद तक पहुंचाने मे समर्थ है। बुद्धिवाद (इडा) उसमे बाधक होता है।

शान्त रस की स्थापना पर तो 'कामायनी' का ध्येय ही आश्रित समझना चाहिए। अधिक उदाहरण न देकर 'कामायनी' के अन्तिम चरण को उद्धृत किया जाता है।

"समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था॥"

प्रकृति-चित्रण—प्रकृति के विविध रूप 'कामायनी' मे चित्रित किये गये हैं। प्रकृति के पंच तत्त्वों का प्रबल संघर्षण तो जल-प्लावन का आधार ही रहा है। प्रकृति के भयावने दृश्यों को छोड़ कर उसकी कोमलता के उदाहरण देना ही उपयुक्त प्रतीत है। प्रातःकाल का बड़ा ही मनोरम रूप 'कामायनी' मे है—

"उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई।"

"नव कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीडा करता, जैसे मधुमय पिंग पराग।"

(आशा)

रात्रि का भी एक मनोहारी चित्र देखिए—

"सृष्टि हँसने लगी, आखों मे लिखा अनुराग।
राग जित चंद्रिका थी, उड़ा सुमन पराग॥"
"देवदार निकुंज गह्वर, सब सुधा मे स्नात।
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात॥
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गन्ध।
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध॥"

(वासना)

प्रकृति के इस सौन्दर्य-वर्णन के अतिरिक्त पशु तथा मानव-प्रकृति के सजीव चित्र भी 'कामायनी' मे मिलेंगे। श्रद्धा और पशु के चित्रण मे पशु की प्रकृति का कैसा मांसल चित्रण है—

"चपल कोमल कर रहा फिर सतत पशु के अग।
स्नेह से करता चमर उद्ग्रीव हो वह संग॥
कभी पुलकित रोम राजी से शरीर उछाल।
भाँवरों से निज बनाता अतिथि-सन्निधि जाल॥
कभी निज भोले नयन से अतिथि वदन निहार।
सकल संचित स्नेह देता दृष्टि पथ से ढार॥"

'वासना'

मानव प्रकृति का सूक्ष्म चित्र भी साथ साथ ही चलता रहता है, श्रद्धा के पशु के प्रति स्नेह को देखकर मनु के हृदय मे ईर्ष्या की आग महक उठती है, यह स्वाभाविक ही है। 'ईर्ष्या' का अध्याय तो मानव- प्रकृति का सफल चित्र है ही।

सर्गगत विशेषता—

शास्त्रानुसार आठ से अधिक १५ अध्याय कामायनी मे हैं। सर्गों की शृंखला ऐसी एक-सूत्रता में बँधी है कि कलाकार की काव्य-निर्माणकारी शक्ति की प्रशंसा ही करते बनती है। प्रत्येक सर्ग अगले सर्ग की घटना का आभास अपने अन्त मे देता चलता है, जिससे कथा मे एक सूत्रता तो आती है, साथ ही उत्सुकता का जन्म होकर मन कथा में तन्मय होता चलता है।

'चिन्ता' के अन्त मे 'आशा' की ओर संकेत करते हुए 'प्रसाद' जी ने सर्गान्त की विशेषता का निर्वाह बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है—

'वाष्प बना उजड़ा जाता था या वह भीषण जलसंघात।
सौर-चक्र मे आवर्तन था, प्रलय-निशा का होता प्रात॥"

इसी प्रकार 'लज्जा' के अन्त मे 'कर्म' की सूचना है।

"आँसू से भीगे अचल पर,
मन का सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मिति रेखा से,
यह संधि-पत्र लिखना होगा।"

उपर्युक्त विवेचन से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि 'कामायनी' शास्त्रीय दृष्टि-कोण से भी सफल महाकाव्य है।

वास्तव में, 'कामायनी' मे भाषा की गंभीरता, शैली की परिमार्जितता, छन्दों की विविधता, अलंकारों का सुन्दर उपयोग और रस तथा ध्वनि की पुष्टि एवं अभिव्यक्ति है। न केवल काव्य की आत्मा का तेज इसमे है, वरन् काव्य-शरीर का ओज, सौष्ठव एवं सौन्दर्य भी इसमे है। भाव और भाषा दोनों का ऐसा

सुन्दर सामजस्य भारतीय साहित्य मे रामचरित मानस को छोडकर अन्यत्र कहीं नही मिलेगा।

काव्य का आन्तरिक परिचय तो पिछले दृश्यों मे बहुत कुछ दिया जा चुका है, अब थोडा प्रकाश 'कामायनी' के बाहरी रूप-रंग पर डालना अप्रासंगिक न होगा। काव्य के बाहरी उपकरणों में मुख्य रूप से अलकार, भाषा, काव्य के गुण—ओज-प्रसाद-माधुर्य और दोषों को ही माना जाता है। 'कामायनी' का बाह्य सौन्दर्य भी प्रशसनीय ही है।

अलंकार—'कामायनी' मे विहित अनेक अलकारों मे उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा ही मुख्य है। इन अलंकारों से काव्य भरा पडा है। निःसन्देह कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य मे उपमा और उत्प्रेक्षाओं का सफल महाकाव्य केवल 'कामायनी' ही है। 'कामायनी' के ये अलकार उसमे भारस्वरूप नहीं आये हैं, अपितु स्वाभावतया आने के कारण काव्य का सौन्दर्य ही बढाते हैं।

मालोपमा—

माधवी निशा की अलसाई,
अलकों मे लुकते तारा-सी।
क्या हो सूने मरु अञ्चल मे,
अन्तः-सलिला की धारा-सी॥"

× × ×

उल्लेख—

"कामना की किरण का जिसमे मिला हो ओज।
कौन हो तुम, इसी भूले हृदय की स्वर खोज॥"

"कौन हो तुम विश्व माया कुहुक-सी साकार।
प्राण-सत्ता के मनोहर भेद-सी साकार॥"

'लज्जा' का समस्त अध्याय तो मानों अलंकारों का भण्डार ही बन गया है। श्रद्धा के सौन्दर्य-वर्णन में अलंकारों की सृष्टि तो देखते ही बनती है—मालोपमा का इतना विस्तृत और मनोहारी उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ ही नही असभव है। एक उपमेय श्रद्धा के लिए अनेक उपमानों की सृष्टि 'प्रसाद' जी का उपजाऊ मस्तिष्क ही कर सकने मे समर्थ था।

श्रद्धा 'क्या थी मानो—
"कुसुम-वैभव मे लता-समान।
चंद्रिका से लिपटा घनश्याम॥"

× ×

"हृदय की अनुकृति बाह्य उदार।
एक लम्बी काया उन्मुक्त॥"
मधु पवन क्रीडित ज्यों शिशु साल।
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त॥"

× ×

"नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग!
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥"

'श्रद्धा' के सर्ग मे एक में अनेक अलंकार उलझे पड़े हैं।

भाषा और काव्य के गुण—

भाषा के दृष्टिकोण से तो 'कामायनी' खडी बोली कविता का अकेला और सफल महावाक्य है। ऐसी विषयानुकूल भाषा

महाकवियों की ही अपनी विशेषता हुआ करती है। कामायनी मे जहां गम्भीर भाव हैं, वहाँ भाषा मे भी गांभीर्य आ गया है। और कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा कोमल, सरस और संगीतमयी हो गयी है। श्रद्धा का गीत भाषा की कोमलता, सरसता और संगीतात्मकता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

"तुमुल कोलाहल कलह मे,
मै हृदय की बात रे. मन!"—यह गीत

'निर्वेद' सर्ग मे श्रद्धा मधुर स्वर मे गा रही है।

'कामायनी' का ओज गुण भी दर्शनीय और अतुलित' है—

"छूट चले नाराच, धनुप से तीक्ष्ण नुकीले।
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले पीले॥
ताडव मे थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल थे।
नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे॥
× × ×
बहते विकट अधीर विषय उंचास वात थे॥ (संघर्ष)

भावों के वेग के साथ मानों शब्दों की सृष्टि स्वयं उंचास पवन बन कर उमड रही हो।

"मै क्या दे सकती तुम्हे मोल,
रह हृदय 'अरे' दो मधुर बोल॥
मै हँसती हूँ, रो लेती हूँ,
मै पाती हूँ, खो देती हूँ।
इससे ले उसको देती हूँ,
मै दुख को सुख कर लेती हूँ॥ (दर्शन)

कुल मिलाकर यह निस्सकोच भाव से कहा जा सकता है कि 'कामायनी' भाव, भाषा और काव्य-सौन्दर्य सब की दृष्टि से आधुनिक साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

'कामायनी' मे सामयिक संघर्ष—यद्यपि 'कामायनी' का आधार प्रागैतिहासिक काल की घटना है, बीते हुए युग का चित्रण 'कामायनी' मे है, किन्तु इसकी सब से बडी विशेषता यह भी है कि यह सामयिक अर्थात् आज के युग का संघर्ष भी हमारे सन्मुख प्रस्तुत करती है। मनु ने मानवता का एक सर्वथा नूतन युग चलाया था, एक नवीन युग की प्रतिष्ठा की थी। 'कामायनी' मे आज के युग की विद्रोही भावना है, और उस भावना का समाधान भी है। विज्ञानवाद ने हमारे समाज की जड़ें किस प्रकार खोखली बना दी है, उसी का मधुर चित्रण इस काव्य मे है।

बुद्धि की निंदा द्वारा 'बुद्धिवाद' के विरुद्ध उस आधुनिक आन्दोलन की ओर 'कामायनी' सकेत करती है, जिस आन्दोलन का नेतृत्त्व अनातोले फ्रांस ने किया था। उसका कहना था—"बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड कर सब कुछ सिद्ध हो सकता है। बुद्धि पर मनुष्य को विश्वास नहीं होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली-बुरी प्रवृत्तियों को ठीक प्रमाणित करने के लिए लेते है।" ठीक यही बात प्रसाद जी ने भी कही है—

'और सत्य ! यह एक शब्द तू, कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पंजर का, पाला हुआ सुआ है॥
सब बातों मे खोज तुम्हारी रट, सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के वनता छुई-मुई है॥" (कर्म)

विज्ञान के द्वारा सुख की सरल सामग्री की वृद्धि के साथ साथ विलासिता और सब कुछ बटोर रखने की लोलुपता की असीम वृद्धि तथा यन्त्रों के परिचालन से जनता के बीच फैली हुई असीम अशक्तता, एवं दरिद्रता के कारण वर्तमान जगत् की जो दुरवस्था हो रही है, उसका भी आभास मनु की विद्रोही प्रजा के बहाने 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' मे दिया है—

"तुमने योग क्षेम से अधिक संचय वाला।
लोभ सिखाकर इस विचार संकट मे डाला ॥
हम संवेदन शील हो चले न ही मिला सुख।
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख ॥
प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दो जर्जर झीनी ॥"—(संघर्ष)

आज की अहिंसक तथा साम्यवादी भावनाओं की चर्चा भी, कुछ छिपी, कुछ प्रत्यक्ष-सी, 'कामायनी' मे है। श्रद्धा मनु से कहती है—

"और किसी की फिर बलि होगी,
किसी देव के नाते।
कितना धोखा उससे तो हम,
अपना ही सुख पाते ॥"

× × ×

"सुख को सीमित कर अपने मे,
केवल दुख छोडोगे।
इतर प्राणियों की पीडा लख,
अपना मुँह मोडोगे ॥ (कर्म)

आज के प्रगतिवादियों की भाँति पूरे वेग से 'प्रसाद' जी नूतन मानव-सृष्टि की रचना के लिए रूढि की शृंखलाओं को खंड खंड कर देने के लिए ललकारते हैं। कवि की श्रद्धा कहती है—

"प्रकृति के यौवन का शृङ्गार,
करेगे कभी न बासी-फूल।
मिलेगे वे जाकर अति शीघ्र,
आह उत्सुक है, उनकी धूल ॥

पुरातनता का यह निर्मोक,
　　सहन करती न प्रकृति पल एक।
नित्य नूतनता का आनन्द
　　किये है परिवर्तन मे टेक॥" (श्रद्धा)

इस तरह 'कामायनी' मे युग का चित्रण भी है, और 'कामायनी' का कवि युग के साथ है।

उपसंहार—

'प्रसाद' जी की 'कामायनी' मे कला स्वयं मानव बन कर आयी है। 'प्रसाद' जी जैसे महान् कलाकार के व्यक्तित्व की तथा महामानव की कलाकारिता की अभिव्यक्ति ही 'कामायनी' है। यहा कवि जीवन के रहस्य और तत्त्व को पा गया है और अपने एवं मानव मात्र के सम्बन्ध मे एक निष्कर्ष पर पहुँच गया है। समस्त शंकाओं का समाधान कवि ने 'कामायनी' मे पाया है।

'कामायनी' वस्तुतः मानवता की विजय का काव्य है। जीवन की अनेक विभीषिकाओं के बीच मानवता की विजय का ऐसा सम्पूर्ण चित्र अन्य किसी साहित्य मे मिलेगा? 'कामायनी' में कवि ने मानव की संकुचित दृष्टि को विशाल कर दिया है। उसने इस दुःख-द्वन्द्व के प्रति हमे उचित और सतर्क दृष्टि ग्रहण करने को विवश किया है और इसका परिणाम यह हुआ है कि समस्त तूफ़ानी परिस्थितियां विलीन हो जाती हैं। पूर्ण समरसता का अनुभव रह जाता है और मानवता की आनन्द की साधना पूर्ण होती है।

'कामायनी' पर लिखते हुए 'कामायनी' के आनन्द की साधना के बारे मे पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं —"यह आनन्दवाद वल्लभाचार्य के 'काय' या

आनन्द के ढंग का न होकर, तांत्रिकों और योगियों की अन्तर्भूमि पद्धति पर है।" (हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८२६) किन्तु मै श्रद्धेय शुक्ल जी की इस बात को नही समझ पाया और इससे सहमत नही होता हुआ मानता हूँ कि 'आनन्द की यह साधना' किसी तत्त्ववेत्ता अथवा योगी की साधना नही है। यह तो इसी संघर्ष, ईर्ष्या, वासना इत्यादि के बीच ठोकरे खाती हुई और पग-पग पर अनुभवों से दृढ, संस्कृत और विकसित होती हुई साधना है। यह मानवता के बीच ही मानवता की विजय अथवा आनन्द-यात्रा है। यहां मंगल का सन्देश संसार से ऊपर उठकर नही. संसार मे रहते, चलते हुए ही मिलता है।

वास्तव मे 'कामायनी' में कवि 'प्रसाद' के काव्य की पूर्णता हुई है। उनके काव्यादर्श की सम्पूर्ण परिणति 'कामायनी' मे आकर हुई है। 'प्रसाद' जी का सम्पूर्ण काव्य एक स्वस्थ चेतना की व्यापक अनुमति को लेकर विकसित हुआ है, और 'कामायनी' मे आकर उनकी काव्यधारा विराट-सिन्धु मे विलीन हो गयी है।

'कामायनी' को छोड कर 'प्रसाद' जी की काव्य प्रवृत्ति देखने के लिए थोडा और पीछे जायें तो 'कामायनी' का सन्देश और उसकी महता और भी निखरेगी। 'प्रसाद' जी मानवता के लिए स्वास्थ्यकर साहित्यक पृष्ठभूमि की रचना मे प्रारम्भ से ही सतर्क थे। आरम्भ मे आपने इसके लिए प्राकृतिक उपादान चुने इसका कारण यही था कि कवि मनुष्य और प्रकृति के बीच सामजस्य और एकता स्थापित करना चाहता था। आगे चलकर जैसे-जैसे 'प्रसाद' जी की आस्था बढ़ती गई, और उनकी बुद्धि विवेक तथा अनुभवों से पुष्ट होती गई, कवि का विकसित रूप हमारे सामने आता गया, उनकी रचनाओं में उत्तरोत्तर

परिष्कार और विकास ही होता गया, उनका इस दशा का विकसित काव्य प्रवृति के रहस्यों के प्रति कौतूहल से भरा हुआ है, आगे चलकर यह कौतूहल जिज्ञासा मे बदल जाता है। इस जिज्ञासा के कारण सृष्टि के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। इस प्रीति के विकास मे सौन्दर्य-बोध और फिर सृष्टि के कल्याण की दृढ चेतना का विकास होता है। 'कामायनी' इसी विश्व-कल्याणकारी चेतना का सुन्दर और विशाल रूप है। निष्कर्ष यह कि 'प्रसाद' जी का अन्तिम चमत्कार महाकाव्य 'कामायनी' न केवल हिंदी-साहित्य वरन् समस्त भारतीय साहित्य मे एक अनुपम रचना है। 'प्रसाद' जी यहां बहुत ही ऊँचाई पर दिखाई देते हैं। मानवी सृष्टि, उसके विकास एव उसकी स्थिति को लेकर जीवन की जिस महान् धारणा और सत्य का इस महाकाव्य मे प्रत्यक्षीकरण है, वह अपनी सूक्ष्म, किन्तु विशाल कल्पना, दार्शनिक गंभीरता एवं मनो-वैज्ञानिकता मे अपूर्व है। कवि यहां आकर वस्तुत. स्रष्टा हो गया है। सचमुच 'कामायनी' एक परिपूर्ण सृष्टि है। ऐसी उदात्त भावना और उसका इतना मनोहर निर्वाह विश्व-साहित्य मे कम ही देखने को मिलेगा। 'कामायनी' जीवन रूपी समुद्र के मंथन का अमृत है। सचमुच 'कामायनी' प्रसाद जी की जीवन-साधना की परिपूर्णता की प्रतीक है। 'कामायनी' की असाधारणता, उसकी गहराई, उनकी ऊँचाई हमे आश्चर्य चकित कर देती है. और इसी से 'कामायनी' की महत्ता का अनुभव शीघ्र नहीं हो पाता। धीरे-धीरे आश्चर्य के बादल फटते जाते हैं, और आनन्द का अनुभव होने लगता है।

वास्तव में वर्तमान् हिंदी-साहित्य-ससार मे प्रथम वार एक ऐसा दिव्य महाकाव्य प्रकाशित हुआ है, जिसे निःसंकोच भाव से 'सार्वभौम-साहित्य' मे गिन सकते हैं। यही महाकाव्य

योरोप की किसी भाषा मे लिखा गया होता तो न जाने कितने 'नोवल पुरस्कार' इसके चरणों मे बिखरते।

—विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' साहित्यरत्न

हिन्दी में निर्गुण मत का साहित्य

धीरवीर हम्मीर देव के पतन के साथ ही हिन्दुओं के युद्ध जीवन और उत्साह का लोप हो गया। मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हुआ और हिन्दुओं की दशा बडी शोचनीय हो गई। उन पर भाति भाति के अत्याचार होने लगे। परिणामतः वे युद्ध आदि से विरत होकर और पुनरुत्थान की आशा छोड़ वैराग्य और ईश्वराराधना की ओर प्रवृत्त हुए। वे सगुण ब्रह्म की उपासना को निष्फल समझते थे, क्योंकि वे देख चुके थे कि मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले मुसलमानों का उन साकार देवों ने कुछ भी नही बिगाडा। इसी प्रकार सगुण और साकार ईश्वर की उपासना की निःसारता और निर्गुण ब्रह्म की उपासना का एक आन्दोलन उठ खडा हुआ। इस निर्गुण पन्थ के प्रमुख प्रवर्त्तक कबीर साहब थे। ये स्वामी रामानन्द के १२ शिष्यों मे से मुख्य थे। कबीर साहब ने गुरु रामानन्द से अद्वैतवाद के और सूफी सन्तों से एक प्रभु के संस्कार प्राप्त किये। इनकी वाणी मे दोनों विचार स्पष्ट दीख पडते हैं। ये ऐसी सामान्य निर्गुण ब्रह्मोपासना का प्रचार करना चाहते थे जिसमे हिन्दू-मुसलमान और ऊंच-नीच का कोई भेद न हो। कबीर आदि इन्हीं निर्गुण ब्रह्म की उपासना के प्रचारको के मतानुयायियों का पन्थ निर्गुण-पन्थ कहलाया।

निर्गुण-भक्ति दो शाखाओं मे विभक्त है—ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेममार्गी शाखा। ज्ञानाश्रयी शाखा वालों ने भारतीय

ब्रह्मज्ञान का खूब उपदेश दिया और सगुण-भक्ति का घोर विरोध किया। इन्होंने बाह्य आडम्बरों को कुचल डाला, भेद भाव के भूत को भगा दिया। मुसलमानों के समानता के भाव देखकर हिन्दू-समाज मे एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई और दर्जी, चमार, धुनिया और जुलाहा जैसी नीच समझी जाने वाली जातियों मे यथाक्रम नामदेव, रैदास, दादू और कबीर जैसे भक्त पैदा हुए। उनके जीवनों तथा उपदेशों से करोड़ों भारत-वासियों का उपकार हुआ। इस शाखा के प्रचारक जिन्हें साधारणतः 'सन्त कवि' कहते है, ये है—कबीर, धर्मदास, नानक, दादूदयाल, सुन्दरदास और मलूकदास आदि। इन सन्त कवियों की वाणियों, कविताओं मे न तो विहारी और केशव का सी प्रांजलता और न सूर तथा तुलसी की सी सरसता ही उपलब्ध होती है; परन्तु भाषा और शैली के ऊटपटांग होने पर भी इनकी रचनाएं महान् सन्देशों और उदार उपदेशों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं।

निर्गुण शाखा का प्रधानतम ग्रन्थ सुंदरदास का सुंदरविलास है। इसमे कवित्त और सवैया छन्दों का अधिक प्रयोग है। अनुप्रास और यमक आदि अनेक अलंकारों के उचित उपयोग से ग्रन्थ खूब सुन्दर बना है। सच तो यह है कि सारे सन्त कवियों मे केवल सुन्दरदास ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने काव्यकला का अध्ययन किया था। यही कारण है कि जहां इस पन्थ के अन्य ग्रन्थ छन्द, तुक आदि के अनेक दोषों से युक्त हैं, वहां सुंदरविलास उन दोषों से बिल्कुल मुक्त है। इसकी भाषा भी खूब परिमार्जित है। इसमे भिन्न भिन्न भाषाओं के कठिन कठोर शब्दों का उच्चावच प्रयोग नहीं हुआ। निम्नाङ्कित पद्य से इनके काव्य-प्रेम का पर्याप्त परिचय मिलता है।

बोलिए तो तब जब बोलिबे को बुद्धि होय,
न तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिये।
जोरिए तो तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक, छन्द, अरथ, अनूप, जामे लहिये॥
गाइये तो तब जब गाइबे को कण्ठ होय,
श्रवण के सुनत ही मनै जाय गहिये।
तुकभग छन्दभग, अरथ मिलै न कछु,
'सुन्दर कहत ऐसी वानी नहिं कहिये॥

निर्गुण-पन्थ की दूसरी शाखा प्रेममार्गी (सूफी) कवियों की है। इस शाखा मे अनेक कवि हुए, जिनमे से मुख्य ये है—कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, शेखनबी, कासिमशाह और नूरमुहम्मद। इन्होंने काल्पनिक कथाओं द्वारा प्रेम-मार्ग की महिमा का मनोहर वर्णन किया है। उन प्रेम-कथाओं मे सासारिक प्रेम के बहाने लोगों को ऐसे प्रेमतत्त्व की झलक दिखाई गई है जिससे वे परम-प्रभु को पा सकें। इन्होंने राजकुमारों और राजकुमारियों की साधारण प्रेम-कथाओं मे जिस 'प्रेम की पीर' को व्यक्त किया है वह अलौकिक जान पडती है। इन प्रेम-मार्गियों की ये रचनाएं खण्डन-मण्डन से रहित हैं और हिन्दू-मुसलमान दोनों के दिलों पर समान रूप से प्रभाव डालने वाली हैं। इन प्रेम-कथाओं के बीच बीच मे रहस्य पूर्ण परोक्ष की ओर जो सकेत किये गये हैं, वे ऐसे मनोहर और मर्म-स्पर्शी है कि कोई प्रभावित हुए विना नही रह सकता। इस शाखा के कवि प्रायः मुसलमान थे। इन्होंने इन कथाओं मे प्रायः दोहा चौपाई छन्दों का तथा अवधी भाषा का प्रयोग किया है। ये सभी रचनाएं साहित्यिक हैं. सन्त कवियों की तरह उपदेशात्मक नही।

प्रेममार्गी-शाखा का प्रधानतम ग्रन्थ मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत' है । इसका पूर्वार्ध तो कल्पनाओं पर आश्रित है और उत्तरार्ध ऐतिहासिक घटनाओं पर। इसमें चित्तौड़ के राणा रतनसेन, और रानी पद्मिनी के परिणय और अलाउद्दीन के आक्रमण आदि का बड़ा सरस और मनोरम वर्णन है। कथा के बीच मे साधना का मार्ग, उसकी अड़चनें और सिद्धि के स्वरूप के सम्बन्ध में मार्मिक संकेत किये गए है। ग्रन्थ के अन्त मे जायसी ने सारी कथा को आध्यात्मिक रूप दे दिया है। वे कहते है—शरीर चित्तौड है. आत्मा रतनसेन है, बुद्धि पद्मिनी और माया अलाउद्दीन है। है । ग्रंथरचना फ़ारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। सस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों की सी सर्गपद्धति पर नहीं। इसमे शृगार और वीरता आदि का वर्णन भारतीय परम्परा के अनुसार है। विविध अलङ्कारों का प्रयोग बड़े कौशल से किया गया है। विरह-वर्णन मे तो जायसी का बहुत ऊचा स्थान है। पद्मिनी का रूप वर्णन पढ़ कर चित्त चमत्कृत हो जाता है। उदाहरणार्थ—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई।।
ससिमुख अंग मलयगिरिवासा। नागिनी झापि लीन्ह चहुँ पासा।।
ओनई घटा परी जग छांहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा।।
भूमि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा मुँह चँद देखावा।।

पद्मावत अवधी भाषा मे लिखा गया है। इसमे फारसी के शब्दों तथा वाग्धाराओं का पर्याप्त व्यवहार हुआ है। कथा की रोचकता, भाषा की मधुरता, छन्दों का सौष्ठव, अलंकारों की सुंदरता, प्राकृतिक दृश्यों की वर्णन-मनोहरता और स्वयं जायसी की उदारता के कारण यह ग्रंथ हिंदी साहित्य का एक जगमगाता हीरा है।

—ग्रनीश्राना

हिन्दी समाचारपत्र वा पत्रिकाओं के क्रमिक इतिहास का सिंहावलोकन

भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उन्नेता थे। उनके द्वारा प्रोत्साहित कवियों तथा लेखकों का एक ऐसा समुदाय तैयार हो गया जिसने समय पाकर हिंदी की सराहनीय सेवा की। भारतेंदु के जीवनकाल मे ही स्वय भारतेंदु तथा उनकी इमी मण्डली के लेखकों द्वारा हिंदी के अनेक पत्र निकाले गये।

हिंदी का प्रथम उत्कृष्ट पत्र भारतेंदु का 'कविवचनसुधा' था। यद्यपि इससे पूर्व राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' आदि दो चार छोटे मोटे पत्र निकलते थे, तथापि भाषा की दृष्टि से ये उत्कृष्ट अथच हिंदी के नहीं कहे जा सकते भारतेंदु के कविवचनसुधा के साथ ही ब से बाबू नवीनचन्द्रराय द्वारा ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका निकाली गई। फिर तो हिंदी के समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं की बाढ सी आ गई।

उस काल मे भिन्न भिन्न सवत मे नीचे लिखी पत्र-पत्रिकाए निकली—अल्मोडा अखबार सवत् १९२८, हिंदी दीप्ति प्रकाश तथा बिहारबधु १९२९, सदादर्श १९३१, काशी-पत्रिका तथा भारतबधु १९३३, भारतमित्र, मित्र विलास, हिंदी प्रदीप १९३४, सारसुधानिधि तथा उचितवक्ता १९३५, सज्जनकीर्त्तिसुधाकर, भारत-सुदशाप्रवर्तक १९३६, आनदकादम्बिनी तथा देश-हितैषी १९३९, दिनकर-प्रकाश, धर्म-दिवाकर, प्रयाग समाचार, ब्राह्मण, शुभचिंतक, सदाचार, मा ́ एड, हिंदोस्तान १९४०, कविकुल-दिवाकर, पीयूष-प्रवाह, भारतजीवन, भारतेंदु १९५१। इन पत्र-पत्रिकाओं मे से बहुत सी अल्पायु थी।

बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने संवत् १६२८ मे ककलत्ते से हिन्दी-दीप्ति-प्रकाश पत्र तथा प्रेम विलासिनी पत्रिका निकाली थी। ये दोनों पत्र वस्तुतः अच्छे थे और इनके सम्पादक भी अत्यन्त उत्साही थे, तथापि इन पत्रों को दीर्घ आयु प्राप्त न हुई। संवत् १६३४ मे 'भारत मित्र कमेटी' ने भारतमित्र निकाला। यह तब से अब तक हिन्दी संसार की स्तुत्य सेवा करता आ रहा है। इसी समय पं० गोपीनाथ ने लाहौर से मित्रविलास निकालना आरम्भ किया। इससे पूर्व पंजाब से हिन्दू बान्धव और ज्ञान-प्रदायिनी निकल रहे थे। सम्वत् १६३५ मे कलकत्ते से दुर्गाप्रसाद मिश्र ने उचितवक्ता तथा सारसुधानिधि निकाल कर हिन्दी की एक खटकने वाली कमी को पूरा किया। संवत १६४० मे राजा रामपालसिंह ने हिन्दी मे हिन्दोस्थान पत्र प्रकाशित किया। १६४० में यह दैनिक कर दिया गया और चिरकाल तक चलता रहा। प० मदनमोहन मालवीय, प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकन्द गुप्त आदि इसके सम्पादक बनते रहे। सारांश यह कि निम्नलिखित पत्रों ने हिंदी तथा हिंदी जनता की अच्छी सेवा की—विहारबन्धु, भारतमित्र, उचितवक्ता, आर्यदर्पण, ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप और हिन्दूस्थान। इनके थोड़े दिन पीछे प्रयाग से प्रख्यात पत्रिका 'सरस्वती' निकली। अनेक सुयोग्य विद्वानों ने समय समय पर उसका सम्पादन किया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने इसे खूब चमकाया। वे २०-२२ वर्ष तक इसका सम्पादन करते रहे। इनके प्रोत्साहन तथा मार्गप्रदर्शन से अनेक उत्तमोत्तम कवि और लेखक हिन्दी जगत को मिले। एतदनन्तर विशालभारत (कलकत्ता), सुधा (लखनऊ), कल्याण (गोरखपुर), माधुरी (लखनऊ), चांद (प्रयाग), हंस (बनारस), विश्वमित्र, विजय (कलकत्ता), शान्ति (लाहौर) आदि कई मासिक पत्रिकाएं निकलीं,

जो अब तक सफलतापूर्वक चल रही हैं तथा त्यागभूमि, महारथी, युगान्तर, भारती आदि निकल कर बन्द हो चुकी हैं, सप्ताहिकों मे से प्रताप (कानपुर), विश्वमित्र (कलकत्ता), अर्जुन (दिल्ली), हिन्दी मिलाप (लाहौर) विश्वबन्धु (लाहौर), आर्यमित्र (आगरा), दिवाकर (आगरा), प्रभाकर (आगरा), और हास्यरस के मतवाला, मदारी, हिन्दूपञ्च आदि अच्छे हैं। बालोपयोगी पत्रों मे बालसखा, अच्छे भैया, बाल मित्र आदि अच्छे है। दैनिकों मे अर्जुन (दिल्ली), नवयुग (दिल्ली), हिन्दुस्थान (दिल्ली), हिन्दी-मिलाप (लाहौर), आज (बनारस), विश्वमित्र (कलकत्ता) अभ्युदय (प्रयाग) एवं हिन्दू संसार, नवजीवन, विश्वबंधु एवं भारत आदि उत्तमोत्तम पत्र निकलते हैं।

—ग्रनीभ्राना

---

(१०)

काव्य भाषा के रूप और काव्य रचना की विभिन्न शैलियां

काव्यभाषा—हिन्दी-काव्य मे मुख्यतया अवधी, ब्रजभापा और खडी बोली का व्यवहार हुआ है।

अवधी-इसका प्रचार अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर, तथा मध्यप्रदेश, के कई भागों मे है। इसमे तीन मुख्य बोलियां है—अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढी। अवधी की पुनः दो शाखाएँ हैं-पश्चिमी तथा पूर्वी। पश्चिमी पर ब्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव पडा है। अवधी मे शब्दों के प्रायः तीन रूप होते हैं; जैसे घोड़े, घोडवा, घोडौना; नारी, नरिया तथा नरीवा आदि। अवधी में संज्ञाओं के साथ ये विभक्तिया लगती हैं-कर्ता-(आकारान्त

शब्दों मे सकर्मक क्रिया के साथ) कर्म—के, काँ, कहँ। करण—से सन, सौं। सम्प्रदान—के, कॉ, कहँ। अपादान—से, ते, सेंती, हुँत। सम्बन्ध—कर (क), कै (स्त्री०) अधिकरण—मे, माँ, महँ, पर। इसमें विशेषणों का लिंग विशेष्य के अनुसार बदल जाता है, जैसे—अपना-आपनि, ऐस-ऐसि आदि। मैं और तू सर्वनामों के रूप भी कुछ भिन्न हैं, जैसे—

	एकवचन			बहुवचन		
सर्वनाम	कर्ता	विकारी	सम्बन्ध	कर्ता	विकारी	सम्बन्ध
मैं	मैं	मो	मोर	हम	हम हमारे	हमार हमरे
तू	तैं	तो	तोर	तुम तू	तुम तुम्हारे	तुम्हार तुम्हारे तुमरे तोहार तोहरे

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस की तथा जायसी आदि प्रेम-मार्गी शाखा के कवियों ने 'पद्मावत' आदि की रचना अवधी मे ही की है।

व्रजभाषा—यह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है। यह विशेषतया व्रजमण्डल तथा सामान्यतया कई अन्य जिलों मे भी बोली जाती है। इसमे 'इ' को 'य' और 'उ' को 'व' बोला जाता है, जैसे—जइहै, जायहै, पइहै, पायहै। 'को' को 'कौं' 'मे' को 'मैं', 'से' को 'सों' तथा 'मे' को 'मैं' बोला जाता है। इसमे सामान्य क्रिया बनाने के लिए धातु के अन्त मे तीन प्रत्यय लगाये जाते हैं—नो, न और बो, जैसे—लेनो, देनो, करनो, मरनो; लेन, देन, आन, जान; लीबो, दीबो, करिबो, भरिबो।

क्रियाओं के अन्त में प्राय. 'ओ' आता है, जैसे—धरतो, परतो, करतो, लाओ, खिलाओ। प्रायः भूतकाल मे धातु के अन्तिम स्वर को 'यो', वर्तमान मे धातु के पीछे 'त' या, 'य' और भविष्यतकाल मे 'इहौं' लगाया जाता है, जैसे—धार्यो उबार्यो, खेलत, पीवत, चखत, करिहौं, भरिहौं, आदि। प्रवर्तना मे धातु के अन्तिम स्वर को 'उ' हो जाता है, जैसे—देखु, पढ़ु,। जा और हो धातुओं के भूत-काल मे दो दो रूप होते हैं, जैसे गयो, गो, भयो, भो।

मै, तू और वह सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

शब्द	वचन	कर्ता	कर्म	करण	सम्प्र०	अपा०	संबंध	अधिकरण
मैं	एक०	मोको हौं	मोको मोहि	मोसे मोसों	मोको मोहि	मोसे मोसों	मो मेरो	मोमें मोपै
	बहु०	हम	हमको हमहि	हमसे हमसों	हमको हमहि	हमसे हमसो	हमरो हमारो	हममें हमपै
तू	एक०	तू तै	तोको तोहि	तोसे तोसे	तोको तोहि	तोसे तोसों	तो तेरो	तोमें तोपै
	बहु०	तुम	तुमको तुमहि	तुमसे तुमसो	तुमको तुमहि	तुमसे तुमसो	तुम्हरो तुम्हारो	तुममें तुमपै
वह	एक०	वो वह सो	वाको वाहि ताको ताहि	वासे वासों तासे तासों	वाको वाहि ताको ताहि	वासे वासो तासे तासों	वाको ताको	वामें तामें
	बहु०	तिन० तिन्हे	तिन० तिन्हे	तिन० तिन्हें	तिन० तिन्है	तिनसों तिनसों	तिनको तिनकौं	तिनमें

सूरदास, विहारी, देव आदि कवियों की कविताएं व्रजभाषा में ही हैं।

खडी बोली—यह उस भाषा का नाम है जो विशेषतया मेरठ के चारों ओर तथा साधारणतया सारे भारतवर्ष मे वर्तमान काल मे माध्यम के रूप मे बोली जा रही है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्द शुद्ध रूप मे प्रत्युक्त होते है। इसके कारक चिह्न ये हैं—

कर्ता,	कर्म,	करण	सम्प्रदान,	अपादान,	सम्बध,	अधिकरण
ने	को	से	को, के लिये	से	का, के, की	मे, पर

खडी बोली मे सकर्मक भूत काल में कर्ता को ने चिंह अवश्य लगता है।

नाथूराम शंकर, श्रीधर पाठक, अयोध्यासिह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, सुभद्राकुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त, कामताप्रसाद, पंत निराला, प्रेमी, गुरु, गयाप्रसाद शुकल, 'स्नेही', जयशंकरप्रसाद आदि प्रसिद्ध कवियों ने तथा विशेषतया छायावादी कवियों ने इसी काव्य-भाषा को अपनाया है।

हिन्दी काव्य-रचना की शैलियां

हिन्दी-काव्य रचना कई शैलियों पर की गई है। वीरगाथाकाल की रचनाओं मे प्रायः छप्पय पद्धति का प्रयोग मिलता है। दोहा पद्धति का प्रयोग भी अपभ्रंश काल से होता आ रहा है। बाद मे कबीर ने भी अपनी नीति सम्बन्धी वाणी के लिए इसी पद्धति को अंगीकार किया। प्रेममार्गी कवियों ने एक नई ही शैली का अविष्कार किया। इसमे १८ चौपाइयों की एक निश्चित संख्या के पीछे एक दोहा अवश्य होता है।

बाद मे तुलसीदास ने रामचरित-मानस में प्रायः इसी पद्धति को

पल्लवित किया। विद्यापति, सूरदास आदि ने गीत-पद्धति का आश्रय लिया। तुलसीदास की विनयपत्रिका और गीतावली इसी शैली पर लिखी गई हैं। रीतिकाल के कवियों की शैली निराली ही थी, वे प्राय. अपने ग्रन्थों मे ऊपर तो रस भाव अलंकार नायिकाओं आदि के लक्षण लिखते थे और नीचे कवित्त या सवैये मे उसका उदाहरण देते थे। भारतेन्दु के काल मे शैली मे परिवर्तन हो गया। दोहा, चौपाई और कवित्त सवैये का दौर दौरा कम हुआ। भारतेन्दु ने काव्यरचना मे कई राग-रागनियों तथा उर्दू बहरों का प्रयोग किया। तब तक कविता प्रायः व्रजभाषा मे होती आती थी और गद्य मे भी कोई अन्तर न था। भारतेन्दु ने गद्य को सरल और खड़ी बोली मे लिखा और पद्य-रचना के लिये उन्होंने कुछ मँजी व्रजभाषा का प्रयोग किया। राजा लक्ष्मणसिह आदि ने संस्कृत छन्दों की शैली को पकडा। पीछे प्रियप्रवास आदि इसी शैली मे लिखे गये। छन्द के साथ ही कविता की भाषा भी खड़ी बोली हो गई और वह संस्कृत मय बन गई। मैथिलीशरण गुप्त और शंकर ने क्रमशः हरिगीतिका तथा रोला छन्द को काव्यरचना मे प्रधान स्थान दिया। आजकल कुछ कविताएं ऐसी भी होती हैं जिनमे किसी भी शैली का आश्रय नही लिया गया होता। ऐसे कवियों का कहना है कि 'शैली सत्कविता के स्वाभाविक विकास मे बाधा है, उनका यह कहना कहां तक ठीक है और उनकी वे निश्छन्द, शैली-हीन शैली की रचनाएं कहां तक अच्छी होती हैं, यह सत्काव्य-मर्म्मज्ञ साहित्यसेवी सज्जनों से छिपा नहीं।

(उद्धृत)

(११)

तुलसीदास की सर्वांगीणता

जिस समय गोस्वामी तुलसीदास जी साहित्य-क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए उस समय काव्य-भाषा के दो रूप उन्हे मिले—व्रज और अवधी। एवमेव काव्य-रचना की पाँच शैलियाँ उन्हे दृष्टि गोचर हुईं—१ वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति, २ विद्यापति और सूरदास वाली गीति-पद्धति, ३ गंग आदि की कवित्त सवैया-पद्धति. ४ अपभ्रंश काल से चली आ रही और कबीर द्वारा विशेष रूप से प्रयुक्त दोहा-पद्धति, ५ जायसी की दोहा-चौपाई वाली प्रबन्ध काव्य-पद्धति। तुलसीदास जी की यही सबसे बडी विशेषता है कि उनका दोनों काव्य-भाषाओं और पाँचों काव्य-रचना-शैलियों पर समान रूप से अधिकार था। वे अपनी प्रतिभा के प्रताप से हिन्दी-साहित्य के सर्वोच्च पद पर आसीन हुए। सूर को केवल व्रजभाषा पर अधिकार था और जायसी को केवल अवधी पर, परन्तु तुलसीदास ने 'गीतावली' मे सूर के 'सूरसागर' जैसा व्रजभापा-माधुर्य और 'जानकी-मंगल' आदि मे जायसी के 'पद्मावत' के समान अवधी-लालित्य दर्शा दिया।

पहली वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति पर की हुई इनकी रचना परिमाण मे अधिक न होते हुए भी गुणों मे बहुत बढ़ी चढ़ी है। एक उदाहरण—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, विकल दिग्पाल चराचर॥
दिग्गयन्द लरखरत, परत दस कण्ठ मुक्ख भर।
सुर विमान हिमभानु, संघटित होत परस्पर॥

चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्माण्ड खंड किय चंड धुनि, जबहि राम सिव धनु दल्यौ॥

दूसरी विद्यापति और सूर की गीतपद्धति पर इनकी रचना 'गीतावली' में सुन्दर भी है और परिमाण मे भी बहुत है। एक गीतांश देखिये—

राग बिलावल

सोहत सहज सुहाए नैन।
खंजन मीन कमल सकुचत तब जब उपमा कवि चाहत दैन॥१॥
सुन्दर सब अंगनि सिसुभूषन राजत जनु सोभा आए लैन।
बडो लाभ लालची लोभ बस रहि गए लखि सुखमा बहु मैन॥२॥
आदि।

तीसरी कवित्त-सवैया वाली पद्धति पर इनकी 'कवितावली' उत्तम पुस्तक है। एक सवैये का अंश देखिये-

राम को रूप निहारत जानकि, कंकन के नग की परछाही।
याते सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही पल डारति नाही॥

तुलसीदास मे रस के अनुसार भाषा मे परिवर्तन करने की अपूर्व शक्ति थी। ऊपर शृंगार सम्बन्धी उदाहरण दिया जा चुका है, वीर रस की रचना मे वे कैसा पदविन्यास करते है, देखिये—

ठहरि ठहरि परे, कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर, सिद्ध हँसे हेरिकै।

चौथी कबीर की नीति-संबन्धी दोहों वाली पद्धति मे इनकी 'दोहावली' तथा 'तुलसी सतसई' अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु है। एक दोहा देखिये -

सोई सेवर तेइ सुवा सेवत सदा वसंत।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत संत॥

पाचवी जायसी की दोहा-चौपाई वाली पद्धति पर तुलसीदास

जी ने वह रचना की जिसने उन्हे सदा के लिये अमर कर दिया। उनकी वह कृति 'रामचरित मानस' है। एक चौपाई देखिये—

अमिय मूरि मय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृत सम्भुतन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥

उपर्युक्त शैली-प्रभुत्व के अतिरिक्त तुलसीदास की रचना मे वीरकाल के कवियों का उत्साह, ज्ञानमार्गियों-का ज्ञान, प्रेम-मार्गियों का प्रेम, रीतिकालिकों का भाषा-सौष्ठव आदि सब गुण एकत्र पूंजीभूत उपलब्ध होते है। उनकी रचना मे सब शैलियों के केवल गुण ही गुण आये हैं, दोष नहीं आने पाये। उन्होंने शृंगार का भी वर्णन किया तो मर्यादा के भीतर ही किया। समाज के सभी व्यक्तियों-बालवृद्ध स्त्री पुरुष राजा रंक सबके हृदय का तुलसी ने सजीव वर्णन किया है। सब से बडी बात यह है कि उन्होंने कला के नाम पर धर्मनीति और समाजनीति की अवहेलना नहीं की। यही कारण है कि उनका हिंदी-साहित्य मे बहुत ऊँचा स्थान है। उन्हीं की रचनाएं सर्वांग सुंदर हैं।

—मतीश्राना

---

(१२)

रहस्यवाद

मनुष्य जब से अपनी मानवीय विवशता मे अथवा प्राकृतिक व्यापारों के विस्तार मे किसी एक अलक्षित शक्ति के प्रभाव तथा अस्तित्व की कल्पना करने लगा, तभी से रहस्यवाद का बीजारोपण होने लगा। जिस समय मनुष्य ने यह समझा कि उसकी परिमित शक्तियों और जगत की अपरिमित शक्तियों का संचालक

एक ही सर्व-शक्तिमान् है और उसकी प्राप्ति ही जीवन का परम उद्देश्य, है, तभी से रहस्यवाद की भावना का सूत्रपात हुआ।

"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोडना चाहती है, और यह संबंध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनों मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता।" सारांशत. रहस्यवाद हृदय की वह अलौकिक अनुभूति है, जिसके भावावेश मे जीवात्मा अपने ससीम और पार्थिव अस्तित्त्व से उस असीम एवं सूक्ष्म महन् अस्तित्त्व के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगता है।

रहस्यवाद की आधार-भूमि धार्मिक भावना है, और इसके विषय है—आत्मा, परमात्मा और जगत। आत्मा, परमात्मा और जगत् ये दर्शन-शास्त्र के विषय है, इसी से रहस्यवाद की सत्ता दर्शन मे भी है। काव्य के रहस्यवाद का प्राण भाव है और जनक है हृदय। दर्शन के रहस्यवाद का प्राण ज्ञान है और जनक है मस्तिष्क। इसी से काव्य का रहस्यवाद, दार्शनिक रहस्यवाद की अपेक्षा अधिक आह्लादकारक और सरस बना रहता है, दार्शनिक तो आत्मा, परमात्मा तथा माया के चिन्तन मे लगा रह कर शुष्क मस्तिष्क की उलझन मे फँसा रहता है, किन्तु कवि अपनी भावुकता के सहारे अपने प्रिय से मिलने के लिए भावुक क्रन्दन कर उठता है।

रहस्यवाद मे जीवात्मा इन्द्रिय-जगत से बहुत ऊपर उठ जाता है। वह अपनी भावुकतामयी भावना से अनन्त और अन्तिम प्रेम के आधार से एक हो जाना चाहता है, क्योंकि मै, मेरा और मुझे का विनाश रहस्यवाद का एक आवश्यक अंग है। जहाँ हृदय की प्रेममयी भावना साकार होकर अपनी ससीमता को उस असीम

में विलीन कर देना चाहती है, उसी स्थल पर रहस्यवाद की उत्पत्ति समझनी चाहिए।

रहस्यवादी का उद्देश है असीम की खोज और उसमे मिल जाना, इसीलिए रहस्यवादी को अपने उद्देश्य तक पहुंचने के लिए अनेक मार्गों में होकर गुजरना पड़ता है। उन मार्गों मे से रहस्यवादी की तीन मुख्य स्थितियाँ निर्धारित की जा सकती है—

१. पहिली परिस्थिति तो वह है जहाँ कवि अनन्त-शक्ति से अपना सम्बन्ध जोडने के लिए अग्रसर होता है। वह इस पार्थिव जगत् की सीमा को पार करके ऐसे दिव्यलोक मे पहुंचता है, जहॉ ईश्वर के सामीप्य से, दिव्य विभूतियों के दर्शन से चमत्कृत हो जाता है और उसके हृदय में, केवल एक ही 'नाम रट' की भावना जाग उठती है—

'घट-घट मे रटना लागि रही,
परगट हुआ अलेख जी।'—कबीर।

२. दूसरी स्थिति वह है जहाँ कवि की आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लगती है। भावनाएं इतनी तीव्र हो जाती हैं कि आत्मा एक पागलपन का अनुभव करती है। इस प्रेम और पागलपन मे हृदय की साधारण स्थिति नही रहती, इस प्रेम से लौकिक तथा अलौकिक जीवन मे स्वतः एक ऐसा सामंजस्य हो जाता है कि उससे अन्तर्जगत् तथा बाह्यजगत् एक दूसरे से मिल-से जाते है।

३. तीसरी परिस्थिति रहस्यवाद की चरम सीमा है, इस स्थिति में आत्मा और परमात्मा मे इतना तादात्म्य हो जाता है कि उन्हे नमक और पानी की भांति पृथक् नहीं किया जा सकता, वहां पहुंचकर तो आत्मा यही कहने लगती है कि—

"मो मन-मोहन रूप मिलि, भो पानी को लोन।
कीन्हे हू कोरिक जतन अब कहि काढ़े कौन॥"

इस स्थिति मे आकर आत्मा की पावन अनुभूति शब्दों की सीमा मे नही बँध पाती, और उस समय रहस्यवादी कह डालता है—

"नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ, आज अनश्वर-गीत ॥"

—रामकुमार वर्मा

आत्मा की परमात्मा मे यह परिणति गूँगे का गुड हो जाती है, आत्मा और परमात्मा का ऐसा एकीकरण होता है कि सदेह होता है कि आत्मा स्वयं परमात्मा (पति) है, अथवा आत्मा (स्त्री) ही है—

तुम मुझ मे प्रिय! फिर परिचय क्या ?
चित्रित तू, मै हूँ, रेखाक्रम,
मधुर राग तू, मै स्वर संगम,
तू असीम मै सीमा का भ्रम,
काया छाया मे रहस्यमय प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्यों ?

—'नीरजा'

प्रत्येक रहस्यवादी चिन्तन प्रधान होता है, अतः चिन्तन-प्रणाली के अनुसार साधकों को मुख्यत. चार कोटियों मे विभक्त कर सकते हैं—

१. प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवादी।
२ दार्शनिक रहस्यवादी।
३ धार्मिक तथा उपासक रहस्यवादी।
४. प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी।

इन्हीं कोटियों को आधार-भूत मानकर रहस्यवाद की कुछ अपनी विशेषताएं दिखायी जा सकती हैं। गहराई से देखने पर रहस्यवाद मे पाँच विशेषताएं लक्षित होती हैं—

१ प्रेम का प्रवाह।
२. आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रधानता।

३ रहस्यवादी की जागरूकता।

४. अनन्त की ओर हार्दिक आकर्षण।

५ रूपकों अथवा प्रतीकों की सृष्टि।

१. रहस्यवाद की पहिली विशेषता यह है कि उसमे प्रेम की धारा अविराम गति से प्रवाहित होती रहे। प्रेम मे वह उत्कटता हो जिसके कारण अन्तर्जगत अपने सभी अंगों का मेल बहिर्जगत से कर सके। प्रेम हृदय की वह घनीभूत भावना है, जिससे जीवन का विकास सदैव उन्नति की ओर होता है। ऐसे प्रेम की उत्पत्ति हो जो निर्बंध, निर्बाध, अकलुष और आडम्बर हीन हो।

२ रहस्यवाद की दूसरी विशेषता है, उसमे आध्यात्मिक तत्त्वों का होना। इस आध्यात्मिक दश रहस्यवादी अपने को ईश्वर से मिला देता है और उस अलौकिक आनन्द मे मस्त हो जाता है जहां संसार की नीरसता का स्मरण ही नहीं होता। इस आध्यात्मिक तत्त्व मे अनन्त से मिलाप का प्राधान्य होता है। आत्मा और परमात्मा दोनों की अभिन्नता प्रगट होती है।

३. रहस्यवाद की तीसरी विशेषता यह है कि वह सदा जागरूक-भावना-प्रधान हो, अर्थात रहस्यवाद मे सदैव ऐसी शक्ति रहे, जिससे रहस्यवादी को दिव्य और अलौकिक के दर्शन होते रहे।

४. रहस्यवादी की चौथी विशेषता यह होनी चाहिये कि असीम की ओर केवल उसकी भावना की ही प्रगति न हो, वरन् सम्पूर्ण हृदय की आकांक्षा उस ओर खिंची रहे।

५. रहस्यवादी अपनी सूक्ष्म भावना को शब्दों द्वारा व्यक्त करे, ऐसा होना स्वाभाविक भी होगा, क्योंकि रहस्यवादी अपनी सूक्ष्म भावनाओं को मूर्त आधारों द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। रहस्यवादी का प्रतीकों की सृष्टि के विना काम ही नहीं चल

सकता। प्रतीक-प्रयोग की भावना के अन्तर्गत संसार के साम्य की भावना निहित है। रहस्यवादी सब पदार्थों मे साम्य चाहता है। मानवी प्रेम को वह दैवी प्रेम का आधार देखता है, इसीलिये संकेत द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति के पतझड़ को देखकर सृष्टि की क्षणभंगुरता का रहस्य उसके सामने आ जाता है, उसे हिलते हुए वृक्ष की प्रकंपित डाली से वृक्ष-शरीर के कंकाल का स्मरण हो आता है। प्रतीक-प्रयोग से अभिव्यक्ति मे शक्ति आ जाती है। रहस्यवादी कबीर कहते हैं—

'माली आवत देखकर, कलियाँ करी पुकार।
फूले-फूले चुन लिये, कालि्ह हमारी बार॥'

इन पंक्तियों मे एक दार्शनिक तत्व है और इसके भावों को मूर्त-आधारों की सहायता से प्रगट किया गया है।

× × ×

अधिकतर, रहस्यवादी, अपने विचारों को कविता ही मे प्रकट करते रहे हैं, उसका भी कारण है। गद्य वास्तव में हमारे मनोवेगों को तरंगित करने के लिए अपरिष्कृत साधन है। रहस्यवादी चाहता है कि उसकी तीव्र अनुभूति थोड़े-से-थोड़े शब्दों मे किन्तु पर्याप्त रूप मे व्यक्त हो जाये। कविता की मुख्य-ध्वनि से रहस्यवादी व्यंजना के आधार पर अनन्त सत्य के कुछ सत्यों को प्रकाशित कर देना चाहता है, जो सदैव सब वस्तुओं मे निहित है।

× × ×

अनेक विद्वान् रहस्यवाद और छायावाद को एक ही वस्तु मानते हैं, परन्तु गहराई से देखने पर बात ठीक इसके प्रतिकूल है. दोनों मे मौलिक अन्तर स्पष्ट है—

रहस्यवाद के विषय आत्मा और परमात्मा हैं, उसका दृष्टिकोण सांसारिक दृष्टि से उदासीन और आध्यात्मिक है। छायावाद

परमात्मा को छोडकर आत्मा और जगत के प्रदेश मे विहार करता है। वस्तुतः छायावाद स्थूल वस्तु-जगत् के आगे की वस्तु है और रहस्यवाद छायावाद से आगे की वस्तु। छायावाद मे जिस प्रकार एक जीवन के साथ, दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार रहस्यवाद मे आत्मा के साथ परमात्मा की। एक प्राकृतिक दृश्य को देखकर जब कवि उसे अपने ही समान सजीव और दुःख-सुखों का अनुभव करने वाला मान बैठता है, तो यह कवि की छायावादी अभिव्यक्ति हो जाती है, किन्तु जब उसी दृश्य को वह किसी परम चेतन का स्वरूप मानने लगता है, तो वह स्थिति कवि की रहस्यवादी अभिव्यक्ति बन जाती है। इस प्रकार प्रेम-भावना प्रधान होते हुए भी छायावाद और रहस्यवाद दोनों पृथक् वस्तु हैं।

—विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' साहित्यरत्न

---

(२)

छायावाद

जब मनुष्य अपने आसपास के स्थूल जीवन के संघर्ष से बोझल हो जाता है, तब उसकी प्रवृत्तियाँ क्रान्ति चाहने लगती हैं। यही क्रान्ति साहित्यिक भाषा मे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहलाती है। इस अवस्था मे मनुष्य अपनी सामयिक संकीर्णता को भूलकर अपनी सनातन-सत्ता के आधार—आत्मभावों के द्वारा अपना विस्तार करता है, इस संसार के चारों ओर एक नूतन जगत् की सृष्टि करना चाहता है। तब वह विश्व की प्रत्येक वस्तु में एक अज्ञात सप्राण छाया की झाँकी पाना चाहता है; मानव की यह जिज्ञासा ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के पुजारी

की भाँति विश्व के कण-कण मे अपने सर्व-व्यापक प्राणों की छाया देखता है। मनुष्य को बाह्य-सौन्दर्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ तादात्म्य संबन्ध करने को प्रेरित करता है।

छायावाद मनुष्य के अन्तःकरण और प्रकृति के उस संबध मे प्राण डाल देता है, जो युग-युग से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप मे चला आता है, और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख मे प्रकृति आकुल और सुख मे आह्लादमयी जान पडती रही है। चूंकि छायावाद का महान तत्त्व अनेक रूपों मे प्रगट महाप्राण की भांति है; जिस तरह से कूएँ के पानी, घड़े के पानी और बर्फ़ मे एक ही तत्त्व की-जल की—प्रधानता है, इसीलिए छायावादी मनुष्य के आँसू, वर्षा के जलकण मे और पृथ्वी के ओस-विन्दुओं मे एकाकार हो जाते है। छायावादी कवि का मुख्य उद्देश्य असाधारण भावावेश को व्यक्त करना हुआ करता है, जिस तरह कि वाल्मीकि ऋषि क्रौंच के आहत जोड़े को देखकर तडप उठे थे और उनका भावावेश कविता मे प्रकट होकर फूट पडा था।

छायावादी को तीन कोटियों मे होकर चरम-सीमा मे पहुँचना होता है। छायावाद की प्रथम अवस्था मे कवि के मन मे सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव अपने सन्देह मे सजग रहता है। दूसरी अवस्था मे मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास मिलता है, उस समय कवि कुछ अपने को खोया-सा अनुभव करता है। तीसरी अवस्था मे कलाकार को अपने स्नेह का प्रकाश प्राप्त हो जाता है और वह सन्तुष्ट होकर अपने आप मे अपने को लीन कर लेता है। यह अन्तिम स्थिति छायावाद की चरम परिणति है। यहां पहुंचकर कवि अपने को एक दार्शनिक अथवा रहस्यवादी अनुभव करता है।

परिष्कृत रूप मे हम यों कह सकते है कि जिस मानवेतर

आध्यात्मिक तत्त्व का, शब्दों की संकुचित सीमा मे, निरूपण असंभव है, उसकी सर्वव्यापक छाया प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों मे ग्रहण कर, उसके अव्यक्त व्यक्तित्त्व का आरोप कर, यदि उस पूर्ण तत्त्व के प्रकाशन का प्रयास किया जाये तो वही छायावाद होगा। उस अव्यक्त तथा अस्पष्ट सत्ता की खोज मानव प्रकृति का एक अनिवार्य स्वरूप है। इस चेष्टा की काव्यमय भावना ही छायावाद है।

और आगे बढ कर यों कहा जा सकता है कि वस्तुजगत् की स्थूलता छायावाद मे सूक्ष्म हो जाती है, वस्तु-भेद की कृत्रिमता अभेद की प्राकृतिकता मे परिणत हो जाती है, व्यापक व्यंजना, सूक्ष्म कल्पना और आध्यात्मिक संकेत की प्रधानता के कारण ही छायावाद वस्तु-जगत् की सीमा पार कर जाता है। उदाहरण के लिए महादेवी की ये पंक्तिया ली जा सकती है—

तारकमय नव-वेणी बन्धन,
शीश फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे, चितवन से अपनी!
पुलकती आ वसंतरजनी!

(नीरजा)

ऊपर के उदाहरण मे पार्थिव आभरणों का ही उल्लेख है। किन्तु रजनी का यह चेतन व्यक्तित्त्व व्यापक है। अभिव्यक्ति के लिए लौकिक रूपक तो साधन बनेंगे ही।

× × ×

छायावादी कविता की पाँच विशेषताएँ मुख्यरूप से दिखायी जा सकती हैं—

१ सौन्दर्योपासना, २ प्रेम-भावना, ३. वेदना तथा करुणा-भावना ४. जीवन और जगत् का तादात्म्य, ५. प्रकृति-चित्रण।

१ सौन्दर्योपासना—छायावादी कविता की पहिली आवश्यकता है, किन्तु छायावादी कवि बाह्य-सौन्दर्य प्रेमी नही; आन्तरिक-सौन्दर्य का उपासक है। बाह्य-सौन्दर्य से प्रेम करने वाला कवि एक फूल के रूप-रंग का ही वर्णन करेगा, एक वैज्ञानिक की भांति; किन्तु छायावादी कवि उस फूल के उस प्राणमय सूक्ष्म को अपनायेगा, जिससे वह एक स्वाभाविक अपनेपन का अनुभव करता है। कविवर पन्त की 'भावी पत्नी के प्रति' कविता इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—

अरुण अधरों का पल्लव प्रात, मोतियों-सा हिलता हिम-हास।
इन्द्रधनुषी पट से ढक गात बाल-विद्युत् का पावस-लास॥
हृदय मे खिल उठता तत्काल, अधखिले अगों का मधुमास।
तुम्हारी छवि का कर अनुमान।
प्रिये, प्राणों की प्राण॥ (गुंजन)

यहां पर कवि ने अपनी प्रियतमा को प्रकृति प्रशस्त आभूषणों से सुशोभित किया है।

२ प्रेम-भावना—सौन्दर्य प्रेम का उत्पादक है। छायावाद की सौन्दर्य-भावना के साथ प्रेम का सूक्ष्म बंधन है। प्रेम जीवन की मूल प्रेरक-शक्ति है। प्राणीमात्र की कोई प्रेरणा प्रेम के अभाव मे जीवित नही रह सकती, किन्तु व्यापक सौन्दर्य की भावना ही छायावाद की प्रेम-भावना का आधार है। प्रेम की साधना बड़ी पवित्र होनी चाहिए। छायावादी कवि प्रेम की सभी प्रवृत्तियों को अपनाता है, क्योंकि इस प्रकार वह अपने जीवन के साथ दूसरे जीवन को भी अपनाता है।

३ वेदना की भावना—वेदना विश्व-जीवन की जननी है। कवि-कंठ की मधुर स्वर-लहरी अनादि काल से वेदना-सिंचित रहती आई है—पंत के शब्दों मे—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान॥"

वास्तव मे प्राणीमात्र को एक सूत्र मे बाँधने का साधन हमारी समवेदना ही है।

इस वेदना का आधार हमारा भौतिक और आध्यात्मिक जीवन होता है। आज हमारा समाज, हमारा धर्म, यहा तक कि हमारे सारे आदर्श एक समस्या बन गये हैं। यही हमारे जीवन की वेदना है। छायावाद मे वेदना का प्रवाह स्वाभाविक मनोभावों को लेकर बहता है—महादेवी कहती है—

"मेरे हँसते अधर नही, जग की आँसू लड़ियाँ देखो।
मेरे गीले पलक छुओ मत, मुर्झाई कलिया देखो॥"
(नीरजा)

महादेवी की वेदना ने उनकी कला मे चार चाँद लगा दिये हैं। दुःख की उपयोगिता उनके भावना-क्षेत्र को इतना परिपूर्ण कर देती है कि उसमें सुख के लिए कुछ भी स्थान नही रह जाता।

"तुम को पीडा मे ढूँढा, तुम मे ढूँढूँगी पीड़ा"

महाकवि पन्त को भी उनकी वेदना सहानुभूति का पाठ पढ़ाती है, जो कि छायावादी कविता के जन्म-दाता कहे जाते हैं—

"आँसू की आँखों से मिल,
भर ही आते है लोचन॥"
(गुजन)

४. जीवन और जगत् का तादात्म्य—कविता आत्मा से निसृत सगीत है. अर्थात् कविता का उद्गमस्थान आत्मा है।

छायावादी कवि अपने जीवन अर्थात् अपनी आत्मा की विश्वस्तता के साथ विश्व-जीवन से सहानुभूति रखता है, वह जगत् को अपने जीवन मे और अपने जीवन को जगत् मे देखता है। जीवन सुख दुःखों का लेखा है, हर्ष-विषाद् का प्रतिबिम्ब है, इसी से छायावादी कवि जीवन के तथ्यों-सुख-दुःखों से आत्मा के सत्य की खोज करता है—

लिपटे सोते थे मन मे, सुख-दुख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती कुंज मे जैसे ॥

५ प्रकृति-चित्रण—प्रकृति तो छायावादी कवियों की सर्वस्व है, छायावादी कविता की आधार-भूमि ही प्रकृति है। छायावादी कवि का दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति रोमाण्टिक दृष्टिकोण रहा है। प्रमुख छायावादी पन्त जी कहते हैं—

सिखा दो ना अयि मधुप-कुमारि, मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से, करा दो ना कुछ-कुछ मधु-पान ॥

छायावादी कवि प्रकृति का इतना दुलारा चिर-परिचित रहा है कि वह उसी के साथ हँसता-खेलता, उछलता-कूदता और उसी मे हिल-मिल जाता है। पन्त जी पक्षियों से अपना संगीत वापिस चाहते है—

"विजन वन मे तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान।
मुझे लौटा दो विहग-कुमारि, सजल मेरा सोने सा गान ॥"

यों हमने छायावाद को एक परिभाषा की सीमा मे बाँधने की चेष्टा तो की है, परन्तु फिर भी यही कहा जायेगा कि जिस प्रकार भावना-लोक की सत्ता अनुभव की वस्तु है, उसी प्रकार छायावाद भी अनुभव की वस्तु है।

छायावाद पर कुछ आक्षेप भी लगाये जाते हैं, उनका निराकरण कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है, इस प्रकार विषयान्तर न हो कर 'छायावाद' भावना और अधिक स्पष्ट ही होगी।

कुछ लोग छायावाद-काव्य को केवल स्वप्न के संसार की

वस्तु मानते है । उसका कारण यही है कि छायावाद के मूल मे आध्यात्मिक भावना काम करती है, जिसके कारण केवल भौतिक-विज्ञान-वादी उसे नही समझ पाते। वास्तव में छायावाद मे सौन्दर्यवादिता के साथ साथ विद्रोह और स्वातंत्र्य का तथा सजगता का भी स्वर है, छायावादी कवि पन्त कहते है—

"गा कोकिल, बरसा पावक कण !
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ॥"

दूसरे लोग वे हैं, जो छायावाद को विदेशी बीमारी अथवा पाश्चात्य साहित्य की नवीन प्रवृत्ति का अनुकरण मात्र बताते है । वस्तुतः छायावादी कविता इस देश की दार्शनिक बुनियाद को स्वीकार करती रही है, इसी से इस प्रकार की कविताओं मे उसीके अनुरूप शब्द-चयन है। हमारे छायावाद मे हमारा अपन वातावरण काम कर रहा है। छायावादी कवि सामाजिक परिवर्तन संबंधी परिस्थिति से भली भाँति परिचित हैं। बच्चन जी कहते है—

जिस परवशता का कर अनुभव।
अश्रु बहाना, पड़ता नीरव ॥

उसी विवशता से दुनिया मे होना पडता है, हँसमुख भी !

वस्तुतः छायावादी कवि वैराग्य मे ही विश्वास नहीं रखता; वरन् कर्म मे भी विश्वास रखता है, बल्कि उससे भी अधिक, वह जानता है कि यह कर्म-युग है ।

अन्त मे हमें यही कहना पडता है कि नवीन युग के वक्षःस्थल पर छायावाद ने जो अपने अमिट चरण अंकित किए हैं, वे अमर रहेगे; भारती के मन्दिर मे उल्लास की वीणा पर भव्य-भावनाओं की जो कोमल और मधुर रागिनी छायावाद ने बजायी है, वह किसी पावनउद्गीथ से कम नहीं है ।

—विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' साहित्यरत्न

(१०)

प्रगतिवाद

गाधीवाद और छायावाद के पलायन* की प्रतिक्रिया का फल प्रगतिवाद है। युग विशेष मे जिस प्रकार गाधीवाद के प्रति लोगों को यह आशंका होने लगी कि वह आत्मा की ओर अधिक झुका हुआ है और हमारे जीवन के स्थूल सत्यों से दूर है, इसी प्रकार छायावाद के सूक्ष्म अन्तर्तत्वों से लोग निराश होने लगे। फल यह हुआ कि दोनों सूक्ष्मों के प्रति मनुष्य का स्थूल स्वभाव विद्रोह कर उठा। सूक्ष्म के प्रति जब-जब भी स्थूल विद्रोह कर उठता है, तभी तब नूतन 'वाद' की उत्पत्ति हुआ करती है। इस विद्रोह से छायावाद और गाधीवाद दोनों मे ही पलायन-वृत्ति का आभास होने लगा। इन दोनों की पलायन प्रवृतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रगतिवाद का जन्म हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से साररूप मे प्रगतिवाद की परिभाषा कुछ इस प्रकार की ठहरती है --जो प्रवृत्ति हमारे जीवन के तत्वों के अधिक निकट है, जो मानवीय प्रवृत्तियों का पूरा-पूरा लेखा हमारे सामने स्पष्ट रूप मे रखती है, हमारे जीवन मे गतिशीलता (प्रगति) लाकर जीवन के तथ्यों का यथार्थ चित्रण करती है, वही प्रवृत्ति साहित्यिक भाषा मे प्रगति-वाद के नाम से पुकारी जाती है।

प्रगतिवाद की गति का अध्ययन करते हुए अभी तक उसके विषय मे कुछ विशेष निश्चित धारणाएँ हिन्दी-जगत् नहीं बना पाया है, किन्तु फिर भी प्रगतिवाद की मनोवृत्ति मे जो कुछ उल्लेखनीय धारणायें काम कर रही हैं, उनका लेखा-जोखा निम्नलिखित है—

* व्यावहारिक-जीवन-सघर्ष से पर आदर्शात्मक या कल्पनात्मक-लोक मे विचरण करना। (Escape from life).

१ जीवन में गति-शीलता है; यथार्थ मे जीवन प्रगति का ही पर्यायवाची है, अतः उसे प्रत्येक क्षेत्र मे आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

२ जीवन मे जीना चाहिए और जो कुछ जीवन के सामने है, वही सत्य है, इसी से वस्तु-जगत से आंखे नहीं फेरी जा सकती। वस्तु-जगत से परे अध्यात्म अथवा परलोक आदि कुछ नहीं है।

३ जीवन मे साम्य होना चाहिए, जीवन के साम्य के लिए समाज मे साम्य की आवश्यकता है। (इसीलिए प्रगतिवाद दलितों, पीड़ितों और शोषितों का पक्ष ग्रहण करता है; और इसीलिए पुरातन को—रूढ़िवाद को—नष्ट-भ्रष्ट करके नूतन मानवता मे गति भरना चाहता है।)

४. शोषक-वर्ग का घोर विरोध होना चाहिए, इस विरोध के लिए शोषक-वर्ग की सहायक प्राचीन-संस्कृति का पुनर्निर्माण होना चाहिए।

५. जीवन के हेय और श्रेय दो पक्ष हैं, श्रेय के साथ-साथ हेय का पक्ष प्रबल करने वाले श्रेय का चित्रण भी करना चाहिए। श्रेय की अपेक्षा हेय अधिक यथार्थ है। अर्थात् समाज मे जो कुछ श्लील के साथ अश्लील के नाम से पुकारा जाता है, उसका भी चित्रण होना चाहिए। सामाजिक-प्राणियों के यौन-सम्बन्ध पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है, क्योंकि आज काम-विज्ञान की उपेक्षा के कारण समाज उच्छृंखल और विश्रृंखल हो गया है।

प्रगतिवाद की इन मूल प्रवृत्तियों के विचार से 'प्रगतिशील' कवियों को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) राष्ट्रीय चेतना-प्रधानकवि (२) काम-विज्ञान की भावना वाले कवि (सैक्स के कवि।)

(१) पहिले वर्ग के कवियों मे साम्यवाद की भावना अधिक है, इसी से कुछ लोग इस प्रकार के कवियों को रूसी साहित्य से प्रभावित बताते हैं। मनःस्थिति के आधार पर इस प्रथम वर्ग के कवियों की भी दो श्रेणिया बनायी जा सकती है—

क एक तो वे जो निर्माण और संस्कार की ओर अधिक झुके हुए हैं, इन लोगों की भावना मे संयम, शान्ति और आशा है। पन्त, अज्ञेय और नरेन्द्र को इसी श्रेणी का कवि कहना चाहिए। सियाराम शरण की एकांत साधना भी इस श्रेणी मे आ सकती है।

ख दूसरी श्रेणी के कवि विध्वंस और संहार पर विश्वास रखते है। इन कवियों की भावना मे निराशा, आग, तूफान और प्रलय का आमंत्रण है। बालकृष्ण 'नवीन," दिनकर, भगवतीचरण वर्मा और हरिकृष्ण 'प्रेमी' इसी श्रेणी के कवि है।

(२) दूसरे वर्ग के कवियों मे अमूर्त उपासना के विरुद्ध विद्रोह है। ये लोग काल्पनिक सौन्दर्य के स्थान पर मासल-सौन्दर्य को प्रश्रय देते है। इस वर्ग के कवियों की कविता मे वासना आवरण-हीन होकर आई है। इस वर्ग के कवियों मे 'अंचल' प्रधान हैं, जो फ्रायड के काम-विज्ञान के तत्व को बिना समझे ही उसका अंधानुकरण करके अतृप्त वासना कविता मे अकित कर रहे है।

यह प्रगतिवाद अभी अधिक समय नही हुआ, हिंदी मे आया है, इसी से यह अभी विवाद का विषय भी है, और कुछ हल्के सिद्धांतों के फेर मे पडा हुआ है। इसका मूल कारण यह भी है कि हमारे कवियों के जीवन मे उतनी प्रगति के तत्वों की अनुभूति नही है, जितनी तीव्र 'प्रगति शील' कहलाने की "हाय-हाय।"

पन्त को प्रगति का सैद्धान्तिक रूप से तो ज्ञान है, परन्तु वैसे जीवन से उनका सम्बन्ध नही रहा है, इसीलिए आपकी

प्रगति-भावना बौद्धिक अधिक बनकर रह गयी है। 'ग्राम्या' मे अवश्य कुछ प्रगति में प्राण पड़े हैं। नरेन्द्र ने अवश्य इसे पकड़ने की कोशिश की है। शेष कवि केवल टेकनीक के पीछे पागल हुए जान पड़ते हैं।

प्रगतिशीलता की उपर्युक्त रूप-रेखा से यही सार निकलता है कि प्रगति जीवन के लिए आवश्यक है, वह जीवन को ज़िन्दा रखती है, सच्चे शब्दों में वह आज के संघर्षमय युग की एक अनुपेक्ष्य आवश्यकता है। वस्तुतः इस प्रकार का 'प्रगतिवाद' हमारे जीवन को नवीन-सांचे मे ढाल देने वाला होना चाहिए, उसका प्रभाव कल्याणकारी होना चाहिए, परन्तु जब प्रगतिशील साहित्य की सच्ची परख की जाती है, तो वह न केवल शिवं से बहुत दूर नजर आता है, अपितु सत्यं और सुन्दरं से भी बहुत दूर है। इसमें प्रगति-शीलता का दोष नहीं, अपनी ही नासमझी का यह परिणाम है। हम केवल अनुकरण करना जानते हैं, अनुभव और आचरण के बल पर कहना नही जानते।

आधुनिक चिन्तन मे साम्यवाद के जो विचार उठ रहे हैं, उन्होंने ही हमारे साहित्य में 'प्रगतिशील' रचनाओं को प्रोत्साहित किया है और हमारे नवीन लेखकों ने प्रगतिशीलता के नाम पर जो अपनी उच्छृंखलता का नंगा-नाच पृष्ठों पर बिखेर दिया है, वह हमारे जीवन की वास्तविक गति-शीलता से बहुत अधिक दूर जा पड़ा है। किसान और मज़दूर की परिस्थितियों का अनेक बार प्रोपेगेण्डा करने पर भी नवीन साहित्यकार हमारे साहित्य मे नवीनता लाकर उसे आगे नही बढ़ा सके। प्रगति-शीलों का चिंतन पक्ष जितना ही दुर्बल है, साहित्य पक्ष उतना ही निकृष्ट।

प्रगतिवादियों ने प्रचारात्मक दृष्टिकोण से साहित्य की चारुशीलता को कुंठित कर दिया है। मानवी हृदय की अभिव्यक्तियाँ सिद्धान्तवाद के बोझ मे दबा दी गयी हैं। इन कलाकारों के साहित्य के चरित्र मनुष्य के स्वाभाविक हाव-भाव के प्रतीक न होकर सिद्धान्तों के विकृतांग प्रतीक बनकर रह गये है। प्रगतिवादी 'मनुष्य' को भूलकर 'वर्ग' के पीछे पड गये है, जबकि वर्ग के प्राण—मनुष्य के निर्माण की अत्यधिक आवश्यकता है। इन प्रगतिशील लेखकों की दृष्टि सदैव कुरूपता की ओर जाती है। ये प्रकृति या जीवन का मंगलमय रूप देखना नही चाहते, ये एक प्रतिहिंसा लेकर साहित्य का निर्माण करना चाहते हैं। साहित्य की रचना यदि प्रतिहिसा लेकर होगी, तो वह साहित्य सर्वकालीन सत्य और सौन्दर्य से बहुत दूर जा पड़ेगा। प्रगतिशीलों के कुत्सित चित्र समाज-विशेष का कल्याण भले ही कर लें; पर साहित्य का तो ऐसे चित्रों से अहित ही होता है। साहित्य प्रगतिशीलों के लिए इनके सिद्धान्तों के प्रचार का साधन वन गया है! प्रोपेगेण्डा-साहित्य जीवित नहीं रह सकता। भूखे किसान और मजदूरों के चित्र किसी स्थल-विशेष की शोभा अवश्य बढा सकते हैं, पर साहित्य पर उनका एकाधिपत्य साहित्य के बौद्धिक विकास मे सहायक नहीं हो सकता। केवल अश्लील कुरुचिपूर्ण क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ साहित्य के सहज स्वभाव को नष्ट करके उसे सर्व-हितकारी और सर्वव्यापी बनने से रोकती है।

आज का हमारा प्रगतिशील लेखक दुःख, निराशा, करुणा, क्रान्ति और अश्लीलता की अनेक घटनाएं जोड़कर, चरित्रों को सिद्धांतवाद की मुहर लगाता है, वह अपनी दीन मानवता मे, दानवता का अट्टहास करके लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है। साहित्य का ध्येय मानव को दानव बनाना नहीं,

अपितु मानवत्व मे देवत्व की स्थापना ही साहित्य का ध्येय है।

अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति में परिवर्तन होना अनिवार्य है। जब विचार के उपकरण बदल गये तो अभिव्यंजना के उपकरण भी बदल जाने चाहिएँ। परिस्थिति के बदल जाने पर आज का कलाकार 'धूलि, पराग, सुरभि और हिम-विन्दुओं' को छोड़कर अवश्य ही हमें—

'सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली-पीली।' भी—

दिखा सकता है, क्योंकि आज के जीवन मे ये ही अधिक सत्य हैं। हम मानते हैं, वस्तु का शुद्ध वास्तविक चित्रण ही सच्चा है, कवि को अपनी भावनाओं का रंग चढाकर आज की सचाई को छिपाने का अधिकार नहीं है, पर साथ ही हमे यह भी नहीं भूलना होगा कि कवि कलाकार पहिले है, इसीलिए उसे जीवन की सच्चाइयां कल्पनात्मक रूप से प्रगट करनी चाहिएँ। परियों के देश की कल्पना और इन्द्रलोक के समान सजावट की आवश्यकता नहीं है, लेकिन हेय और अशिष्ट चित्रों का अंकन भी उसका ध्येय कहाँ है ? पसीने की दुर्गन्ध, मुँह के लार की बदबू, कीडों की किलकिलाहट, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों के बीच से अविकसित विकृत यौवन तथा पूंजीपति (मानव) की छातीपर बैठकर, रक्त-पान करते हुए, अँतड़ियों को चबाते हुए किसान (मानव) का महा चित्रण तो प्रगति की दुर्गति ही करेगा। मानव का रक्त पीकर तो मानव अपने आदिम जीवन की ओर, जिसे आजतक असभ्य और जगली जीवन के नाम से पुकारा जाता है, ही लौटता है। पीछे हटना प्रगति नहीं है। मानव स्वभाव को बदलने, शोषण का अन्त करने और रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए मानव का शान्त और अहिंसाधर्म

ही उपयोगी हो सकता है, जिस रक्तपान का यह प्रगतिवाद विरोध करता है, जिन दानवी मूर्तियों का खंडन आज का प्रगतिशील करना चाहता है, उसी रक्तपान और दानवीय भावनाओं का सहारा लेना उसके लिए वांछनीय नहीं है।

फ्रॉयड और मार्क्स को छोड़कर हमारे प्रगतिशील लेखकों को भारतीय संस्कृति और अपने मानव-धर्म का ध्यान रखकर ही प्रगति साहित्य की रचना करनी चाहिए।

—विश्वप्रकाश दीक्षित 'वटुक'
साहित्यरत्न

---

(१८)

हिन्दी भाषा और उसकी उपभाषाएँ

संसार परिवर्तनशील है। उसकी प्रत्येक वस्तु अनादि काल से अदल बदल रही है। किसी वस्तु की सत्ता के इतिहास सम्बन्धी खोज करने से पता लगेगा कि जो रूप उसका वर्तमान में है पहले उसका वह रूप न था, तथा इस रूप मे आने से पूर्व उसे अनेकानेक रूप बदलने पड़े होंगे।

जो सिद्धान्त अन्यान्य पदार्थों में लागू है, भाषा मे भी वही लागू है। उसका इतिहास जटिल तो है सही, परन्तु चित्ताकर्षक और मनोरंजक भी है। जो भाषा जितनी प्राचीन होती है उसमे उलट फेर भी उतने अधिक होते हैं।

भारतवर्ष की सभ्यता प्राचीनतम है, अत: इसकी भाषायें भी प्राचीनतम हैं। इसी कारण इन्हें विकास-सिद्धान्तानुसार कई परिस्थितियों मे से गुजरते और परिवर्तन प्राप्त करते यह स्वरूप मिला होगा।

यह स्मरण रहे कि अन्यान्य देश और जातियों के राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव देश और जातियों पर पड़ने के साथ साथ उनकी भाषाओं पर भी पड़ता है। भिन्न भिन्न जातियों से ससर्ग होने पर उनकी सभ्यता और आचार विचारों में विनिमय, संघर्ष और आदान प्रदान तो होते ही हैं, साथ ही उनकी भाषाओं के मिश्रण से नये शब्द बन जाते हैं और कभी कभी भाषा मे भी नयापन आ जाता है।

इसलिए भारत की भाषाओं के प्राचीनतम से वर्तमान रूप मे यदि इतना महान् अन्तर हो गया हो तो इसमे कोई विस्मय की बात नहीं। भाषाओं की परिवर्तन-गति की समता एक ऐसी नदी से की जा सकती है जो हिमालय के शुद्ध स्रोत से निकल सहस्रों कोसों का मार्ग पार कर समुद्र में गिरी हो। स्रोत से निकलते ही उसका जो शुद्ध रूप होता है उसकी तुलना उसके उस कलुषित रूप से जो उसका समुद्रपतन के समय होता है—हो सकती है? उन दोनों मे आकाश-पाताल का अन्तर होता है। यही दशा भाषाओं की होती है। उत्पत्ति के समय उनका जो रूप होता है, वह हजारों वर्षों के बाद नहीं रहता।

उदाहरण—संस्कृत को लीजिये। संसार की प्राचीनतम पुस्तक वेद है। उनकी भाषा और अर्वाचीन काल की संस्कृत भाषा में कितना भेद है! बीच बीच में ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों और आख्यायिकाग्रन्थों की भाषाओं से संस्कृत का विकास किस गति से हुआ है, इसका ज्ञान हो सकता है।

पीछे कहा जा चुका है कि अन्य देश और जातियों के संमिश्रण से नयी भाषाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। संस्कृत के साथ भी ऐसे ही हुआ। वैदिक भाषा से संस्कृत उत्पन्न हुई और अनार्यों के संपर्क से प्राकृत भाषाएँ बनीं।

यह तो सर्वसम्मत बात है कि प्रतिदिन के व्यवहार और बोल-चाल की भाषा मे जितना शीघ्र परिवर्तन होता है उतना शीघ्र साहित्य की भाषा में नहीं होता। जब उपर्युक्त प्राकृत भाषा भी संस्कृत की तरह साहित्य मे प्रयुक्त होने लगी और शिष्टसमुदाय के पठन-पाठन के ग्रन्थों की भाषा बन गई, तब बोलचाल की भाषा का प्रवाह स्वतन्त्र रूप से अपनी चाल चलता रहा। उसमें काल-क्रम से कई परिवर्तन भी होते रहे। इस भाषा को 'अपभ्रंश' संज्ञा दी गई। हिन्दी इसी 'अपभ्रंश' की पुत्री मानी गई है।

भिन्न भिन्न कालों मे विकासवश हिन्दी मे जो भेद होते रहे हैं तदनुसार इसके मुख्य चार प्रकार हैं—१ राजस्थानी, २ अवधी, ३ व्रजभाषा और ४ खड़ीबोली। एक बुन्देलखंडी भाषा भी मानी गई है, पर वह व्रजभाषा के ही अन्तर्गत है।

१—राजस्थानी की चार बोलियाँ (क) मारवाडी, (ख) जयपुरी, (ग) मेवाड़ी और (घ) मालवी।

मारवाडी—मारवाडी का पुराना साहित्य डिंगल नाम से प्रसिद्ध है। दादूदयाल और उनके शिष्यों की वाणी जयपुरी भाषा मे है।

मेवाती और मालवी मे कोई साहित्य नहीं—कम से कम अब तक मिला नहीं। मेवाती व्रजभाषा से और मालवी बुन्देलखण्डी से बहुत मिलती जुलती है।

२—अवधी—अवधी भाषा का प्रचार अवध, आगरा, बुन्देल-खंड छोटा नागपुर और मध्य-प्रदेश के कई भागों में है। अवधी की तीन बोलियाँ मानी गई हैं—१ अवधी, २ बघेली और छत्तीसगढ़ी।

अवधी और बघेली मे कोई विशेष अन्तर नहीं; परन्तु

छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ने से यह अवधी से कुछ भिन्न हो गई है।

३—व्रजभाषा—व्रजभाषा शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश से निकली है। इसका मुख्य केन्द्र व्रजमण्डल है, किन्तु इसका प्रचार दक्षिण की ओर आगरा, भरतपुर, धौलपुर और करौली मे तथा ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में है और उत्तर की ओर गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक बोली जाती है।

इसका केन्द्र स्थान मथुरा है और वहीं की भाषा शुद्ध व्रज-भाषा है। इस स्थान से वह जिधर जिधर चली है वहीं वहीं के संसर्ग से इसके रूप मे कुछ कुछ विकार होते गये है।

४—खड़ी बोली—खड़ी बोली का इतिहास बहुत जटिल और रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर बोली जाती थी; पर भारत में मुसलमानों के आक्रमण और राज्य-स्थापन के कारण उन्होंने दिल्ली की भाषा को, जो उस समय उनके शासन का केन्द्र थी, अपनाया। पहले पहल अरब, फारस और तुर्किस्तान से आये हुए सिपाहियों को परस्पर भाव-विनिमय मे बड़ी कठिनता होती थी। न वे यहाँ की 'हिन्दवी' को समझते थे और न भारतीय उनकी भाषाओं को। परिणाम वही हुआ जो साधारणतः हुआ करता है। 'दोनों' ने एक दूसरे की भाषाओं मे कुछ कुछ शब्द सीख कर किसी प्रकार आदान-प्रदान का रास्ता निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) मे पहले पहल एक खिचड़ी पकी, जिसमें दाल चावल सब खड़ी बोली के थे, सिर्फ नमक आगन्तुकों ने मिलाया। आरम्भ मे तो वह निरी बाज़ारू बोली थी, पर धीरे-धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ

की भाषा के ढाँचे का ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ कुछ स्थिर हो चला। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मान कर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ फैलते गये वे इस भाषा को साथ लेते गये। उन्होंने इसमे केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी, अरबी व्याकरण का रंग चढाना आरम्भ कर दिया। इस अवस्था मे इसके दो रूप हो गए, एक तो हिन्दी ही कहलाता रहा और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करने पर व्याकरण का सङ्गठन हिन्दी के ही अनुसार रख कर, अँगरेजों ने इसका तीसरा रूप 'हिन्दुस्तानी' बनाया। अत एव इस समय इस खड़ी बोली के तीन वर्तमान रूप हैं—(१) शुद्ध हिन्दी - जो हिन्दुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिन्दुओं मे है। (२) उर्दू—जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों मे है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिन्दुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है। (३) हिन्दुस्तानी—जिसमे साधारणतः हिन्दी, उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका सब लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। (हिन्दू और मुसलमानों की सार्वदेशिक भाषा के सम्बन्ध मे अड़चन को मिटाने के लिए हिन्दुस्तानी को ही उस पद पर प्रतिष्ठित करने पर आजकल जोर दिया जा रहा है।)

—संत गोकुलचन्द्र शास्त्री

(१६)

प्रकृति-सौन्दर्य

विश्वम्भर की अपार अनुकम्पा से अखिल प्रकृति सौन्दर्य ही सौन्दर्य से परिपूरित है। रजनी का अवसान होने को है। ऊषा रानी आती है। मानो प्रिय-सखी निशा रानी परदेश चली है उसे मिलने आ रही हो। "यह क्या? आँसुओं की झड़ी? आ बहिन गले मिल लें, आह बहिन ऊषा! निशा! क्या कहूँ? न जाने फिर कब मिलें!"

निशा चली गई। ऊषा का यौवन खिल उठा। अवश्याय विन्दु कुश, काश और मृदु दूर्वा पर पड़े हैं, मानो हरी मखमल पर धवल मोती जड़े है। यह दृश्य देख प्रकृति-प्रेमी के लोचनारविन्द भी तत्क्षण ही आनन्दाश्रुओ से सुशोभित होते है। अवश्याय से कुम्हलाई दूब पुनः नूतनता लाभ करके तन जाती है, मानो धरित्री देवी को ऊषा के अश्रुओ से रोमाञ्च हो आया हो। यह देख किस मनुज के रोमाञ्च नही होता?

उधर देखिए—चन्द्रराज जान लेकर भाग रहे है, अरे! रे! भागो, भागो, महाप्रतापी भास्कर देव का सेनापति अरुण आ पहुँचा। अरुण ही अरुण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। पेड़, पल्लव, शाखा, नदी-जल, पुलिन, तट, पशु-पक्षी आदि अखिल पदार्थ अरुणिमामय हैं। भगवान् भास्कर का साम्राज्य स्थापित हुआ जान उसके पक्ष-समर्थक-हृदय-कमल विकसित हो रहे है। अहो! इधर कौन मन मारे, उदास और सुस्त बैठा है? ठीक है, चन्द्रराज के भक्त-हृदय-कुमुद मुरझा गये है। ओह! प्रभात काल की इतनी शोभा हृदय से सम्भाली न जाती थी। उस पर खग-कुल के कलरव ने निखिल जगतीतल को मुखरित कर

दिया। प्रभात की शोभा ने उसके रूप को, उसके सौन्दर्य को, उसकी मधुरिमा को द्विगुणित कर दिया, मानो अति मधुर रसाल के रसीले रस मे इक्षुरस घोल दिया हो। हृदय आप्लावित हो गया। अब भॉति भॉति के फूल पूर्णतया फूल गये है। इधर गुलाब है तो उधर मौलसिरी। कहीं केतकी है। कही जूही, चमेली, नरगिस। सब अपनी-अपनी छटा से विश्व भर को विमोहित करने मे लगे है। अमलतास के फूलो के लच्छे कोस भर दूर से ही रूप और सुरभि से बलात् आकर्षित कर रहे है। मधुकर मधुर मधु से खिंचे, पुष्पो की ओर उड़े जा रहे है।

ग्रीष्म ऋतु है। सरिता-तट सब को सुहाता है। मस्तानी चाल से झूमती हुई हथिनी की तरह नदी बही जा रही है। "तटिनी! क्यो? कहां दौड़ी जा रही हो। पर्वत ने कोई सन्देश दिया है जो वारिधि को सुनाने जा रही हो? ए! क्या कहा? अच्छा पितृगृह से पतिगेह जाती हो। सुनो तो! नही, इस समय क्यो ठहरोगी, ऐसे समय कौन ठहरता है? अच्छा जाओ। कल्याणी! अपने स्निग्ध शीतल सलिलामृत से दुःख-दाव-दग्ध जनो को पुनरुज्जीवित करती जाना। तुम्ही अन्नपूर्णा हो। हमारे खेत हरे भरे करती जाना।" अहो! अकस्मात् ये शब्द नदी के सौन्दर्य को अनुभव करने वाले मनुज के हृदय से निकल पड़ते है।

पर्वत पर तो मानो प्रकृति-नटी पूर्ण शृंगार करके नृत्य कर रही है। इधर पर्वत-शृंग सच्चे आत्माभिमानी के समान सिर उठाये खड़े है, तो उधर झर-झर झर-झर करता निर्झर दिग्दिगन्त को सुध्वनित कर रहा है। यहां देवदारुतरु विलसित है, तो वहां चील के द्रुम सुशोभित है। मानो सरलता का आदर्श जगन्नियन्ता ने मनुज के सम्मुख रक्खा हो। इधर निर्झर के किनारे

किनारे पाषाण-भेद, ब्रह्मी आदि सैकड़ो वनस्पतियाँ जगमगा रही है। इन्हें देख हृदय नाच उठता है और कहता है—

अचल! अचल! चल चल कर थकि थकि,
पिय पिय मधुर मधुर निरभर पय।
अयि गिरिवर पुनि लहि वल नव नव,
रति सह पथिक करत तव जय जय॥

ग्रीष्म के दिन बीते। अब वर्षा ऋतु आई। प्रकृति देवी हरी शाटिका को धारण कर उसका स्वागत करती है। इष्ट-प्राप्ति से आनन सौन्दर्य शतगुण हो जाता है। अब चारो ओर हरीतिमा ही है। समीरण सरसर चलने लगा। अहो! नभ मे वारिद घिर गये। पवन अपना शासन कर रही है। अब—

टप टप कण कण बरसत नव घन,
प्रभु रति अतिशय उमड़त जन मन।

ठीक ही है। इस सौन्दर्य से मन-मयूर नाच ही उठता है। शनैः शनैः वर्षा की गति बढ़ती है। मूसलाधार वर्षा होने लगीं। घनघोर-गर्जन कर रहा है। सौदामिनी चमकती है। मानो अपने पति मेघराज का पराक्रम देख हर्ष से हँस रही है। कड़ कड़ धड़ाम, कड कड़ धप्प—शब्द हो रहे हैं। मानों संगीत-रसिक सुर-ताल साध रहे हो।

अब वर्षा थम गई। पथ प्रक्षालित हो गए। पादपों ने नूतन जीवन लाभ किया। लताएं लहलहा, मस्तानी हो, झूमने लगी। पल्लव सरसर सरसर हिल रहे है। मानो पादप ही पल्लव-करों द्वारा पक्षियों को उपदेश दे रहे हों। पक्षियो के भी वर्ण निखर आये हैं। उधर दादुर टर्र टर्र करने लगे। इधर कोकिल, काग, कपोत आदि कलरव करने लगे। अकस्मात् वारिद-रूपी पटावरण चीरकर

मानों कमलो को 'अभी रात नहीं हुई' यह कहने के लिये भगवान् भुवन-भास्कर अपनी दिव्य प्रभा समेत प्रकट हुए। नभोमण्डल सतरंगे इन्द्रधनुष से सज गया। मुख से अस्फुट उद्गार निकलते है—

अहो प्रकृति-सौदर्य तुम्हारा क्या कहना है,
वर्षा के उपरान्त इन्द्र-धनु तव गहना है।

बहुत दिन रहने से अनादर होता है, मानो यही सोचकर वर्षा-महिषी प्रकृति देवी से विदा लेती है। उधर सजधज कर मनभावनी शरद्ऋतु आती है। आहा !

पावस का अवसान, शारदी सुषमा छाई,
पुष्प खिले चहुँ ओर, प्रकृति शोभा अधिकाई।

आज शरत्पूर्णिमा है। प्रकृति कितनी सुन्दर है। गगनमण्डल मे कहीं एक टुकड़ा भी जलद का नही। वह पूर्ण अमल नीलिमामय है। पथो मे, वीथियो मे, कही कर्दम नही। अखिल विश्व का वर्ष भर का मैल धुल चुका है। धरित्री स्वच्छ धवल वस्त्र धारण किये है। इधर श्वेत श्वेत काश एवं शरकाण्ड फूले हैं, उधर श्वेत चमेली के गुच्छे झूले है। सब तड़ागो मे कमल खिल गए हैं और उन पर उन्मत्त मधुकर सुरापायी के समान झूम रहे हैं। इस समय तो—

"न तज्जल यत्र सुचारुपङ्कजम्,
न पङ्कजं तद्यदलीन षट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलम्,
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥"

अर्थात्—कहीं पर भी ऐसा जलाशय नहीं जिसमे कमल न सुशोभित हो, कहीं पर भी ऐसे कमल नहीं जो भ्रमरों से रहित

हों, कोई भी ऐसा द्विरेफ नहीं जो मधुर गुञ्जन न कर रहा हो और उनकी कोई भी गुञ्जार ऐसी नहीं जो मन को हरती न हो।

गोधूलि वेला हुई। वत्सो और धेनुओं की मधुर मधुमयी पारस्परिक हुंकृति से गगन गूजने लगा। पक्षीगण चहचहाते बसेरा करने जा रहे हैं। अहा! इस काल का आनन्द वर्णनातीत है। सूर्यदेव थक गये है, मानो विश्राम करने अस्ताचल को जा रहे हों। अहा! सारे आकाश मे लालिमा छा गई। इस समय नदी तट पर प्रकृति अपना रूप सवारती है। एकाएक अन्धकार छा गया मानो प्रकृति देवी ने अपनी कृष्ण केशराशि प्रसारित कर दी। वाल शीघ्र वाँधो, देखो रजनीश आते हैं। अहो! सुधाकर आ पहुँचे। तभी तो सारा लोक आलोकिक हो गया। कुशल सुधारकर सुधाकार ने भुवन-भवन मे सुधा पोत दी। तारे छिटक गये। प्रकृति की इस सुन्दरता को लख कर किसका मनःकुमुद मुदित न होगा? देखिये कवि-हृदय इस सौन्दर्य मे सव कुछ भूल कर रह रहा है—

"वसन चाँदनी चन्दमुख, उडुगन मोती माल।
कास फूल मधुहास यह, सरद किधौं नव वाल॥"

और कभी "अहो यह सरद सम्भु बनि आई।
कास फूल फूले चहुंदिसि तें सोइ मनु भस्म लगाई॥"

आदि गुनगुना रहा है। कोई किरण को ही लक्ष्य कर कहा रहा है—

"किरण! तुम क्यो भिखारी हो आज,
रंगी हो तुम किस के अनुराग?"

इधर आनन्द-विभोर होकर वालक 'धूपछाँह' खेल रहे हैं। उधर वालिकाओं का एक दल कहानी कह रहा है। यहां बहुत से

बच्चे एक दूसरे का हाथ पकड़ कर गोल बाँधे खड़े है। उनके गोल के मध्य मे दो भाई-बहिन खड़े मिल कर गा रहे है--

यह चन्दा मामा क्या है ? है दूध से भरी कटोरी।
ये धब्बे से क्या उसमे ? है ऊपर शक्कर भोरी।
यह चाँदी सी क्या बिखरी ? है झाग दूध की बहिना।
ये तारे क्या है निखरे ? है दूध के छींटे छिटके।
आ भाई उछलें, कूदें, आ बहिना खुशी मनावे।
जिस प्रभु ने चाँद बनाया, उसके ही बलि बलि जावें॥

शरत्पूर्णिमा का सौन्दर्य आबालवृद्ध सब के हृदयो को समानरूपेण मग्न कर देता है। इसी प्रकार हेमन्त तथा शिशिर ऋतुएं और ऋतुराज वसन्त यथासमय आते और प्राकृतिक सौदर्य से भूतल को भर कर चले जाते है।

ऊषा का आना, दूब का मोतीमय होना, सूर्योदय, नदी, नाले हिमाच्छादित गिरिशृङ्ग, पुष्प, निर्झर, अधित्यका, उपत्यका, भिन्न-भिन्न ऋतुओ का विलास, संध्यागमन, चन्द्रोदय, आदि जिधर देखो प्रकृति अपने अनन्त सौदर्य से विश्व-भर को आच्छादित किये है। सूर्य-चन्द्रादि की नियमित गतियो और ऋतुओ के सुनियमित चक्र को देख और उनकी सुषमासुधा का पान कर मनोमानस नम्रता, श्रद्धा और भक्ति से उस जगन्नियन्ता के सम्मुख सहसा नत हो जाता है।

—श्यामचन्द्र विशारद

हिन्दी साहित्य में हास्य-रस

साहित्याचार्यों की बहुसख्या रसात्मक वाक्य या वाक्य-समूह को काव्य अंगीकार करती है। रस के नौ भेदों में हास्य रस का भी अपना स्थान है । यद्यपि साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों मे हास्य-रस प्रायः शृङ्गार आदि का पोषक ही दृष्टिगोचर होता है; तथापि इसमे कोई सार नहीं कि प्राचीन कवियों और साहित्यानुरागियो के मानस केवल शृङ्गार, वीर, करुण आदि रसों में ही लगते थे। पृथ्वीराज रासो आदि वीर काव्यों तक मे क्वचित् क्वचित् इसकी पुट पाई जाती है। अमीर खुसरो की मुकरियों और पहेलियों मे आने वाला हास्य भी अविस्मरणीय है। वीरगाथा काल को लांघते ही भक्ति-काल की निर्गुण धारा के ज्ञानाश्रयी कवि कबीर साहब की कविताओं मे भी हास्य प्रस्फुरित दृष्टिगोचर होता है । "अरे इन दुहुन राह नहीं पाई" आदि मे इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिए मीठी चुटकी ली है। वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित अष्ट-छाप के कवियो के भक्ति ग्रन्थों में हास्य-रस का विलास न भी हो तो भी स्मित तो ठौर ठौर पर है। महाकवि सूरदास जब अपने इष्ट, अपने प्रभु कृष्ण से प्रेम-भक्तिमय हास्य करने से नहीं चूकते तो अष्टछाप के आठों कवियो का दरबार लगने पर काव्यचर्चा मे अवश्य ही क़हकहे लगते होंगे । सूरदास अपने आराध्य देव को हास्यपूर्ण धमकी देते है--"अब हौं उघरि नचन चाहत हौं। तुम्हे विरद बेन करिहौं" । कृष्ण के मुख से "ग्वाल बाल सब बैर परे है बरबस मुख लपटायो, मैया मै नहीं माखन खायो" कहलाना भी हास्य-रस से रिक्त नहीं है। सन्त कवि तुलसीदास का भक्त-हृदय भी हास्य का स्वाद लेता था। रामचरितमानस मे परशुराम की दंभभरी महकी बातें सुन कर—

"कहेउ लखण मुनि सील तुम्हारा । को नहिं जान विदित संसारा ॥
मातुहिं पितुहिं उरिन भये नीके । गुरुरिन रहा सोच बड जीके ॥
सो जनु हमरेहि माथे काढा । दिन चलि गयउ ब्याज बहु बाढा ॥
अब आनिय व्यवहरिया बोली । तुरत देउँ मै थैली खोली ॥"

अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री कवि बीरबल भी बड़े विनोदी थे । उनकी उक्तियों और फबतियों पर बड़े बड़े दरबारों मे कहकहे चलते रहे, पर वास्तव मे पुस्तक रूप मे हिन्दी-साहित्य को उनसे वह हास्य नहीं मिला । फुटकर रूप से भले ही दो चार चीजें मिली हों । केशव, रहीम, बेनी और बिहारी आदि की रचनाओं मे भी कही कहीं हास्यरस पाया जाता है—

"तुमहूँ कान्ह मनो भये आजु कालिह के दानि ॥"-बिहारी

अठाहरवीं शताब्दी मे अलीमुहिब्ब खाँ (प्रीतम कवि) ने 'खटमल बाईसी' नामक पुस्तक लिखी । केवल हास्य के पृथक ग्रन्थ के रूप मे सम्भवतः हिन्दी मे यह पहली रचना है । एक उदाहरण—

"जगत के कारन करन, चारों वेदन के,
कमल मे बसे वै सुजान ज्ञान धरिकै ।
पोषन अवनि दुख सोषन तिलोकन के,
समुद मे जाय सोए सेस सेज करिकै ॥
मदन जरायो, जो संहारैं दृष्टि ही में सृष्टि,
बसे हैं पहारि वोऊ भाजी हरबरिकै ।
विधि हरि हर और इनते न कोऊ, तेऊ,
खाट पै न सोवै खटमलन कों डरिकै ॥"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने प्रायः साहित्य के प्रत्येक अंग को हाथ लगाया था, पर हास्य के तो वे अवतार थे । होली आदि के अवसर पर कोई न कोई हास्य का सामान जुटा कर ही उन्हें

चैन पड़ता था। उन्होंने कई 'चने जोर गरम' और 'चूरन बड़ा मसालेदार' के लटके बनाये हुए थे। प्रतापनारायण मिश्र जी की लेखनी तो मानो हँसी के फूल बिखेरा करती थी। उनके हास्य-रस के दो तीन उदाहरण यहां दिये जाते हैं—

"हाय बुढ़ापा तोरे मारे हम तो हैं नकन्याय गयन"
"दाढ़ी ही पर बहि बहि आवै कबौं तमाखू जो फाकन"

मिश्र जी के गद्य और पद्य दोनों मे हास्य और व्यङ्ग्य इतने गुदगुदाने वाले हैं कि पढ़ते ही बनता है। मिश्र जी के हास्यपूर्ण गद्य का एक नमूना देखिये—

"भला हमारी बातों मे तुम्हारे मुंह से हि हि तो निकली। इस तोबड़ा से लटके हुए मुंह के टांकों के समान दो तीन दांत तो निकले। देखो, आंखे मट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया की ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो। इसी से कहते हैं, भैया मान जाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जावं।"

कविता-कामिनी-कान्त नाथूराम शंकर की 'वायसविजय' और 'गर्भरण्डारहस्य' पुस्तकों मे हास्य पर्याप्त है। होली के भडुओं पर उन्होंने अपनी कविता मे खूब फबतियां कसी हैं। पञ्चपुकार सुनिये—

"ठेके पर लेकर वैतरणी, दे कर दाढ़ी मूँछ।
वाटर-बाईसिकल के द्वारा बिना गाय की पूँछ॥
मरों को पार उतारूँगा। किसी से कभी न हारूँगा॥"

आप अपनी ग्रामीण भाषा मे भी हास्य की कविता लिख मारते थे। एक उदाहरण—

"हिल मिल पोंगा-पञ्च, करै आल निच्चे जाने।
हम हिन्दू न असत्त, आरिया मत को माने॥
च्चों बिसार कुल रीत, विगारें गैल पुरानी।
ठाकुर पकरें बाँयँ, करे रच्छा ठकुरानी॥

भाँ मनमानी माया मिले, भाँ खातर भरपूर हो ।
छेको तु संकर जात ने, बोल "नमस्ते" दूर हो ॥"

यहां तक तो हुई पुरानी बात । अब नई झाँकी भी देखिये । आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे हास्य-रस के तीन प्रकार के लेखक हैं । पहले वे जो पात्रों के उलटे सीधे नाम, धमाचौकड़ी, मारपीट, धौलधप्पा आदि के वर्णन द्वारा अथवा अश्लीलता के पास पास पहुंचने वाले या यों कहिए कि अशिष्ट हास्य द्वारा जनता की वाहवाही लूटने और उनकी जेबों से धन निकलवाने की विद्या मे कुशल हैं । साधारण जनता ऐसे लेखकों को बहुत चाहती है, अतः ऐसे लेखकों की पुस्तकों के शीघ्र शीघ्र संस्करण हुआ करते है । 'साहित्यिक हास्य' के नाम पर सूखे और सकील भाव फेकना और अपनी पुस्तकों को दीमक का ग्रास बनाना अनुचित है, पर समाज के आचरण और रुचि को निम्न करने वाले हास्य को साहित्य मे स्थान देना ठीक नही । रोगी को ज्वर है । उसकी रुचि आम का अचार खाने की है । वैद्य यदि उसे अचार दे-दे तो निश्चय ही उसका रोग बढ़ जायगा । इसी प्रकार रुचि के नाम पर अवांछनीय हास्य से समाज की हानि ही होगी । इतना होने पर भी इस कोटि में कुछ अच्छे लेखक भी हैं । उनमे जी० पी० श्रीवास्तव जी प्रतिनिधि लेखक हैं । उनका हास्य साधारण जनता की चीज है । सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के विरुद्ध उन्होंने हास्य का अमोघ अस्त्र प्रयुक्त किया है; परन्तु 'लतखोरीलाल' आदि मे कही कही उनका हास्य ग्राम्यत्व और अश्लीलता दोष से युक्त है । इसके अतिरिक्त भाषा भी यदि वे अधिक फारसीमय न करके चलती हिन्दी करें तो उनका हास्य-लेखकों मे ऊँचा स्थान हो ।

दूसरी कोटि के वे लेखक है जो जनता मे सुरुचि की संस्था-

पना करना चाहते है । वे जनता की बोलचाल की हिन्दी मे लिखते है और शिष्टता की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। इस कोटि के लेखकों की रचनाएं वास्तव मे गौरव की वस्तु हैं। उनका हास्य जनता की मनोवृत्ति को ऊँचा उठाने वाला है तथा मन मे एक विशेष प्रकार का हर्ष, आनन्द, एक मस्ती, एक गुदगुदी पैदा करता है। इस कोटि के लेखकों मे अन्नपूर्णानन्द जी ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। 'महाकवि चचा' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। वास्तविक आस्वादन तो पुस्तक पढ़ने से ही हो सकता है। उदाहरण के लिये एक पद्य पर्याप्त होगा—

"पिल्ला लीन्हे गोद मे, मोटर भई सवार।
अली भली ढूंढ़न चलीं. किये समाज सुधार॥
किये समाज सुधार, हवा योरप की लागी।
शुद्ध विदेशी चाल ढाल सों मति अनुरागी॥
मियाँ मचावै सोर. करै अब तोबा तिल्ला।
पूत धाय के गोद, खिलावैं बीबी पिल्ला॥

इसके अतिरिक्त इनकी 'मेरी हजामत' 'मगन रहु चोला' आदि और भी पुस्तके निकली है।

कला की दृष्टि से हरिशंकर शर्मा जी का लिखा 'चिड़ियाघर' सर्वोत्कृष्ट है। पर कहीं कहीं उसमें कुछ बातें ऐसी आ जाती हैं. जिनका उच्चकोटि के साहित्यिक ही रसास्वादन कर सकते है, साधारण कोटि के पाठक नहीं। आसन्न भविष्य मे उन्हीं को हास्य-रस का सर्वोच्च आसन दिया जायगा. इसमे सन्देह नही। सुनिये उनके 'करमफोड़ कम्बख्तराय' क्या रोना रो रहे है—

"लेकर कर्ज किया व्योपार, वेचे बिस्कुट सेव अनार।
किये न लोगो ने 'पेमैंट'. घाटा सहा 'सैट पर सैट'॥"

स्वर्गीय पं बदरीनाथ भट्ट जी ने भी इस ओर कलम उठाई थी। विवाह विज्ञापन, मिस अमेरिकन आदि कई प्रहसन उन्होंने लिखे थे। हास्य-रस के साहित्य मे 'दुबे जी की चिट्ठियाँ' स्थायी चीज है। हास्य, वह भी चुहचुहाता और साथ मे समाज सुधार की भद्र भावना, सोने मे सुगन्ध इसी का नाम है।

हास्य-रस की मांग देख 'मतवाला' आदि कई पत्र पत्रिकाएँ निकली थीं। मतवाला मे अच्छा पक्क हास्य-रस रहता था, पर अब वह बन्द हो चुका है। आजकल 'मदारी' पत्र मे अच्छा हास्य रहता है।

हास्य की तीसरी कोटि मे वे लेखक आते है जो गम्भीर हृदय के होते हुए भी हास्यरस की रचना करना चाहते और करते हैं। पर वे कहां तक-सफल होते हैं ? देखिये—

"मुर्दे चीरते चीरते आपका हृदय इतना कठोर बन जाता है कि मृत्यु आपके लिए साधारण-सी बात हो जाती है। शव-शय्या के पास आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता।"

हास्य-ग्रन्थो का अनुवाद भी हिन्दी मे होने लगा है— श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने कई प्रहसनो का अन्य भाषाओ से अनुवाद किया है। डा० लक्ष्मण स्वरूप जी द्वारा अनूदित मोलियर का 'बनिया चला नवाब की चाल' नामक प्रहसन उत्कृष्ट और शिष्ट हास्य का नमूना है। 'परशुराम' महोदय के 'भेड़ियाधसान' और 'लम्बकर्ण' का श्री धन्यकुमार जैन ने अनुवाद किया है। हास्य-रस के ये दो अनूठे ग्रन्थ है। श्री श्री सिद्धेश्वरी लिमिटेड मे सेठ गण्डेरीराम के तीन कौड़ी को ठेंगा दिखाकर 'कुछ भी न्हीं, कुछ भी न्ही' कहने पर तथा "एसी गत सिन्सार मे ज्यू गाडर का ठाट" आदि कहने पर हँसी बरबस रोके नही रुकती।

पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओ मे चुटकलों का प्रचार भी हास्य-रस की पूर्ति कर रहा है। एक नमूना देखिये—

"सरकस वालों का एक शेर पिंजड़ा तोड़ कर भाग गया। वे उसे ढूंढ़ ढूढ़ कर थक गए। दो दिन बाद एक देहाती शेर को कान से पकड़े हुए लाया और बोला—का साहिब, ई बिलायती कुत्ता आप लोगन का है।" इधर कान्तानाथ पांडेय 'चोंच' की कई पुस्तकें हास्यरस-मयी निकली हैं। हृषीकेश की विजया-वाटिका भी अच्छी है।

हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। यह भारत की जनता के हृदय पर अधिकार पा रही है। इस मे सुरुचिपूर्ण हास्यरस का पूर्णत: समावेश हो, यही कामना है।

—श्यामचन्द्र विशारद

---

(१८)

बंगला और मराठी-साहित्य का हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध

वङ्गला, मराठी तथा हिन्दी ये तीनो भाषाएं अपभ्रंश से प्रादुर्भूत हुई है। मराठी-साहित्य का जितना प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर पड़ा है, उससे कही अधिक वङ्गला-साहित्य का पड़ा है। जिस समय भारतेन्दु ने देखा कि वङ्गला साहित्य मे नए प्रकार के सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि विद्यमान है और हिन्दी मे उनका सर्वथा अभाव है; तब यह देख कर उन्होने हिन्दी-साहित्य को पुराने मार्ग से हटा कर नए पथ पर चलाया। उन्होने संवत् १९२५ मे वङ्गला के 'विद्या सुन्दर' नामक नाटक का हिन्दी-अनुवाद किया। उनका

'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक भी एक बङ्गला-नाटक का अनुवाद सा ही है। इन्ही दिनो पं० राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा' 'जावित्री' और 'मृण्मयी', बाबू गदाधरसिंह ने 'बङ्गविजेता' और 'दुर्गेशनंदिनी,' बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता' आदि, प० प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'राधा रानी' आदि उपन्यासो का हिन्दी मे उल्था किया। रामकृष्ण वर्म्मा ने 'वीर रानी', 'पद्मावती' और 'कृष्णकुमारी' आदि कई बङ्गला-नाटको को हिन्दी रूप दिया। बाबू गोपालराम गहमरी ने 'बभ्रुवाहन', 'देश-दशा', 'विद्याविनोद' और रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'चित्रांगदा' नाटक का अनुवाद किया।

द्वितीय उत्थान-काल (सन् १९००–१९२०) मे पं० रूपनारायण पांडेय आदि एक दो लेखको ने द्विजेन्द्र बाबू के कई नाटको का हिन्दी मे सुन्दर अनुवाद किया। इस उत्थान के कुछ वर्ष पूर्व ही बाबू रामकृष्ण ने 'पुलिस वृत्तान्त माला', 'ठगवृत्तान्त माला' और 'अबला वृत्तान्त माला' आदि तथा बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'इला' और 'प्रमिला' नामक उपन्यासो के अनुवाद हिन्दी मे कर डाले थे। बाबू गोपालराम गहमरी ने संवत् १९५७ के कुछ पूर्व 'चतुर चचला', 'मानवती', 'नई बहू' के और द्वितीय उत्थान के प्रारम्भ मे 'बड़ाभाई' 'देवरानी जेठानी' 'दो बहिनें', 'तीन पतोहू' और 'सास पतोहू' नामक उपन्यासो के अनुवाद किए। इस उत्थान-काल मे बंकिम चन्द्र, रमेशचन्द्रदत्त, हाराणचद्र रक्षित, चडी चरणसेन, शरत बाबू, चारुचंद्र आदि प्रसिद्ध बङ्गला उपन्यासकारों की कृतियो के अनुवादो के अतिरिक्त टैगोर के भी 'आंख की किरकिरी' आदि कई उपन्यासों के हिन्दी मे अनुवाद हुए। इनके प्रभाव से हिन्दी के मौलिक उपन्यास-लेखको का आदर्श स्थिर हो गया और हिन्दी मे बङ्गला से एक अत्यन्त

परिमार्जित,सुन्दर,सुसंस्कृत पद-विन्यास की परम्परा प्राप्त हुई। इस समय तक बङ्गाल मे भाव-प्रधान उपन्यास काफी रचे जा चुके थे; पर हिन्दी मे उनका अभाव था। यह देख कर बाबू ब्रजनंदन सहाय ने 'सौन्दर्योपासक' और 'राधाकांत' उपन्यासों की रचना उसी शैली पर की। इधर पूरे शरत् साहित्य के अनुवाद से तो हिंदी को बगला से एक अमूल्य निधि मिल गई है। अङ्गरेजी के अनुकरण पर आख्यायिका-रचना पहले वङ्गला मे प्रारम्भ हुई थी फिर उसकी देखा-देखी हिंदी मे भी गल्पें लिखी जाने लगीं।

नाटक—द्विजेन्द्रलाल राय के 'मेवाड़पतन', 'दुर्गादास', 'चद्रगुप्त', 'भीष्म', 'सीता', 'पाषाणी', 'नूरजहां', 'शाहजहां' आदि नाटको के उत्तम अनुवादो से हिंदी-लेखको मे आधुनिक ढंग के अभिनय-उपयोगी नाटकों की रचना की रुचि उत्पन्न हुई और जयशंकर प्रसाद आदि के नाटक सामने आए। जिस भावात्मक गद्य मे राय कृष्णदास ने 'साधना' तथा वियोगी हरि ने 'अन्तर्नाद' की रचना की है, उनका आधार भी बङ्गभापा का 'उद्भ्रांत प्रेम' और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाएँ 'गीतांजली' आदि ही है।

कविता—कविता क्षेत्र मे भी वङ्गला-साहित्य का हिंदी-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आज हिंदी मे छन्द-विहीन कविता पर्याप्त मात्रा मे रची जाती है। हिंदी वालो ने यह प्रवृत्ति वङ्गला से ही ली है। इसके अतिरिक्त छायावाद की कविता और कोमल-कांत पदावली के लिए हिंदी कविता को टैगोर और वङ्गला भापा का ऋण मानना ही पड़ेगा। मैथिलीशरण गुप्त ने वङ्गाल के 'विरहिणी व्रजांगना', 'मेघनाधवध' और 'पलाशिर युद्ध' नामक काव्य-ग्रंथो का हिंदी में पद्यानुवाद किया है।

मराठी भाषा के भी अनेक ग्रंथो का हिंदी मे अनुवाद हुआ,

जिनमे से कुछ एक उपन्यासो के नाम ये है—अशोक, वज्राघात, छत्रसाल तथा उषाकाल। इनके अतिरिक्त 'निबन्धमालादर्श' भी मूल रूप मे मराठी-लेखक चिपलूणकर की ही-कृति है। द्वितीय उत्थान मे द्विवेदी जी ने जिस पद्य-शैली को प्रचलित किया उस पर मराठी-शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। मराठी-काव्यो मे प्राय: सस्कृत के छन्द प्रयुक्त होते हैं। उनमे बङ्गला की सी कोमलकान्त पदावली नही होती, गद्य जैसी ही पद-योजना होती है। 'ज्ञानेश्वरीगीता' और लो० तिलक के 'गीतारहस्य' का मराठी से हिंदी मे अनुवाद एक घटना है।

—प० भगवद्दत्त बी० ए०

---

(१९)

युद्ध मानव-जाति का एक प्रबल शत्रु

यद्यपि मानव-जीवन मे युद्ध अनिवार्य है। मानव-जीवन स्वयं एक संघर्ष है। जिधर भी दृष्टि उठाकर देखा जाए युद्ध का ही भयंकर रूप दिखाई देता है। मनुष्य का अपना हृदय एक विस्तृत युद्धस्थली है, कुप्रवृत्तियों और सत्प्रवृत्तियों का एक घोर संग्राम वहां मचा रहता है। विशाल संसार मे भी यही दशा है। एक ओर भिन्न भिन्न रोगों के साथ मनुष्य की प्रतिद्वंद्विता चल रही है, दूसरी ओर जल, वायु, अग्नि आदि तत्वों के साथ वह कटिबद्ध होकर लड रहा है। उन पर विजयी होने का गौरव प्राप्त करने के लिये वह भरसक प्रयत्न कर रहा है। कभी हिमालय पर्वत के उच्चशृंगों से उसकी निरन्तर हार-जीत की टक्कर लगी हुई है, कभी शान्त सागर को पद-दलित करने के लिये उसकी आत्मा मचल रही है। ये सब युद्ध मानव-विकास और सृष्टि की प्रगति के द्योतक हैं, इनका परिणाम सृष्टि की भलाई ही है। तथापि हमारा आशय इस प्रकार

के युद्धों के वर्णन से नही है। इस लेख में मनुष्य द्वारा आविष्कृत वैज्ञानिक शस्त्रों से लड़े जाने वाले युद्ध की हानियों का दिग्दर्शन ही हमारा अभिप्राय है। हो सकता है कि युद्ध से अनेक अत्याचारों का दमन किया गया हो या किया जा रहा हो, अथवा "शठे शाठ्यं समाचरेत्," "कण्टकेनैवकण्टकं" का उपदेश देने वाले इस युद्ध को एक अद्भुत दमन-कर्ता मानते हों, उनके लिये साम, दान, भेद और दण्ड की नीति सर्वार्थ-सिद्धि का उपाय हो; परन्तु यह प्रत्यक्ष सत्य है कि उनकी कलुषित आत्मा में भी एक ऐसी असद् लिप्सा छिपी रहती है जो उन्हे ऐसे भयकर युद्धों की ओर प्रेरित करती है। युद्ध उनकी महत्वाकांक्षा का प्रतिबिम्ब ही है और कुछ नही। सोने चाँदी या भूमि के थोड़े से टुकड़ों के लिये संसार को युद्ध की ज्वाला मे लिप्त कर देना उनके बाएं हाथ का खेल है। स्वार्थ-सिद्धि की पिपासा शान्त करने के लिये और साम्राज्यवाद के परदे मे नर-संहार की बलवती इच्छा सिद्ध करने के लिए ही मानव मानव-सृष्टि को प्रलयाग्नि मे झोंक देता है और इससे उसे लाभ कुछ नहीं होती। पीड़न, शासन और दमन की नीति सर्वथा असफल ही होती है, यह कठोर सत्य परम्परा से ही दृष्टिगोचर रहा है। सौम्यता ही वशीकरण मंत्र ठहरता है।

जिन लोगों का यह कथन है कि युद्ध से ही सत्य की स्थापना तथा निर्बलों की रक्षा होती है और दुष्टों को दण्ड मिलता है, वे भूल मे है। निस्संदेह महाभारत के युद्ध ने सत्य की स्थापना की। भगवान कृष्ण के हाथों धर्मराज्य प्रतिष्ठित हुआ; तो भी भविष्य के लिये उससे जो क्षति हुई, क्या वह उपेक्षणीय है? उसी युद्ध ने भारत की स्वतन्त्रता का हरण किया। साधारण जनता पर उस का प्रभाव अच्छा न पड़ा। जिस लोक-संग्रह के भाव को लेकर वह संग्राम किया गया था, बाद मे वह प्रायः लुप्त सा हो गया।

विधवाओं की पुकार. अनाथों की चीत्कार और दुःखियों के हाहाकार से आकाश गूंज उठा था। इसके बाद ५००० हजार वर्षों मे भी भारतवर्ष अभी तक नही संभल सका।

सन् १६१४ से १६१८ तक के गत महायुद्ध मे ८० लाख से ऊपर जानें गईं। करोडों रुपया समुद्र-गर्भ मे विनष्ट हुआ। लाखों ही नारियाँ विधवाएं हुईं। करोडों बच्चे अनाथ होकर इधर उधर भटकने लगे। करोडों ही मनुष्य क्षत विक्षत हुए और आँख, कान, टांग आदि से हीन होकर पंगु बन गए। वे कार्य करने मे अशक्त हुए,अतएव उनके पालन का भार भी संसार पर ही पडा। इसके अतिरिक्त,महामारी, इनफ्लूएन्जा,ब्लैक फीवर आदि कई संक्रामक रोगों करोडों मनुष्यों की जानें लीं। व्यापार अस्तव्यस्त हो गया। सब ओर दुराचार फैल गया। बड़े बड़े साम्राज्य उलट गए। कई स्वतन्त्र जातियां परतन्त्र हो गईं। कई देश सर्वशः नष्ट हो गये। कौन कह सकता है कि वर्तमान युद्ध का परिणाम इससे महा-भयंकर न होगा। आज नित्य जितना जन संसार हो रहा है उसकी गणना जब युद्ध के अंत मे होगी तब उन अंकों को देखकर निःसंदेह संसार काँप उठेगा।

अतः बल-पूर्वक कहा जा सकता है। कि युद्ध एक घोर विडम्बना है, यह महा-प्रलय का प्रतीक है। बड़े बड़े साम्राज्य-वादियों और तानाशाहों के हाथ का नाशकारक खिलौना है। बड़े बड़े राजनीतिज्ञों के लिये सम्मोहन और उच्चाटन मंत्र है। साधारण प्रजाजन के लिये ध्वंस का चिह्न है।

—पं० केशवानन्द भार्गव

(२०)

हिन्दी साहित्य और मुसलमान

प्रत्येक देश मे एक व्यापक भाषा होती है; जो उस देश की राष्ट्रभाषा कही जाती है। इंग्लैंड की अंग्रेजी राष्ट्रभाषा है, फ्रांस की फ्रैंच, जर्मनी की जर्मन भाषा और हिन्दूस्थान की हिन्दीभाषा। प्रत्येक देश के लोगों के विचार उनकी अपनी भाषा के द्वारा व्यक्त होते हैं। प्रत्येक देश के कवि और लेखक अपने देश की भाषा मे ही अपने विचार प्रकट करने—साहित्य-निर्माण करने में गौरव अनुभव करते हैं। कोई भी व्यक्ति अपना धर्ममत परिवर्तन भी कर ले—अपने देश मे जिस पन्थ के लोग अधिक हैं, उस पन्थ को छोड़कर किसी अन्य देश के मुख्य पन्थ का अनुयायी भी बन जाय, तो भी वह अपने राष्ट्र की भाषा को ही राष्ट्रभाषा कहेगा; जिस अन्य देश का पन्थ उसने स्वीकार किया है उस देश की भाषा को अपनी राष्ट्रभाषा कदापि नहीं कह सकता। उदाहरणतया इग्लैंड का कोई एक विद्वान् हिंदू धर्म स्वीकार कर ले तो वह संस्कृत और हिंदी मे पूज्य बुद्धि तो रखेगा, पर वह यह नहीं कह सकता कि इंग्लैंड की राष्ट्र-भाषा संस्कृत है या हिंदी है। यदि कभी फ्रांस की जनता का पंचमांश आर्य-प्रचारकों द्वारा शुद्ध करके 'आर्य-समाज' मे सम्मिलित कर लिया जावे तो 'वेदो का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है,' इसके अनुसार उस पंचमांश जनता को संस्कृत तो पढ़नी पड़ेगी और सत्यार्थ-प्रकाश को पढ़ने के लिए हिंदी तो सीखनी पड़ेगी, पर यदि वह जनता सारे फ्रांस की राष्ट्रभाषा संस्कृत या हिंदी को बनाना चाहेगी तो सारा राष्ट्र उसका विरोध करेगा। इस कल्पना का तात्पर्य यह है कि कुछ व्यक्तियों या जनता के कुछ भाग के धर्म-मत-परिवर्तन से देश की राष्ट्रभाषा नहीं बदल जाती।

हिदूस्थान में जब मुसलमान आए तो उन्होंने इस देश की जनता पर आक्रमण करने के साथ साथ यहा की राष्ट्रभाषा पर भी आक्रमण किया।

धोखे से, लालच से, छलकपट से या बलात् उन्होंने इस देश की राष्ट्रभाषा के स्थान पर अपनी भाषा—पहले अरबी और फिर फ़ारसी ठूंसने की कोशिश की; पर उनकी वह योजना सर्वथा असफल हुई—जैसे हिदूस्थान की राष्ट्रभापा का पद अंग्रेजी को देने की अंग्रेज़ों की योजना आज धूल मे मिल चुकी है। लगभग दो सौ वर्ष के यत्न के बाद भी आज भारत मे दो ढाई प्रतिशत लोग ही अंग्रेज़ी सीख पाए हैं और अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन करने वाले चालीस करोड की जनता मे से जितने निकलेंगे उनकी संख्या अंगुलियों पर ही गिनी जा सकती है। 'शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ हों' यह नाद आज प्रबल हो रहा है। हाँ तो कहने का भाव यह कि मुसलमान इस देश की राष्ट्रभाषा—भाखा को पदच्युत करने मे असफल हुए। उसके दिव्य तेज के आगे क्या मुसलमान शासक,क्या जनसाधारण सब ने हिदूस्थान की राष्ट्रभाषा हिदी की चरणवदना की। व्यापकता,स्वाभाविक माधुर्य और सरलता के कारण हिदूस्थान मे मुसलमानों के आगमन और उत्थान से पतन तक राष्ट्रभाषा का पद हिदी के ही अधिकार मे रहा (जो कि अबतक उसी के अधिकार मे है)।

पर इधर ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की कूटनीति से प्रेरणा पाकर कतिपय मुसलमान मुसलमानों की उर्दू (छावनियों) की मुर्दा हो चुकी भाषा (?) को अरबी, फारसी के शब्दों से सजाकर भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के लिये मैदान मे ले आए हैं। इस समय इस उर्दू के प्रबल समर्थकों मे मुस्लिम लीग, उस्मानिया कालेज हैद्राबाद और मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ मुख्य हैं। इनके

कार्यकर्ताओं के भाषणों और पत्र पत्रिकाओं में छपे लेखों से कुछ हिन्दू भी दुष्प्रभावित हो गए है।

भ्रांतिनिवारण के लिए आगे के पृष्ठों में बताया जायगा कि किस प्रकार मुसलमानों ने हिंदी की सेवा की। इससे स्पष्ट हो जायगा कि अंग्रेजों के आने से पहले मुसलमानों ने हिंदी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया था और उसकी महत्ता उनके हृदय मे घर कर गई थी।

प्रसिद्ध मुसलमान हिन्दी के कवि

सं०	नाम	स्थान	सन् ई०	रचना
१.	मलिक मुहम्मद	जायस	सोलहवीं सदी	अखरावट, पद्मावत
२.	सय्यद इब्राहीम (रसखान)	पिहानी	,,	प्रेमवाटिका, सुजान रसखान
३.	रहीम (खानखाना)	दिल्ली	सत्रहवीं सदी	सतसई, बरवै नायिकभेद
४.	सय्यद मुबारक अली	बिलग्राम	सत्रहवी सदी	तिलशतक, अलक शतक
५	वहाव	,,	,,	बारहमासा
६.	अब्दुल रहमान	दिल्ली	,,	यमक शतक
७.	याकूब खा	,,	अठारहवीं सदी	रसिकप्रिया की टीका और रसभूषण
८.	अनवर खा	,,	अठारहवीं सदी	अनवर चंद्रिका(सतसई की टीका)
९.	यूसुफ खां	,,	उन्नीसवीं सदी	बिहारी सतसई और रसिक प्रिया की टीका
१०.	शाह बरकत ('प्रेमी' यमन)	,,	,,	अनेकार्थ नाममाला
११	आजम	,,	,,	नख शिख, षट्ऋतु

१२	सैयद गुलामनवी (रसलीन)	बिलग्राम	,,	रस-प्रबोध, अंगदर्पण
१३	नबी	बिलग्राम	,,	नखशिख
१४.	अमीरखुसरो	दिल्ली	१४वीं सदी	हिंदी खडी बोली का पहला मुसलमान कवि। ढकोसले, पहेलियां, खालिकबारी (हिंदी-फारसी कोष) नोहे सिपहर—इसमे भारत और हिंदू धर्म की खूबियों का वर्णन है।
१५	मुल्लादाऊ	दिल्ली	१४वीं सदी	नूरक और चन्दा (प्रेमकथा)
१६.	शेख कुतबन	,,	१६वी सदी	मृगावती ,,
१७.	उसमान	ग्वालियर	१७वी सदी	चित्रावली (प्रेमकथा)
१८.	ताहिर	आगरा	१७वीं सदी	छन्दोबद्ध कोकसार, गुणसागर
१९	शेखनजीर	आगरा	१७वी सदी	ज्ञानदीपक
२०.	आलम	आगरा	१७वीं सदी	आलमकेजि,माधवानलकामकन्दन
२१	अलीमुहीबखां (पीतम)	आगरा	१८वीं सदी	खटमलबत्तीसी
२२	नूरमुम्मद	आगरा	१८वी सदी	इन्द्रावती (प्रेमकथा)

इन प्रसिद्ध कविता-मर्मज्ञों के अतिरिक्त कतिपय अन्य ऐसे कवि है जिनका नाम हिंदी क्षेत्र मे प्रसिद्ध नही, पर फिर भी उनकी रचनाएँ कुछ कम महत्त्व की नही।

हिंदी के कुछ अन्य मुसलमान कवि

सं०	नाम	स्थान	समय ईसवी	रचना
१	काज़ीकदन	,,	१७वीं सदी	साखीग्रंथ (ज्ञानोपदेश)
२.	रज्जब-दादू के शिष्य	,,	१७वीं सदी	सर्वांगीग्रंथ
३	आजमखां	,,	१८वीं सदी	शृंगारदर्पण
४.	किशवर अली	,,	१८वीं सदी	सारचंद्रिका
५	काजिमअली	,,	१९वीं सदी	सिंहासन बत्तीसी
६	कासिमशाह	,,	१९वीं सदी	हंसजवाहर (प्रेमकथा)
७	हाजी	,,	१९वीं सदी	प्रेमनामा
८	बरसावर खां	बिजावर	१९वीं सदी	धनुषसमय
९	ज्ञानअली	बिजावर	१९वी सदी	सियावर केलिपदावली
१०	नजीर	आगरा	१९वीं सदी	बंजारानामा, पैसानामा, बुढापानामा, कन्हैया का बालपन
११	महताब	आगरा	१८वीं सदी	नखशिख
१२	मीरन	आगरा	१८वीं सदी	नखशिख
१३	मसऊद सुलेमान	गजनी	१०वीं सदी	महमूदगजनी के दरबार मे हिंदी लेखक

१४.	सैयदनिज़ामुद्दीन	बिलग्राम	१७वी सदी	नवचन्द्रिका, माध्यमिक (सगीत)
१५	सैयदगुलामनवी द्वितीय	बिलग्राम	१७वीं सदी	मेरा दर्पण
१६	अहमद	बिलग्राम	१७वीं सदी	गुणगंजनामा
१७	तेग अली	बिलग्राम	१७वीं सदी	बदमाश-दर्पण
१८	वाजिद	बिलग्राम	१७वीं सदी	राजकीर्तन
१९	अकरमफैज	बिलग्राम	१७वीं सदी	वृत्तमाल (पिंगल)
२०.	बुल्लाशाह (पजाबी)		१७वीं सदी	ककहरा (वेदान्त) सीहरफी
२१	अहमद	बिलग्राम	१७वी सदी	सामुद्रिकग्रंथ
२२	रसरंगजी	बिलग्राम	१७वी सदी	वानी
२३.	अहमदुल्लाह (दच्चिणी)		१८वी सदी	दक्षण विलास
२४	मीर हसन	लखनऊ	१९वीं सदी	'हिंदी के तौर' मे मसनवी
२५	हफीजुल्लाखा	अदौली	२०वी सदी	नवीन संग्रह, हज़ारा,
२६.	सैयद छेदाशाह	पोहार	२०वी सदी	हरगंगारामायण, गीताटीका
२७	हाजी अलीखां	दमोह	२०वीं सदी	लावनी, कवित्त आदि संग्रह-ग्रंथ, अंजाम बदी नाटक

इसके अतिरिक्त हिंदी के कुछ ऐसे मुसलमान कवियों का उल्लेख करना आवश्यक है जिनके ग्रन्थ नहीं मिलते पर फुटकर कविता अत्यन्त सरस और मधुर मिलती है।

स्फुट सरस कविता रचयिता मुसलमान कवि

संख्या	नाम	समय ईस्वी सन
१	कादिर बख़्श (कादिर)	१७ वीं
२	शेख अब्दुल फज़ल नागौरी (फ़ैज़ी)	१६ वीं
३	अबुलफ़ज़ल (फहीम)	१६ वी
४	अहमद	१७ वीं
५	अब्दुल जलील	१७ वी
६	तालिब अली (रसनायक)	१९ वीं
७	जमालुद्दीन	१६ वी
८	शेख रंगरेजिन	१७ वीं
९	ताज बीबी	,,
१०	शाहनूर	,,
११	खैराती खाँ	२० वी
१२	दाना	१७ वीं
१३	शेख गुलाम मुस्तफ़ा	१७ वीं
१४	कुतुब अली	१२ वी
१५	जमाल	१७ वी
१६	ज़ारिक	१७ वीं
	हिल्टार	१७ वी
	[illegible]	

२५	मुहम्मद	१८ वीं
२६	रहीम द्वितीय	,,
२७	आदिल	,,
२८	तालिब शाह	,,
२९	मीर अहमद (बिलग्रामी)	,,
३०	निवाज (जुलाहा)	,,
३१	मिरजा मदनायक	,,
३२	खान	,,
३३	अलीमन	,,
३४	लतीफ़	२० वीं
३५	पीर मुहम्मद	,,
३६	मुहम्मद अमीर ख़ाँ	१९ वीं
३७	जलालुद्दीन	१८ वीं
३८	नवखान बुंदेलखंडी	,,
३९	नजीब ख़ाँ (रुविया)	,,
४०	गुलाम अली	१७ वीं
४१	आजाद	,,
४२	रहमतुल्ला	,,
४३	बरकतुल्ला	,,
४४	हुसेन शाह पंजाबी	,,
४५	शाह बादशाह पंजाबी	,,
४६	नूर मुहम्मद	,,
४७	शेख मुहम्मद वाला	,,
४८	मिर्ज़ा अनीस	,,

मुसलमानी शासन काल में सिक्कों पर हिंदी

मुसलमानी काल में हिंदी आज से बहुत प्रबल थी और उसका मान बहुत अधिक था। आज भारतीय जनता के सभी सिक्कों पर हिंदी को स्थान नहीं मिला। परन्तु १२वी शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक मुसलमान शासकों के सभी सिक्कों पर हिन्दी मे नाम लिखा होता था। (आश्चर्य है कि आज मुसलमान हिंदी के इस मान का विरोध करते हैं।) तनिक इस सूची को देखिए—

नाम शासक	सिक्कों पर हिंदी अक्षर	समय
१. मुईनुद्दीन मुहम्मद साम व शहाबुद्दीन गौरी	स्री महम्मद बिन साम स्री महम्मद बिन साम	११९३ से १२०६ ई० तक
२. शम्सुदीन अल्तिमश	स्री हमीर स्री समसदिण	१२११ से १२३६ ई० तक
३. सुलताना रजिया बेगम	स्री हमीर स्री सामंतदेव	१२३६ से १२३९ ई० तक
४. गयासुद्दीन बलबन	स्री सुलतां गयारुदी	१२६५ से १२८७ ई० तक
५. जलालुद्दीन फिरोज खिलजी	स्री सुलतां जलालुदी	१२९० से १२९५ ई० तक
६. अकबर	श्री राम	१५५६ से १६०५ ई० तक

आश्चर्य से कहना पड़ता है कि जिस हिंदी को आज दुर्बुद्धिग्रस्त संप्रदायवादी सुलसमान पढ़ना तक 'कुफ्र' समझते हैं उसी हिंदी में अनेकानेक मुसलमानों ने कविता की थी और इस प्रकार हिंदी को ही उन्होंने परम-पूजनीय भाषा समझा था।

इसके अतिरिक्त अलहदाद, आरिफ, आसियापीर, इजदानी, ईसा आदि सैंकड़ों कवि मुसलमान होते हुए भी हिंदी की सेवा बिना लोभ, कर्त्तव्य बुद्धि से करते रहे। अनेकों मुसलमान शासकों के दरबारों मे हिन्दी के कई कवि आश्रित रहते थे और वे शासक पूरी रुचि से उनकी रचनाएँ सुनते एवं उन पर पारितोषिक भी देते थे।

मुसलमानी शासन के आरम्भ से अकबर तक राजकीय कार्य सारा का सारा हिंदी मे ही होता था। कूटनीतिज्ञ अकबर ने पहले पहल राजा टोडरमल के द्वारा फारसी का चलन करवाया; पर यह फ़ारसी केन्द्रीय दफ़्तरों के सिवाय अन्यत्र अधिकार न जमा सकी। यहां तक कि अंग्रेजों के आगमन तक पटवारी लोग प्रायः हिन्दी का व्यवहार करते थे।

यहां पर कुछ विशेष घटनाओं का उल्लेख अवश्य रुचिकर होगा।

कविराज नरहरि की एक कविता पर अकबर ने अपने राज्य मे गोवध बंद करने की आज्ञा दे दी थी। खानखाना अब्दुर्रहीम ने गंग कवि को एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपया दे डाला था। रहीम ने ही बिहारी लाल को एक दोहे पर एक लाख रुपया दिया था और एक ब्राह्मण कवि को रीवां नरेश से एक लाख मुद्रा दिलवाई थी। जहांगीर ने पुहकर कवि को रसरतन लिखने पर कारागार से मुक्त कर दिया। शाहजहां ने बिहारी लाल को ४२ राजाओं से वर्षासन बँधवा दिए थे। बीजापुर के अली आदिल शाह ने फ़ारसी हटाकर हिंदी को राजा भाषा के पद पर बैठाया। उसी ने नवों रसों और रागों पर ग्रंथ लिखे।

इस प्रकार पूर्व काल मे मुसलमान हिंदी के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करते रहे। आज फिर समय आ गया है कि वे हिंदी के प्रति अपना दृष्टिकोण सुधारें। क्या हुआ उनका धर्ममत इस देश के मुख्य धर्ममत से भिन्न है, राष्ट्रभाषा तो हिंदी ही है।

इससे व्यापक भाषा हिन्दूस्थान मे दूसरी नहीं, इस लिए प्रत्येक मुसलमान अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण करके रहीम, रसखान और ताजबीबी आदि की तरह अपना जन्म सुधार ले।

—श्यामचन्द्र विशारद

(२१)

पंजाब के प्राचीन हिन्दी कवि

हिन्दी के प्रथम महाकवि चन्दबरदाई पंजाबी थे। इनका जन्म लाहौर मे हुआ था। ये जाति के भट्ट तथा जगात गोत्र के ब्राह्मण थे। कहते हैं कि इनका जन्म तथा स्वर्गवास दिन पृथिवीराज से मिलता है। अतः पृथिवीराज के समान इनका भी जन्म संवत् १२४८ मानना चाहिये। ये पृथिवीराज के राजकवि भी थे तथा सामन्त भी। इन्होने दो विवाह किए थे। इनके घर एक कन्या तथा दस पुत्र उत्पन्न हुए। जब मुहम्मद गौरी पृथिवीराज को पकड़ कर ग़ज़नी ले गया तब चन्द ने वहां पहुंच कर चालाकी से पृथिवीराज द्वारा गौरी को मरवा डाला। तत्पश्चात् इन दोनो ने तुरन्त आत्महत्या कर ली।

चन्द ने 'पृथिवीराजरासो' नामक महाकाव्य मे पृथिवीराज के जन्म से लेकर अन्तिम युद्ध तक का वृत्तान्त लिखा है। इसमें एक लाख से अधिक छन्द है। यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में अपूर्व है। इसमे नव रसो का बड़ा मनोहर वर्णन किया गया है। जैसे तुलसीदास की चौपाइयां, सूरदास के पद, बिहारी के दोहे, गिरधर की कुण्डलियां तथा पद्माकर के कवित्त प्रसिद्ध है, वैसे ही चन्द के छप्पय प्रसिद्ध हैं। रासो की भाषा पुरानी राजस्थानी है। यह ग्रन्थ ६९ अध्यायो मे विभक्त है। इसमें वीर तथा शृङ्गार-रस का वर्णन बहुत है। रासो की प्रमाणिकता मे विद्वानों मे मतभेद हैं।

हरिदास कवि मुलतान के पास ही एक सारस्वत ब्राह्मण-कुल

मे उत्पन्न हुए थे। अनुमान है कि ये सम्राट् अकबर के शासन-काल मे विद्यमान थे। ये बड़े त्यागी तथा विरक्त व्यक्ति थे। इनके शिष्य सुकवि तथा महात्मा हुए। तानसेन तथा बैजू बावरे को गान-विद्या सिखाने वाले यही थे। ये वृन्दावन मे रहते थे। एक बार बादशाह अकबर वेश बदल कर इनका गाना सुनने आए थे। इन्होने 'सिद्धान्त के १९ पद' तथा 'केलिमाल' नामक दो ग्रन्थ बनाए।

गिरिधर कविराय 'दोआवा' के रहने वाले थे। ईसा की अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण मे ये वर्तमान थे। लौकिक आचार सम्बन्धी इनकी कुण्डलियां वस्तुतः उत्तम है और उन्हीं के कारण इनकी ख्याति है। राजा से रुष्ट होकर इन्होने अपने प्रान्त का परित्याग कर दिया। इनकी अर्धाङ्गिनी भी कविता करती थी। कहते हैं, जिन कुण्डलियो के आरम्भ मे 'साईं' पद आता है, वे इनकी पत्नी की है। इनकी संगृहीत कुण्डलियां 'गिरि-धर की कुण्डलियां' नाम से छपी है।

सिक्ख सम्प्रदाय मे दस गुरु माने जाते है। ये सब पजाबी थे और प्रायः सब ने कविता की है। इनकी कविता 'गुरु ग्रन्थ साहब' मे सगृहीत है। 'ग्रन्थ साहब' का थोड़ा भाग पंजाबी मे है और शेष सब पुरानी हिन्दी मे है। आगे इनसे से प्रसिद्ध गुरुओ का जीवन-चरित तथा कृतियो का निर्देश किया जाता है—

गुरु नानक देव का जन्म सवत् १५२६ मे कार्तिक की पूर्णिमा की रात में हुआ। इनके पिता कल्याण चन्द शेखूपुरा जिले के तलवण्डी नामक कस्बे मे रहते थे। गुरु नानक बचपन से ही प्रतिभाशाली, सरल तथा साधु-स्वभाव के थे। इनकी धर्मपत्नी सुल-क्षणी के गर्भ से श्रीचन्द तथा लक्ष्मीचन्द नामक दो पुत्र पैदा हुए। गुरु नानकदेव ने एक ऐसा पन्थ चलाया जिसने यवनो से पीड़ित हिन्दुओ को बचाकर यवनो की जड तक को हिला

दिया। इन्होंने भारत तथा बाहर के देशो में खूब पर्यटन किया। ये जहां जाते थे वहीं लोगों को हिन्दी भाषा मे धर्मोपदेश देते थे। इन्होंने जपजी, अनेक दोहे तथा बहुत से पद लिखे। ये सब ग्रंथ-साहब मे संगृहीत हैं और प्राचीन हिन्दी में हैं।

गुरु अर्जुन देव सिक्ख सम्प्रदाय के पाचवें गुरु थे। ये हिन्दी के कवि थे। अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की वाणी को 'ग्रन्थ साहब' का रूप इन्होने ही दिया है। इनके बनाए हुए पद बहुत भक्तिपूर्ण तथा हृदयग्राही हैं।

गुरु तेगबहादुर नौवें गुरु थे। इन्होंने हिन्दुओं की रक्षा के लिये अपनी जान भी कुर्बान कर दी। इन्होने संसार की असारता का जो उपदेश औरङ्गजेब को दिया, वह हिन्दी मे ही था।

गुरु गोविंदसिंह दसवें और अन्तिम गुरु थे। ये गुरु तेगबहादुर के वीर पुत्र थे। इन्हों ने यवनों के साथ अनेक युद्ध किये और अपने चारो पुत्रों को धर्म पर बलिदान कर दिया। सिक्ख सम्प्रदाय में हिन्दी का सब से अधिक सम्मान इन्हीं के समय हुआ। ये स्वयं हिन्दी के उच्च कवि थे। इन्होने जाप, सुनीति-प्रकाश, ज्ञान-प्रबोध, प्रेम-सुमार्ग, बुद्धिसागर, विचित्र नाटक तथा ग्रन्थ साहब के कुछ भाग की रचना की।

भाई सन्तोषसिंह ने हिन्दी का बहुत उपकार किया। ये सिक्खो मे महाकवि माने जाते हैं और इनका 'सूर्य प्रकाश' बड़े चाव से पढ़ा जाता है।

सन्त गुलाबसिंह को गुरु गोविन्दसिंह ने काशी मे विद्या-प्राप्ति के लिए भेजा था। इन्होने हिंदी की बड़ी सेवा की है। इनके रचे हुए चार ग्रंथ मिलते है।

इसके अतिरिक्त वाजिद, बुल्लेशाह, और सुथरेशाह की फुटकर हिंदी रचनाएँ भी अविस्मरणीय है। —(उद्धृत)

निबन्ध-कुसुमावली

आदर्श-खण्ड

कला

सर्व-साधारण कला के दो ही अर्थों से परिचित हैं—१—विद्या, जैसे शस्त्रकला और २—कुशलता, जैसे संभाषण-कला। पर इनसे बढ़ कर और गहरा अर्थ भी कला का है। एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय मे तद्वत् पहुंचाने या उद्दीप्त करने की विद्या का नाम भी कला है। भाषा जिस प्रकार एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों को दूसरों तक पहुंचाने का साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय तक ले जाने वाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय मे उठे शोक, आनन्द, विस्मय, करुणा आदि भावों को किसी उपकरण की सहायता से दूसरे के हृदय मे तद्वत् जागृत कर पाता है, वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-भिन्न हो सकते है। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा, कोई अपने इंगित वा अंग-विक्षेप द्वारा, कोई अपनी कलम या कूंची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावों को अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय में जागृत करता है। अतएव किसी कलाधर का उपकरण होता है उसका स्वर, किसी का होता है उसका अंग-विक्षेप, किसी की कलम और किसी की वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देने वाले को हम संगीत-पटु, अंग-विक्षेप के द्वारा परिचय देने वाले को अभिनेता या नट, कलम के द्वारा देने वाले को चित्रकार और

वाणी के द्वारा देने वाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारों की गणना भी कलाधरों मे होती है। इस प्रकार उपकरण-भेद से कला के भिन्न-भिन्न विभाग हो गये है–संगीत-कला, नाट्य-कला, चित्र-कला, काव्य-कला और स्थापत्य-कला आदि। अक्सर लोग कला के इस मर्म को नही जानते। चित्रों मे केवल रंग-बिरंगे, चमकीले-भडकीले चित्र को 'अच्छा' कह बैठते हैं। वे तो इतना ही देखते हैं कि किस चित्र पर हमारी आँखें गड़ जाती हैं, कौन सुन्दर है, कौन लुभावना है, किसे देखकर हमारी आंखों को आनन्द होता है। उनकी आनन्द और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाएं भी उनके संस्कार के ही अनुरूप रहा करती हैं। चित्र-कार और पत्रकार अक्सर उनकी सेवा के नाम पर, उनकी रुचि की दुहाई देकर, ऐसे ही चित्रों के कनिष्ठ नमूने पेश करते रहते हैं जिससे उनके चित्र और पत्र खप जाएँ। सर्व-साधारण की वे संस्कार-हीन धारणायें ज्यों की त्यों बनी रहे तो रहे। इस कारण न सर्व-साधारण की कलाभिरुचि जागृत और परिष्कृत होती है न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान ही नहीं पाते कि अच्छा चित्र वह नहीं है जो आम तौर पर आंखों को सुन्दर मालूम हो, बल्कि वह है जिसे देखकर हृदय मे उच्च, पवित्र, निर्मल भाव उदय हों। ऐसे भाव उठे जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश-सेवा जन-सेवा करने की, कायरता छोड़ने और पुरुषार्थ बढ़ाने की, दुर्व्यसन और दुराचार से मुंह मोड़ने और सद्‌गुणों की वृद्धि करने की उमंग मन मे पैदा हो। चित्र के अच्छे या बुरे होने की सब से अच्छी कसौटी यह है कि उसे देखकर मन मे उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। जैसे यदि किसी स्त्री के चित्र को देखकर मन मे कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर दृश्य को देखकर वहां विलास करने

की इच्छा पैदा हुई तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नहीं है। क्योंकि चित्र को चित्रित करते समय जो भाव चित्रकार के मन में प्रधानरूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र मे प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यतः देखने वालों के मन पर अधिकार करता है। संक्षेप मे कहे तो जिस चित्र को देखकर मन मे कुविचार उत्पन्न होते हों, बुरे भाव उत्पन्न होते हों, वह अधम है, उसे कला का नमूना नहीं कह सकते। चित्रकार अपनी कला के बल पर अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के भाव समाज के हृदय मे उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिये आवश्यक भावों की सृष्टि करता है और समाज को ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसलिये कलातत्त्वज्ञों ने ऐसे ही चित्रकार की कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नहीं कहते, बल्कि उसे कला के आसन पर नही बैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते हैं और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते हैं, उसी तरह समाज को ऊपर चढ़ाने वाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अधःपतन का रास्ता दिखाने वाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

कला का सम्बन्ध भाव से है; सुंदरता से नहीं। दूसरे शब्दों में यों कहे कि कला का सम्बन्ध रूप-सुन्दरता से नहीं, भाव-सुन्दरता से है। रूप-सुन्दरता के पुजारी प्रकृति की प्रतिलिपि को ही कला मानते हैं; अर्थात् सृष्टि में जो वस्तु उन्हे जैसी दिखाई देती है उसकी ज्यों की त्यों नक़्ल कर देने, उसका हू बहू चित्र खड़ा कर देने की कुशलता को ही वे कला समझते हैं। इसलिये वे केवल प्राकृतिक दृश्यों के ही चित्र नहीं खींचते, प्राकृत

संसार में मिलने वाली मनुष्य की नानाविध अवस्थाओं के ही चित्र बिना तारतम्य के नहीं खींचते, बल्कि नग्न और अर्धनग्न स्त्री-पुरुषों के चित्र चित्रित करना भी अनुचित नहीं मानते। किसी भी माता या बहन ने पूछा है कि क्यों हजरत, जब चाहे जहां और जिस अवस्था मे हमे उपस्थित करने की गुस्ताख़ी आप क्यों कर रहे है ? मेरी राय में अब वह समय आगया है कि समाज इस प्रवृत्ति पर अपना अंकुश रखे। चित्रकारों के लिये ऐकान्तिक जीवन के ही ऐसे अनेक दूसरे प्रसंग मिल सकते है, जिनके द्वारा वे अपनी कला का सदुपयोग कर सकते है।

यह तो हुई प्रकृति की प्रतिलिपि करने वाले चितेरों की बात। इनकी कला नाम से प्रचलित वस्तु को कलातत्त्वविद् यथार्थदर्शी कला कहते हैं। एक दूसरे प्रकार के कलामर्मज्ञ है। वे भाव-सुन्दरता के उपासक हैं। वे कहते है, रूप तो क्षणिक और गौण चीज है। भाव मुख्य वस्तु है। कुदरती चीजों की नकल कर देना कौन बडी बात है ? हाथ और आंख को जरा अभ्यास हो जाय तो बस है। उसमें बुद्धि, कल्पना, प्रतिभा के बल से काम नही लिया जाता। भाव-सुन्दरता के लिये चित्रकार को अपनी नई ही सृष्टि रचनी पड़ती है। वह अपने हृदय के भाव-विशेप को मूर्ति का, व्यक्ति का, रूप देता है, जिसे देखते ही यह मालूम होता है कि यह कोई प्राकृत व्यक्ति नही, साक्षात् करुणा या भक्ति की ही मूर्ति है। वह उस भावदर्शन के अनुरूप आदर्श अवयवों को अपनी प्रतिभा के साम्राज्य से खोज-खोज कर लाता है और एक आदर्श भाव-सृष्टि खड़ी कर देता है। इसलिये ऐसे चित्रकार आदर्श-दर्शी कला के अनुगामी माने जाते हैं। आदर्श-दर्शी चित्रकार भावों को व्यक्ति का रूप देता है; यथार्थदर्शी चित्रकार प्राकृत संसार के व्यक्तियों का चित्र खींच कर उसमें

भाव आरोपण करने का प्रयत्न करता है। आदर्शदर्शी चित्रकार का ध्यान हमेशा आदर्शदर्शन की ओर रहता है। यथार्थदर्शी कलाधर दुनिया की अच्छी बुरी, भद्र-अभद्र, सब चीजें आपके सामने लाकर रख देता है। आदर्शदर्शी कलाकार खुद विवेकपूर्वक चुनाव कर के अच्छी चीज आपके सामने पेश करता है। यथार्थ-दर्शी कलाकार स्वयं विवेक का उपयोग करने के झगड़े मे नहीं पडता; चुनाव और पसंदगी का काम समाज पर छोड देता है। समाज का जी चाहे ऊपर चढ़े चाहे नीचे उतरे। वह तो अपने मन को जो चीज अच्छी लगी, आपके सामने पेश करके अलग हो गया।

कला की उत्पत्ति जीवन के मृदुलअंश से है। उसका जन्म रस मे और परिणति आनन्द मे है। जब जीवन मे सजीवता और स्निग्धता होती है और इतनी होती है कि वह फूट कर बाहर निकलना चाहती है तब कला का उदय होता है। एक की सजीवता और स्निग्धता जिस प्रभावशालिनी विधि या वाहन के द्वारा दूसरे मे जागृत होती है उसे कला कहते हैं। इस तरह कला एक माध्यम हुई दो हृदयों को एकरस बनाने का। दो हृदयों का, दो जीवनों का यह मधुर-मिलन किसी एक उद्देश्य से होता है। कला उसी का साधन है। किसी के मन में एक अनूठा भाव जगा। उससे न रहा गया। उसने कूंची उठाई और एक कागज पर लकीरें खीच कर उसे अभिव्यक्त कर दिया। एक सजीव छवि बन गई। यह चित्र-कला हो गई। यदि उस भावावेश में वह गाने या नाचने लगता तो वह सङ्गीत-कला और नृत्य-कला हो गई होती। यदि अभिनय करने लगता तो उसे नाट्य-कला कह देते। काव्य में जिसे चमत्कार कहते हैं वही कला है। काव्य मे ध्वनि भी कला है। काव्य स्वयं भी एक कला है; क्योंकि

वह भी हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति ही हैं। रस उसमें सजीवता और आनन्द ला देता है। भाव जितना ही निर्दोष होगा, उच्च होगा, आनन्द और तन्मयता उतनी ही सात्विक होगी। हृदय उतना ही ऊँचा उठेगा और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करेगा। हमारे भिन्न-भिन्न भाव, हमारे मानसिक व्यापार हमारे सारे पिण्ड के प्रतिबिम्ब हैं। हमारे पिंड मे जैसे संस्कार संगृहीत हुए होंगे वैसी ही भावनायें हमारी होंगी। जैसी हमारी भावनाये होंगी वैसी ही हम दूसरों में प्रेरित और जागृत करेंगे; अर्थात् जैसे हम होंगे वैसे ही हम दूसरों को बनाने मे सफल होंगे। इसलिये कलाकार जैसा होगा वैसी उसकी कलाकृति होगी और जैसी उसकी कृति होगी वैसा ही उसका परिणाम दूसरे पर होगा। कलाकार ने अपने अन्तःकरण के जिन तारों को छेड़ा है वही अपनी स्वर-लहरी द्वारा तत्सदृश तारों को दर्शक के अन्तःकरण में स्वरित करेंगे। विशुद्ध कलाकृति के लिये कलाकार का अन्तःकरण निर्दोष होना ही चाहिये। अन्तःकरण की मलिनता को धोने के लिये, मलिन वासनाओं को मिटाने के लिए, सत्य की आराधना जरूरी है। भौतिक पदार्थों की आराधना उसे अधोमुख करेगी और क्षुद्रताओं से, रागद्वेष से ऊपर न उठने देगी। हर जगह से सत्य को ही ग्रहण करने की वृत्ति उसे सत्य से भिन्न और नीची वस्तुओं के लोभ से हटाने की चेष्टा करेगी और उस क्रिया मे उसका हृदय विशुद्ध होता जायगा। उसमें स्वार्थ भोग आदि के संस्कार नष्ट होते जाएंगे। क्योंकि ज्यों ज्यों वह सत्य की ओर आगे बढ़ेगा त्यों त्यों उसे उसमें इतना आनन्द, सुख और परोपकार देख पड़ेगा कि स्वार्थ, भोग आदि से उसका मन अपने आप हटता जायगा। इनकी साधना से मिलने वाला आनन्द या सुख बिल्कुल क्षणिक, भ्रमपूर्ण और परिणाम

में पश्चात्तापात्मक मालूम होने लगेगा। इस तरह कलाकार जितना ही सत्य-पूत होगा, उतनी ही उसकी कृति पवित्र और उज्ज्वल होगी। कला कलाकार की सृष्टि है। वह अपने जीवन के सारे सत्व को कलाकृति के रूप मे जगत् की भेंट करता है। उसकी कृति मे जितनी ही सत्य की झलक होगी उतनी ही उसकी कला-सृष्टि दिव्य और अमर होगी—उतनी ही वह जगत् को स्फूर्ति, जीवन चैतन्य, आनन्द, सुख देगी।

संसार का परम सत्य यह है कि विश्व के अणु-रेणु मे एक ही चैतन्य, एक ही प्रकाश, एक ही तेज, एक ही सत्ता निखरी और बिखरी हुई है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके बिना सम्भव नही है। हम ने इस सत्य को जाना तो; किन्तु इसका अनुभव कैसे हो? हमारे जीवन मे इसकी प्रतीति हमे कैसे हो? हम अपने अन्दर उस चैतन्य को प्रत्यक्ष कैसे देखे? हम और वह दोनों जो आज पृथक है, एक-दूसरे मे मिल कैसे जायँ? इसका उपाय यह है कि हमारे हृदय का प्रत्येक भाव, हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक विचार, हमारे दिल की हरएक धडकन, हमारे फेफड़े की हर एक साँस, हमारा एक-एक रोम इस स्फूर्ति से भर जाय कि सारे ब्रह्माण्ड मे मैं फैला हुआ हूं। सारी सृष्टि मेरे अन्दर है। जगत् का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है। जगत् मे कही कष्ट देखूं तो ऐसा अनुभव हो कि यह कष्ट मुझे हो रहा है। संसार में कहीं आनन्द देखूं, किसी को सुखी देखूं, तो स्वयं कष्ट मे रहते हुए भी उस आनन्द मे नाचने लगूं। मेरा शत्रु या हिंस्र पशु सामने आजाय तो मुझे उसमे अपनी ही आत्मा की ज्योति दिखाई दे। जब कलाकार इस स्थिति को पहुँच जाता है—अपने आप में इतना तल्लीन हो जाता है—या यों कहें कि अपने आप को भूल जाता है, सत्य की स्फुरणा ही अवशिष्ट रह जाती है,

तब वह जो सृष्टि-रचना करता है, उसे कला कहते हैं। वह सत्य की झलक होती है। शान्ति, करुणा, प्रेम, उदारता, वीरता, शोक, उत्साह, साहस, चिन्ता किसी भी भाव की अभिव्यक्ति हो; होगी सत्य की प्रेरणा का ही फल। वह भाव मूल में सत्य से आरम्भ हुआ है; फिर शान्ति, वीरता, चिन्ता, या किसी भी भाव में उसका विकास हुआ है, इस विकास की अभिव्यक्ति कला है। इसका परिणाम दर्शक के मन मे उसी भाव की जागृति होगा। यह जागृति उसे मूल सत्य की ओर जाने की प्रेरणा करेगी जहां से ही कलाकार के मन में वह भाव स्फुरित हुआ है। इस प्रकार कला आदि में सत्यमूलक और अन्त में सत्याभिमुख है; मध्य में वह भाव-विशेष का रूप ग्रहण कर लेती है। या यों कहे कि एक सत्यांश से दूसरे सत्यांश को जगाने वाले भाव-विशेप की अभिव्यक्ति का नाम कला है। इस तरह कला एक कृति है, साधन है, अभिव्यक्ति है, साध्य नहीं है। उसका परिणाम है भावोन्मत्तता और साध्य है सत्य का साक्षात्कार—सत्य का दर्शन।

व्यावहारिक भाषा में कला का अर्थ है—कुशलता। कला का अर्थ विद्या, हुनर भी है। इस अर्थ में कला एक मानसिक गुण हुई; और वह हर एक व्यावहारिक मनुष्य के अन्दर परम आवश्यक है। पर कला से अभिप्राय यहां उस कृति से है जो हमारे हृदय को जगा देती है, बार बार उसे गति देती रहती है; बस इसके आगे उसका काम खतम हो जाता है। कलाकार आपका हाथ पकड़ कर—आपका साथी या नेता बनकर, आपकी सहायता नहीं करता; वह तो एक ऐसा दृश्य दिखा देता है जिससे आपके अन्तःकरण में एक हलकी मीठी गुदगुदी उत्पन्न होती है और आपकी आत्मा जागृत होने लगती है। मृदुलता कला का जीवन है। समवेदना उसकी जननी है। किसी कल्पना या दृश्य

से कलाकार के हृदय को चोट पहुँचती है, क्षोभ होता है या आनन्द होता है। उससे उसके अन्तःकरण के कपाट खुलते है, वहां से एक रस की धारा फूटती है। समवेदना उसमे मृदुलता की दूसरी धारा छोडती है। दोनों मिलकर किसी उपकरण के द्वारा कोई स्थूल रूप ग्रहण करती हैं—उसे हम कला कहते हैं। अतएव कला का कार्य केवल दूसरे चित्रों की नकल, या मानव-मूर्तियों का चित्रण, अथवा सृष्टि के विविध दृश्यों का दर्शन नहीं है; बल्कि भावदर्शन के द्वारा भावोद्‌बोधन है। कलाकार मानव-मूर्तियों मे भाव का प्रवेश नहीं करता, बल्कि भावों की मानव-मूर्तियों को पार्थिव दृश्यों मे उपस्थित करता है। जिन दृश्यों को मनुष्य प्रायः अपने जीवन मे देखता है उनकी प्रतिकृति उसका कार्य नहीं है; बल्कि एक नई सृष्टि रचना उसका कार्य है। उसे एक दूसरा विधाता ही समझिए। वह हमारे विधाता की रची सृष्टि की नकल नहीं करता, बल्कि उसमे सुधार करता है, उससे अधिक परिष्कृत, सुन्दर, कोमल, मनोहर और दिव्य सृष्टि रचना चाहता है। वह एक आदर्श को मानवी हाथ-पांव आदि अंग जोड कर हमारे सामने रखता है। इस अंग-रचना से वह अपने को स्वतन्त्र समझता है। वह यदि यह समझता है कि अंगुलिया लम्बी बनाने से चित्र की सुन्दरता बढ़ेगी तो फिर इस बात का विचार नहीं करता कि ब्रह्मदेव ने तो इतनी लम्बी अंगुलियाँ मनुष्य की नहीं बनाई हैं, मैं कैसे बनाने का साहस करूँ? इस अर्थ में कलाकार मौलिक, साहसी और स्वतन्त्र होता है।

कला को उदर-पूर्ति का साधन हरगिज़ न बनाना चाहिये। पेट जब तक मनुष्य के साथ लगा हुआ है तब तक उसकी पूर्ति अनिवार्य है, परन्तु उसके लिये जीवन के प्रधान और महान् उद्देश्य को बिगाड़ा नहीं जा सकता। जो महान् और सच्चे उद्देश्य

के लिये जीते हैं उन्हें न तो पेट की चिन्ता होती है और न उन्हें वास्तव में भूखों मरना ही पड़ता है; यदि मरना भी पड़े तो उसमें भी वे अधिक आनन्दित रहते हैं और चमकते हैं। उदर-पूर्ति का भाव प्रधान हुआ नहीं और कला भ्रष्ट हुई नहीं, क्योंकि कला फिर कलाकार की आत्मा की ज्योति नहीं रह जाती; अन्नदाता या धनदाता की रुचि की दासी बन गई। कहां आत्मा की स्वतन्त्र ज्योति और कहां दूसरे की रुचि की गुलामी? कितना स्पष्ट पतन! पेट की चिन्ता, पुरस्कार की इच्छा उन्हीं कलाकारों को हो सकती है जिन्होंने किसी उच्च या महान् उद्देश्य के अनुवर्ती होकर कला-जीवन नहीं आरम्भ किया है। यह कला-मर्मज्ञ और कला-रसिक लोगों का कर्त्तव्य है कि वे कलाकारों की जीविका का उचित प्रबन्ध कर दिया करें। जब तक समाज या कला-रसज्ञ अपने कर्त्तव्य के प्रति जागृत नहीं हैं तब तक कलाकार के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी कला का दाम लगाकर स्वयं धनोपार्जन करे, या कष्ट पाकर समाज को अपने कर्त्तव्य का भान करावे। पहले प्रकार का कलाकार समाज को कुछ कला-कृतियां तो देगा, उनसे समाज का मनोरञ्जन विशेषरूप से होगा, परन्तु समाज मे जागृति कम होगी और उसे बोध उससे भी कम मिलेगा। इसके विपरीत जो कलाकार धनाभाव में कष्ट सहन करेगा, वह समाज मे एक जागृति उत्पन्न करेगा, और उस कष्ट की भावनाओं से प्रेरित होकर जो कलाकृतियां निर्माण करेगा उनमें अद्भुत प्रभाव, बल और जीवन होगा; जिससे समाज को अमित लाभ होगा। आसानी से धनोपार्जन करके हम केवल अपने कुटुम्ब का भरण पोषण निश्चिन्तता के साथ कर सकते हैं, किन्तु धनाभाव से कष्ट उठा कर हम सारे समाज की आत्मा को जगाने का पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। जो वस्तु हमारे

लिये आवश्यक है उसके न मिलने से शरीर या मन को जो क्लेश होता है उसे सहना, उसे कष्ट न समझना, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर उसमे आनन्द मानना, कष्ट सहन है। इसके द्वारा हम उन व्यक्तियों, संस्थाओं, श्रेणियों का ध्यान आकर्षित करते हैं जिनके लिये यह आवश्यक है कि वे उस वस्तु को हम तक पहुँचावें। जब उन तक इस बात की खबर पहुँचेगी तो वे तत्काल सोचने लगेंगे कि अमुक आदमी ऐसा क्यों कर रहा है? उसके बाद ही वे यह सोचेंगे कि इस विषय में हमारा क्या कर्तव्य है? इसके पश्चात् वे उसके साधन की पूर्ति करने की चेष्टा करेंगे। जबानी या लिखित मांग के द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है, किन्तु दोनों के प्रभाव और फल मे अन्तर है। जबानी और लिखित मांग उस वस्तु की अनिवार्यता उतने जोर के साथ नहीं जाहिर करती जितनी कि कष्ट-सहन द्वारा की गई मांग। फिर कष्ट-सहन से अपने सन्तोष और संयम का गुण बढ़ता है एवं दूसरे मे कर्तव्य-जागृति का।

इतने विवेचन से पाठक यह अच्छी तरह समझ चुके होंगे कि कला वही है जिसकी प्रेरणा आत्मा की सत्यता, स्वतन्त्रता और पवित्रता से मिली हो और कलाकार वह है जिसने जीविका के बाजार मे बेचने के लिये कला को न सिरजा हो।

—हरिभाउ उपाध्याय

(२)

कवि और कविता

यह बात सिद्ध समझी गई है कि अच्छी कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है, वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते, उसी पर अपढ़ और कम-उम्र लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी मे कविता लिखने की स्वाभाविक शक्ति होती है, ईश्वर-दत्त होती है। जो चीज़ ईश्वर-दत्त है, वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुंचता है। अतएव यदि कोई यह समझता हो कि कविता करना व्यर्थ है तो यह उसकी भूल है। हाँ, कविता के लक्षणों से च्युत तुले हुए वर्णों या मात्राओं की पद्य नामक पंक्तियाँ व्यर्थ हो सकती हैं। आजकल प्रायः ऐसी ही पद्य-मालिकाओं का प्राचुर्य्य है। इससे यदि कविता को कोई व्यर्थ समझे तो आश्चर्य्य नहीं।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुन कर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया मे आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। इस बात के प्रमाण मौजूद हैं। अच्छी कविता सुन कर कविता-गत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा और जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते। जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य्य-रूप मे फल भी

वैसा ही होता है। हम लोगों में पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि मे कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर-रामचरित आदि दृश्यकाव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है। पुराने जमाने मे ग्रीस के एथेन्स नगरवाले मेगारावालों से वैर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमे कई दफे लड़ाइयाँ हुईं। पर हर बार एथेन्सवालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह पर चढ कर एथेन्सवालों को सुनाया। कविता का भाव यह था—

"मै एथेन्स मे न पैदा होता तो अच्छा था। किसी और देश मे क्यों न पैदा हुआ? मुझे ऐसे देश मे पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे भाइयों से अधिक वीर, अधिक कठोर-हृदय और उनकी विद्या से बिलकुल बेखबर होते। मै अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था मे अधिक संतुष्ट होता। यदि मै किसी ऐसे देश मे पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है, जहाँवाले मेगरा के निवासियों से लड़ाई में हार गए और मैदान से भाग निकले। प्यारे देशबन्धु! अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलंक को फ़ौरन धो डालो। अपनी लज्जा-जनक पराजय का अपयश दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो, तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगों के दिल पर इस कविता का इतना असर हुआ कि फ़ौरन मेगरा वालों पर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था,

उसे एथेन्सवालों ने लेकर ही चैन लिया। इस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इँगलैंड, अरब, फ़ारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्त-हिम्मती का दौर-दौरा था, वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शांति थी, वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का ज़माना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है; क्योंकि सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता मे कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के ख़ास ख़ास स्थलों का जितना प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है उतना पढ़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हज़ारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृत बातों का वर्णन कवि करते हैं, उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं, वे भी उलट फेर से प्रायः उन्ही बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन मे जो भाव आप ही पैदा होते हैं,

उन्हे जब वह निडर होकर अपनी कविता मे प्रकट करता है, तभी उसका असर लोगों पर पूरा पूरा पडता है। बनावट से कविता बिगड जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देख कर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों, उन्हे यदि वह बेरोक-टोक कह दे, तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतंत्रता, पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी कारण से सच बात कहने मे किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नही होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा मे अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभाव-हीन हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों मे, कटु होने के कारण सच कहना भी जहां मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नही रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए; अथवा जिस विषय मे रोक हो, उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, बन, पर्वत फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने मे कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय मे रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रय-दाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से बहुत दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुंचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों मे कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से, यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं।

अलंकार-शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है ; परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार हैं ? किसी कवि की बे-सिर-पैर की बातें सुन कर किस समझदार आदमी को आनंद प्राप्त हो सकता है ? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं, वह समाज कभी प्रशंसनीय नही समझा जाता। काबुल के अमीर हबीबुल्ला खाँ ने अपनी कविता-बद्ध निराधार प्रशंसा सुनने से, अभी कुछ ही दिन हुए, इन्कार कर दिया था , खुशामद-पसंद आदमी कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते।

कारण-वश अमीरों की झूठी प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता मे कवि-समुदाय के आमरण लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोडी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू मे बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, किसी मसनवी को उठाइए, आशिक माशूक के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरंभ से अन्त तक रँगी हुई पाइएगा। इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता मे कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठँडी साँसें लेना, जीते जी अपनी कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है ? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है ? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्षों से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता मे नयापन कैसे ला सकते हैं ? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी

लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे, लिखने से बाज़ नहीं आते। नख-शिख नायिकाभेद, अलङ्कार-शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवी देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। इसका फल यही हुआ कि कविता की असलियत काफूर हो गई है। उसे सुन कर सुनने वाले के चित्त पर कुछ भी असर नही होता। उलटे कभी कभी मन मे घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

कविता के बिगडने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा मे दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है, तब उसका असर सारे ग्रंथकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्व-साधारण की बोल-चाल तक मे कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं, उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोल-चाल के सम्बंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहाविरों को कोशकार अपने कोशों मे रखते है। मतलब यह कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ मे रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता मे बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटे अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नई तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है, तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते है—यह बड़ी भद्दी

कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंदोदिवाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे वे अब तक कविता कहते आये हैं, वही उनकी समझ मे कविता है; और सब कोरी काँव काँव। इसी तरह की नुकताचीनी से तंग आकर अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ खिंचना तो दूर रहा, उलटे सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों मे मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मै अकेला होता हूँ, तब तुझ पर मै घमण्ड करता हूँ। याद रख तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं, वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद चूर्ण हो जाता है।"

गोल्डस्मिथ ने इस विषय मे बहुत कुछ कहा है, पर हमने उसके कथन का सारांश बहुत ही थोड़े शब्दों मे दिया है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं। नई बातों से घबराना और उनके पक्षपातियों की निन्दा करना मनुष्य का स्वभाव ही सा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुकताचीनी करे तो आश्चर्य नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य मे वही भेद है जो अँगरेजी की पोइट्री (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी

प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नही। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है; और संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी और भाषा मे हो। अरब मे भी सैकड़ों अच्छे अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू शुरू मे तुकबन्दी का बिलकुल खयाल न था। अँगरेजी मे भी अनुप्रासहीन और बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है। इस वजन और काफ़िये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिये ये बाते ऐसी ही हैं जैसे शरीर के लिये वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमे न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए काफ़िए वगैरः की जरूरत है, कविता के लिए नही। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटे हानिकर है। तुले हुए शब्दों मे कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य मे बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वभाविक उड़ान मे कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मानोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वजन उसकी स्वाधीनता मे विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक नही प्रकट करने देते। काफिये और वजन को पहले ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है, और एक

बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इससे कवि अपने भाव स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी कभी तो वह बिल्कुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए कि जो वजन या काफिया कविता के लक्षण का कोई अंश नहीं, उसे ही प्रधानता देना भारी भूल है या नहीं।

जो बात एक असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े उसी का नाम कविता है। आजकल हिन्दी में जो सज्जन पद्य-रचना करते है और उसे कविता समझ कर छपाने दौड़ते हैं, उनको यह बात ज़रूर याद रखनी चाहिए। इन पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़ कर समझते हैं। यदि कोई सम्पादक उन्हे प्रकाशित करने से इन्कार करता है तो वे अपना अपमान समझते हैं और बेचारे संपादक के ख़िलाफ़ नाटक, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन मिटाते है। वे यह बात बिल्कुल ही भूल जाते हैं कि यदि उनकी पद्य-रचना अच्छी हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसे अपने पत्र या पुस्तक मे सहर्ष और सधन्यवाद न प्रकाशित करेगा?

कवि का सब से बड़ा गुण नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना (Imagination) की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी, वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये नये भावों की उपज जिसके हृदय मे नहीं, वह कभी अच्छी कविता नहीं लिख सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं। इसीलिए संस्कृत-

वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसकी बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नही। इसी की कृपा से वह सासारिक बातों को अजीब निराले ढङ्ग से बयान करता है जिसे सुनकर सुननेवाले के हृदयोदधि मे नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी बहुत अद्भुत बाते कहते हैं। जो कवि नहीं हैं, उनकी पहुँच वहाँ तक हो ही नही सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकाश को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल मे वह अजीब अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान मे नहीं आते। वे उनको समझ ही नही सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह देख लेता है; उनका वर्णन भी वह करता है; उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ भी पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्य्यालोचन के सिवा कवि को मानव-समाज की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विचार-तरंगें उसके मन मे उठा ही करती हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इसका अनुभव

करने और कविता द्वारा औरों को इसका अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ, उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं मुझ पर ही वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

हाली के मुकद्दमे को पढ़कर, जिसके आधार पर यह निबन्ध लिखा गया है, हमारे एक मित्र महाशय ने अलंकार शास्त्र के कुछ आचार्य्यों की राय लिखी है; और संक्षेपतया यह दिखलाया है कि हमारे आलंकारिकों ने कविता के लिए किन किन बातों की जरूरत समझी है। आपके कथन का आशय हम नीचे देते हैं। पाठक देखेंगे कि हाली की राय संस्कृत साहित्य के आचार्य्यों से बहुत कुछ मिलती है, सुनिए—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसम्पद ॥

(आचार्य्य दण्डी—काव्यादर्श)

अर्थात् (१) स्वाभाविकी प्रतिभा-शक्ति (२) शब्द-शास्त्रादि और लोकाचारादि का विशुद्ध ज्ञान तथा (३) प्रगाढ़ अभ्यास यह सब मिलकर काव्य-रूपी सम्पत्ति का कारण हैं। "श्रुत" शब्द के अर्थ पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने ये किये हैं— "श्रुतं शास्त्र-ज्ञानं लोकाचारादि ज्ञानञ्च।" पद-सृष्टि-कार्य और मानव-स्वभाव इन दोनों के ज्ञान का बोधक लोकाचारादि ज्ञान है। उस

का उल्लेख हाली ने अपनी दूसरी और तीसरी शर्त "सृष्टि-कार्य-पर्यालोचना" और "शब्द विन्यास-चातुर्य" मे किया है! प्रगाढ़ अभ्यास की आवश्यकता हाली ने "आमद और आवुर्द मे फ़र्क़" इस विषय पर बहस करते हुए सिद्ध की है।

इसी अभिप्राय का एक श्लोक यह भी है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् प्रतिभाशक्ति, काव्यादि शास्त्र तथा लोकाचारादि के अवलोकन से प्राप्त हुई निपुणता और काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास, ये तीनों बातें कविता के उद्भव मे हेतु हैं। कई आचार्यों ने प्रतिभा को ही काव्य का कारण मान कर, व्युत्पत्ति को उसकी सुंदरता और अभ्यास को वृद्धि का हेतु माना है यथा—

कवित्व जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयागतम् ।
तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ॥

इस मत की पुष्टि भी हाली के उस लेख से होती है जो उन्होंने सब से पहली शर्त "तख़य्युल" (प्रतिभा) मे लिखा है।

इन्हीं सब बातों को हाली ने अपने मुकद्दमे मे, ३७ से ५४ पृष्ठ तक, उदाहरणादिकों से पल्लवित किया है।

सृष्टि-कार्य-निरीक्षण की आवश्यकता कवि को क्यों है? इस बात को हाली ने "मसनवी" पर बहस करते हुए, एक उदाहरण द्वारा, समझाया है। वे लिखते हैं—

इसी प्रकार किस्से मे ऐसी छोटी छोटी प्रासंगिक बातों का बयान करना, जिन्हे तजरबा और मुशाहिदा झुठलाते हों, कदापि उचित नही। इससे आख्यायिकाकार का इतना बेसलीकापन साबित नही होता, जितनी उसकी अज्ञता और लोक-वृत्तात से अनभिज्ञता

या जरूरी अनुभव प्राप्त करने से बेपरवाही साबित होती है। जैसा कि "बदरे मुनीर" में एक खास मौक़े और वक्त का समाँ इस तरह बयान किया गया है—

वो गाने का आलम वो हुस्ने बुताँ।
वो गुलशन की खूबी वो दिन का समाँ॥
दरख्तों की कुछ छाँव और कुछ वो धूप।
वो धानों की सब्ज़ी वो सरसों का रूप॥

आख़िरी मिसरे से यह साफ़ प्रतीत होता है कि एक तरफ धान खड़े थे और एक तरफ सरसों फूल रही थी। मगर यह बात वाक़े के खिलाफ़ है, क्योंकि धान खरीफ़ में होते हैं और सरसों रबी मे गेहूँ के साथ बोई जाती है।

कवि-कुल-गुरु कालिदास के विश्व-विख्यात काव्य, तथा कविवर विहारीलाल की सतसई से, इसी विषय का एक एक प्रत्युदाहरण सुनिए।

इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घात शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥—रघुवंश।

रघु की दिग्विजयार्थ यात्रा के उपोद्घात मे शरदृऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ईख की छाया में बैठी हुई धान रखाने वाली स्त्रियां रघु का यश गाती थीं। शरत्काल मे जब धान के खेत पकते हैं, तब ईख इतनी बड़ी हो जाती है कि उसकी छाया में बैठ कर धान रखा सके। ईख और धान के खेत भी प्रायः पास ही पास हुआ करते हैं। कवि को ये सब बातें विदित थीं। श्लोक में इस दशा का, इस वास्तविक घटना का चित्र सा खींच दिया गया है। श्लोक पढ़ते ही वह समाँ आँखों में फिरने लगता है।

महाराजाधिराज विक्रमादित्य के सखा, राजसी ठाठ से रहने वाले कालिदास ने, ग़रीब किसानों की, नगर से दूर, जङ्गल से

सम्बंध रखनेवाली एक वास्तविक घटना का कैसा मनोहर चित्र उतारा है! यह उनके प्रकृति-पर्यालोचक होने का दृढ़ प्रमाण है। दूसरा प्रत्युदाहरण—

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धर धरहर हिय नारि॥

—सतसई।

पहले सन सूखता है, फिर बन-बाड़ी या कपास के खेत की बहार खतम होती है। पुनः ईख के उखड़ने की बारी आती है और इन सब से पीछे गेहूँ के समय तक अरहर हरी भरी खड़ी रहती है।

ये सब बातें कवि ने कैसे सुन्दर और सरल ढंग से क्रमपूर्वक इस दोहे में बयान की हैं। इसमे अनुप्रास की छटा आदि अन्य काव्य-गुणों पर ध्यान दिलाने का यह अवसर नहीं। यहाँ तक पूर्वोक्त महाशय की राय हुई।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन मे ढूँढ़ ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुननेवाले की आँखों के सामने वर्ण्य विषय का चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों मे न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमे कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्ति-संगत शब्द-स्थापना के विना कवि की कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नही जानता, अथवा यों कहिए कि

जिसके पास काफी शब्द-समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं, उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने में बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते। आजकल के पद्य-रचना कर्त्ता महाशयों को इस बात का बहुत कम खयाल रहता है; इसी से उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो, तो भी बहुत कम असर पैदा करती है। जो कवि प्रति पंक्ति मे निरर्थक 'सु' 'जु' और 'रु' का प्रयोग करता है, वह मानों इस बात का खुद ही सार्टीफिकेट दे रहा है कि मेरे अधिकृत शब्द-कोश में शब्दों की कमी है। ऐसे कवियों की कविता कदापि सर्व-प्रिय और प्रभावोत्पादक नही हो सकती।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, बल्कि विचार-परम्परा भी सादी हो। भाषा और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब ही समझ में न आवे, या देर मे समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की ज़रूरत हो। कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कङ्कड़, पत्थर, टीले, खदन्क, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क जरा भी ऊंची नीची होने से बाइसिकिल (पैर-

गाड़ी) के सवार को धचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी भी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों। प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झाड़ियाँ आंखों को लुभाती हों। दुनियाँ में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए है, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ कद्र हुई भी है तो थोड़े ही दिनों तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार मे ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नही जानता।" एक-मात्र सूखा शब्द-झंकार ही जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एक दम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो; क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलव उस भापा से है जिसे ख़ास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम मे लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का ख्याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्व-सम्मत हो, उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि वोल-चाल के हों तो उनका प्रयोग सदोष नही माना जा सकता। उन्हे त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई कोई ऐसे शब्दों को उनके मूल रूप मे लिखना ही सही समझते है। पर यह उनकी भूल है।

जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आ जाता है, तब वह उसी भाषा का हो जाता है। अतएव उसे उसकी मूल भाषा के रूप में लिखते जाना भाषा-विज्ञान के नियमों के ख़िलाफ़ है। खुद 'मुहावरह' शब्द को ही देखिए। जब उसे अनेक लोग हिन्दी में 'मुहावरा' लिखने और बोलने लगे, तब उसका असल रूप जाता रहा। वह हिंदी का शब्द हो गया। यदि अन्य भाषाओं के बहु-प्रयुक्त शब्दों का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो घर, घड़ा, हाथ, पाँव, नाक, कान, ग़श, मुसलमान, कुरान, मैगजीन, एडमिरल, लालटेन आदि शब्दों को भी उनके पूर्व रूप में ले जाना पड़ेगा। एशियाटिक सोसाइटी के जनवरी १९०७ के जर्नल में फ्रेंच और अँगरेज़ी आदि योरोपियन भाषाओं के १३८ शब्द ऐसे दिये गये हैं जो फ़ारस के फ़ारसी अख़बारों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से कितने ही शब्दों का रूपान्तर हो गया है। अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल रूप में लिखे जायँगे तो भाषा में बेतरह गड़बड़ पैदा हो जायेगी।

असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो, वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उनका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह भी उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह असलियत से खाली नहीं; फिर चाहे और लोग उलटा ही क्यों न समझते हों। परन्तु इन बातों में भी

स्वाभाविक अर्थात 'नेचुरल' (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है, असल बात को एक नए साँचे मे ढाल कर कुछ दूर तक इधर उधर भी उडान कर सकता है; पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध मे उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने मे लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते हैं, वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता मे उसे कोई ऐसी बात न कहनी चाहिए जो दुनियाँ मे न होती हो। जो बाते हमेशा हुआ करती है, अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक है। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। हम इन बातों को उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट कर देते, पर लेख बढ़ जाने के डर से ऐसा नही करते।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे, इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुंह से निकल गये हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके यह बाते कही हैं; किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृदयगत भावों ने कविता के रूप मे अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है, उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देखकर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही, नही, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढङ्ग से करता है कि यदि

उन चीजों में बोलने की शक्ति होती, तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है, शब्द जोरदार न हों, पर जोश उनमे छिपा हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तेज तलवार का काम लेना जानते हैं, वही धीमे शब्दों मे जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता मे हों तो कहना ही क्या है! परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इन में से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। कभी कभी सादगी और जोश पाये जाते हैं, असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतः कवि को असलियत का सब से अधिक ध्यान रखना चहिए।

—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

(३)

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा

भारतवर्ष जैसे विशाल राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति होने के लिये भिन्न भिन्न गुण और स्वभाव वाली प्रान्तीय जातियों की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही भारतीय संस्कृति के सार्वदेशिक विकास के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं की भी आवश्यकता है; किन्तु जैसे भिन्न भिन्न इन्द्रियों मे सञ्चार करने वाला मन तो एक ही है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर मे एकरूपता और एक-प्राण का सञ्चार होता है, उसी तरह आज हिन्दुस्तान मे एक राष्ट्रीयता की भावना जागृत तथा व्यक्त करने के लिये राष्ट्रीय भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह आवश्यकता आज ही उत्पन्न हुई हो, सो नहीं, बहुत प्राचीन काल से हिन्दुस्तान मे प्रयत्नपूर्वक राष्ट्रीय भाषा निर्माण करके उसे विकसित किया गया है। जब हिन्दू राष्ट्र तेजस्वी था; सुसंस्कृत था सम्पूर्ण जगत् मे श्रेष्ठ था। उस समय भारतवर्ष के उत्तोमत्तम विचार, आर्यों के काव्य और तत्त्वज्ञान, आर्यों के पराक्रमों के वर्णन और आर्यों की शास्त्रीय खोजें आदि सभी शुद्ध, उदात्त और संस्कृत भाषा मे की जाती थीं। और इसीलिये उस भाषा को देववाणी का गौरवान्वित पद प्राप्त हुआ। जब भारतवर्ष की अवनति हुई, भारत की अभिरुचि बिगड़ी, तब भी हीन विचार और अश्लील कल्पनाओं से संस्कृत भाषा को दूषित कर देना उस वक्त के लोगों ने ठीक न समझा; इसलिये उन्होंने प्राकृत भाषाओं का आश्रय लिया। संस्कृत

भाषा में आर्यों को शोभित करने वाले शुद्ध विचार ही लिखे जाते थे। आगे चलकर यह स्थिति भी भ्रष्ट हुई, राष्ट्रीय-जीवन क्षीण हुआ और फिर कुछ भी नियम न रह गया। बीच मे हिन्दुओं ने फिर से खड़े होने का प्रयत्न किया और उस समय भी उन्होंने श्रेष्ठ विचारों के लिए संस्कृत-भाषा का ही दोहन किया; पर लोक-जागृति के लिए उस समय की प्रचलित भाषाओं को उपयोग मे लाने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। अतः जहां तक हो सका संस्कृत वाङ्मय का प्रचलित भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया। आज राष्ट्रीय-जीवन फिर से ज़ोरों के साथ फुकार मारने के लिए प्रयत्न कर रहा है। उसे प्रकट करने के लिए राष्ट्र-भाषा की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई है। अतः सवाल खड़ा हुआ कि यह राष्ट्र-भापा कौन सी हो? यह एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हुआ है। राष्ट्र की उन्नति तो पूर्ण-परम्परा का अनुसरण करके ही हो सकती है। यह महान् सिद्धान्त जिसे मान्य है, उसके आगे यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि आज की राष्ट्र-भाषा संस्कृत परम्परा का अनुसरण करके ही होनी चाहिए।

पर आज भारत मे केवल हिन्दू ही नहीं रहते। अद्वैतवादी, प्रेम-धर्मी हिन्दुस्थान मे इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को हमेशा के लिए स्थान मिला है और इससे भारत की राष्ट्रीय-संस्कृति को एक शिष्ट मार्ग प्राप्त हुआ है। यह मार्ग भी राष्ट्रीय-भाषा में व्यक्त होना चाहिए। यह प्रयत्न मुसलमानी राज्य के उत्कर्ष-काल मे हुआ था। बड़े-बड़े हिन्दू पण्डित अरबी और फ़ारसी भापा का अध्ययन करके उन भापाओं में अप्रतिम काव्य लिखते थे और बहुतेरे मुसलमान बादशाह संस्कृत-पण्डितों को आश्रय देकर और स्वयं संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करके हिन्दू-संस्कृति का रहस्य

समझने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे भारतवर्ष की भाषा निर्माण हुई। हिन्दी और उर्दू उस भाषा के दो स्वरूप है। मुसलमानी राज्य से धार्मिक विरोध पूर्णता से नष्ट न हो सका, हिन्दू और मुसलमानों की रहन सहन एक न हो सकी और इसी कारण हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद बना रहा। वर्तमान स्थिति मे वह विरोध तेज़ी से घटता जा रहा है, इसलिए सम्भव है कि थोड़े से प्रयत्न से हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद बहुत ही घट जाए। मुसलमानी सत्ता के बाद अंग्रेजी राज्य और अंग्रेज़ी संस्कृति का बहुत ही प्रबल प्रभाव हम पर पड़ा है, जिसके कारण भारत-वर्ष की सभी भाषाओं पर और जन-समुदाय की विचार-शैली पर अंग्रेजी पद्धति का प्रभाव पड़ा है। वह सर्वथा अनिष्ट है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी विचार-पद्धति और अंग्रेजी ढङ्ग की वाक्य-रचना केवल आधुनिक सुशिक्षित गण की भाषा ही मे दीखती है। जन-साधारण की भाषा को उसका स्पर्श नही हुआ। यह भी एक तरह से इष्ट ही है।

अंग्रेजों ने भारत को अपना देश नही बनाया है। उन्हे तो यहां केवल राज्यकर्ता ही के समान रहना है। उन्हे हिन्द-पुत्र नही होना है। इसीलिए उनकी भाषा भी यहां कदापि बद्धमूल न होगी। जिस तरह हम पर अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है, किन्तु अंग्रेज लोग हमारे साथ नही रहते है, न हमारे साथ मिलते जुलते ही हैं, उसी तरह अंग्रेजी साहित्य और उनकी विचार-पद्धति का प्रभाव हम पर होते हुए भी अंग्रेजी भाषा का भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा होना या बने रहना सम्भवनीय नही। राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है।

किन्तु यह हुआ सामान्य सिद्धान्त; पर 'नर साँची करनी करे, तो नर का नारायण होय' इस तत्त्व के अनुसार प्रयत्न करने

पर कोई भी बात अशक्य नहीं। पाश्चात्य संस्कृति और आर्य संस्कृति—इन दोनों के बीच की विषमता देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता था कि भारतवर्ष में पाश्चात्य प्रजा का राज्य होगा, किन्तु हम आँखों देखते है कि आज वही सत्य हो गया। इसी तरह यदि हम सोते ही रहेंगे तो पुरुषार्थी अंग्रेज लोग कालान्तर में अंग्रेजी को केवल भारत की राष्ट्रभाषा ही नहीं, किन्तु देश की भी एक भाषा कर सकेंगे। यह मान लेने के लिए बहुत से प्रबल कारण पाए जाते हैं कि उनकी सचमुच यह अभिलाषा है भी। आज तक उनकी शिक्षा-नीति इसी दिशा में अपना काम कर रही है और वह सफल भी हुई है। ऐसे आनन्दोद्गार हाल ही मे बड़े लाट साहब के मुख से जानते या अनजानते निकल पड़े है। वह तो यह भी सुख-स्वप्न देख रहे हैं कि थोड़े ही दिनों मे अंग्रेज़ी हमारे घरों मे घुस जाएगी।

अब यह विचार करना चाहिए कि आर्यों के वंशजों और आर्य-संस्कृति के अभिमानियों को ऐसा होने देना इष्ट है या नही? हम स्वीकार करते है कि अंग्रेज़ी राज्य से हमे कुछ लाभ पहुँचा है। इसी तरह अंग्रेज़ी भाषा की उपयोगिता भी हमे मान्य है; परन्तु अपने धर्म के लिए, अपनी संस्कृति के लिए, अपने पूर्वजों के नाम के लिए और अपने वंशजों के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिए हम अपनी देशभाषा-मातृभाषा को छोड नहीं सकते। हमारे राष्ट्र का प्राण—हमारी राष्ट्रीय भाषा तो हिन्दू और मुसलमानों मे आज सैकड़ों वर्षों से अभेद भाव रखने वाली हिन्दी-भाषा ही होनी चाहिए। अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठाना अपनी संस्कृति को तिलाञ्जलि देने के समान है। हमारे एक भारी विद्वान् की राय है कि सुशिक्षितों की सामान्य भाषा अंग्रेजी हो और अशिक्षितों की सामान्य भाषा हिन्दी। वे

एक प्रौढ विद्वान् है और उनका विरोध करने योग्य शक्ति मुझमे नहीं, तो भी मुझे इतना स्पष्ट विदित होता है कि यह बात साधारण रीति से अशक्य है—और वह अशक्य है, यह परमेश्वर की बड़ी ही कृपा समझनी चाहिए। यदि सुशिक्षित और अशिक्षित की भाषाओं मे इतना भेद हुआ तो राष्ट्र का प्राण गया ही समझिए। यूरोप मे श्रीमान् और निर्धन ऐसे भेद समाज मे पड़ जाने से दोनों विभक्त हो गये। अतएव वहा के समाज मे कैसे भयङ्कर उत्पात होते है, इसका वर्णन हम लोग पढते है। हमारे देश मे सुशिक्षित और अशिक्षित के बीच मे फूट होकर वह यहां तक पहुँच जाय कि हमारी—उनकी भाषा ही भिन्न हो जाए तो कितना भयङ्कर अनर्थ होगा! इसकी कल्पना मात्र से रोमाञ्च हो जाते है। जिस समय सुशिक्षितपन संस्कृत-भाषा के आश्रय मे रहा था, उस समय के सुशिक्षित विद्वान् समाज से भिन्न नहीं हो गये थे। वह अपनी संस्कृति को जन-समाज मे अन्तिमान्तिम श्रेणी के मनुष्यों तक पहुँचा देते थे। अंग्रेजी द्वारा शिक्षा-प्राप्त समाज आज ही प्रजा से बिछुडा हुआ नजर आता है। फिर भाषा-भेद हो जाने पर तो समाज का उच्छेद ही हो जायगा।

अंग्रेजी राज्य-कर्त्ताओं की भाषा है और इसीलिए हमे उसे अपनी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए, ऐसा कहने वाला भी एक दल सुशिक्षितों मे है। ऐसी राय यदि अशिक्षित-दल की होती तो इसमे कोई आश्चर्य नही मालूम होता, क्योंकि राजा तो राज्य का स्वामी है, उसकी इच्छा के अनुसार प्रजा को चलना चाहिए, यही उनकी भावना होती है, परन्तु शिक्षित दल तो जानता है कि राज्य प्रजा के हित के लिए है और राजा प्रजा-हित का सेवक है। सुशिक्षितों को तो उल्टा यह करना चाहिए कि यदि राजा को अपने कर्तव्य का भलीभांति पालन करना है तो उसे

प्रजा की संस्कृति के साथ एकरूप होकर प्रजा ही की भाषा में बोलना चाहिए, प्रजा ही की भाषा मे विचार करने चाहिएं और प्रजा ही की भाषा मे उसे स्वप्न देखने चाहिएं। गुर्जराधिपति सयाजीराव ने इसी तत्त्व को समझ कर राष्ट्रभाषा को राज्य-भाषा बनाया। यदि आज बड़ौदा मे फिर से मराठी राज्य-भाषा हो जाए तो इसे कौन अच्छा कहेगा ? इसी न्याय से सारे भारत वर्ष मे देशी-भाषा ही राज्य-भापा होनी चाहिए, इस राय की पुष्टि हम क्यों न करें ?

देशी भाषाओं मे से ही एकाध राज्य-भाषा होनी चाहिए, इतना सिद्ध होने पर हिंदी का विशेष पक्षपात करने की विशेष आवश्यकता रह ही नही जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवल सुशिक्षित ही करते है। जन-समाज ने तो उस प्रश्न का निर्णय न जाने कब से कर रक्खा है। एक बात अभीष्ट मालूम हो जाने पर उसकी शक्यता का विचार करते हुए बैठे रहना तो कायरता है। ऐसे चिन्तवनों मे कालयापन करना पौरुष-हीन लोगों का काम है। सारे भारतर्ष मे ईमानदारी से द्वारपाल की नौकरी करने वाला भी सिद्ध करता है कि हिन्दी सार्वत्रिक भाषा हो सकती है। भारतवर्ष के अनेक पन्थों के साधुओं ने भी इस प्रश्न का निर्णय किया है। साधु चाहे बङ्गाली हो, चाहे मद्रासी, पर वह हिन्दी मे ही बोलेगा। यात्रा करने वालों का अनुभव देखने से भी हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा मालूम होती हैं। कैलाश से रामेश्वर तक और द्वारिका से कामाक्षी तक हिन्दी से भली-भांति काम चल सकता है।

बहुतेरों का प्रश्न यह होता है कि यद्यपि भारतवर्ष मे लोग अधिकांश हिन्दी जानते हैं, तो भी राष्ट्रभाषा के श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकने के योग्य प्रौढ़ वाङ्मय उसमे कहां हैं ? पर यह

कहना भ्रमात्मक होगा कि हिन्दी का वाङ्मय प्रौढ़ नहीं। प्राकृतिक वर्णन करने वाली कविता लीजिए; शृंगार, वीर, करुणा, भक्ति या कोई और दूसरा रस लीजिए; उन सभी मे संसार की किसी भी भाषा से हिन्दी पीछे नहीं पड़ सकती। जिस भाषा में तुलसीदासजी ने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषा मे कबीरदास जी ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया, जिस भाषा मे विचार सागर जैसे वेदान्त-ग्रन्थ रचे गये, जिस भाषा में सूरदास का कविता-सागर उमड़ रहा है और जिस भाषा मे भूषण कवि ने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक शिवाजी के प्रताप का वर्णन किया; उसका वाङ्मय प्रौढ़ नही, यह कौन कहेगा ? आधुनिक शास्त्रीय अनुसन्धानों की पुस्तके हिन्दी मे न हों और इतिहास तथा राजनीति की मीमांसा करने वाली पुस्तकें उसमे न हों, तो भी यह दोष उस भाषा का नही। हमारे मध्यकालीन जीवन का एकाङ्गीभाव ही इस स्थिति का उत्तरदायी है। हमारा जीवन व्यापक हुआ नही कि हिन्दी भाषा भी देखते ही उस दिशा की ओर वेग से बढी नही। जिस भाषा ने साहित्य के एक विभाग मे अपनी सामर्थ्य, अपनी क्षमता और अपना उत्कर्ष प्रकट किया है, वह भाषा अन्य विभागों मे लंगड़ी रहेगी, यह संशय ही अयुक्त है।

आधुनिक साहित्य मे हिन्दी कुछ पीछे है, तो भी एक तरह से वह पिछड़ना उसकी राष्ट्रभाषा होने की योग्यता को बढ़ाता है। उसे बङ्गाली, मराठी, और गुजराती आदि सभी प्रान्तों मे लोग सुगमता से अपने अनुकूल बनाकर सचमुच राष्ट्रभाषा बना सकें, ऐसी स्थिति स्थापक है। आज वही प्रयत्न चल रहा है। विद्वत्ता-पूर्ण कितनी ही बंगला पुस्तकें हिन्दी मे अनूदित हो रही हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामकृष्ण

परमहंस, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बंगाली विद्वान ,और साधु-गण हिन्दी वेष धारण कर हमारे साथ भाषण करने लगे है। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर और रामदास आदि हिन्दी मे उपदेश करने लगे है। तिलक का 'गीता रहस्य' महाराष्ट्र के साथ ही उत्तर भारतवर्ष को भी मिला है। सर देसाई के अनेक वर्षों के प्रयत्न का फल हिन्दी को एक ही अनुवाद मे प्राप्त हुआ है। गुजरात की 'सरस्वती चन्द्र' जैसी पुस्तके भी हिन्दी रूप धारण करके गुजरात के विद्वद् रत्नों की प्रतिभा का परिचय कराती है। पढीआर की पुस्तकों के अनुवादों ने सामान्य हिन्दी मनुष्यों को स्वर्ग की कुञ्जी बतलाई है। महात्मा गांधी का 'आरोग्य विषयक सामान्य ज्ञान' हिन्दी वालों को भी सुलभ हो गया है।

यद्यपि इस प्रश्न की विशेष चर्चा महाराष्ट्र मे नही हुई कि भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा कौन सी होनी चाहिए, तो भी महाराष्ट्र के संस्थापकों ने महाराष्ट्र के लिए उसका निर्णय कर दिया है। शिवाजी ने हिन्दी नवरत्नों मे से भूषण कवि को बुला कर उन्हें अपना राज्य-कवि बनाया और उन्हे कन्याकुमारी से हिमालय तक भेज कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान दिया है। और इस से सातवलेकर, दिवेकर, सप्रे और मगादे, पराड़कर, तामसकर, साठे और गर्दे जैसे मराठी और हिन्दी सेवा कर रहे हैं। और यह बात कोई आजकल की नही। नामदेव और तुकाराम आदि साधुओं ने भी हिन्दी मे पद्य-रचना की है। दरजी जाति के महाराष्ट्रीय साधु नामदेव की हिन्दी कविता सिख लोगों के पवित्र धर्म-ग्रन्थों मे सम्मिलित की गई है।

गुजरात की ओर से मीरावाई, सखा, दयाराम और दलपतराम आदि ने भी हिन्दी को अपनाकर अपना कर चुकाया है। और प्रेमानन्द के पहले गुजरात मे ग्रन्थों की रचना भाषा (व्रज-भाषा) ही मे

हो, ऐसा माना जाता था। प्रेमानन्द के बाद गुजराती भाषा मे काव्य-रचना होने लगी, तो भी हर एक प्राचीन कवि ने हिन्दी मे भी लेखनी चलाई है।

यह सब तो हुई हिन्दी की सेवा। किन्तु चिरकाल से उपेक्षित और क्षीण हिन्दी को स्वाभिमान की अमृत-संजीवनी पिला कर उसमे नवजीवन का सञ्चार करा देने वाले धन्वन्तरि एक गुर्जर-पुत्र थे, इस विचार से किस गुजराती को अभिमान उत्पन्न हुए बिना रहेगा? स्वामी दयानन्द जी ने हिन्दी को 'आर्यभाषा' का गौरवपूर्ण नाम देकर पञ्जाब जैसे पिछड़े प्रान्त मे भी उसकी प्रतिष्ठा की है।

इस तरह गुजराती, दक्षिणी और बंगाली लोगों ने हिन्दी को अपना-कर उसकी सेवा की है। अतएव उसका प्रान्तीयत्व नष्ट हो गया और शब्द-प्राचुर्य के सम्बन्ध मे, वाक्य-रचना की विविधता मे और विवेचन-पद्धति के सौष्ठव मे वह गम्भीर, ललित, विपुलार्थ-वाहिनी और राष्ट्रीय बनती जाती है। इसी से आज एक महाराष्ट्रीय नाटक-मण्डली कलकत्ते मे जाकर हिन्दी भाषा मे नाटक करके बङ्गाली रसिकों का मनोरञ्जन कर सकती है।

जिस तरह नदियाँ पर्वत से धो-धो शब्द कर बहती हुई, अपनी गोद के बच्चों (टीलों) को खूब दूध (पानी) पिलाती हुई अपना जल महासागर को अर्पण करती हैं, उसी तरह आज किसी भी हिन्दुस्तानी भाषा का उत्तम ग्रन्थ हो, हिन्दी मे उसका भाषान्तर तत्काल हो जाता है। एक ही ग्रन्थ के गुजराती, मराठी और बंगाली—तीन स्वतन्त्र भाषान्तर सम्मुख रखकर जब हिन्दी-लेखक उसका हिन्दी मे अनुवाद करता है, तब मूल-लेखक का रहस्य द्राक्षापाक के समान प्रकट होता है।

इसीलिये कौन सी भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा होने के

योग्य है, अथवा हिन्दी-भाषा राष्ट्रभाषा होने के योग्य है या नहीं आदि कायरों को भड़का देने वाली अनन्त शंकाओं में सिरपच्ची न करके हमें इसी का विचार मुख्यतः करना चाहिये कि हिन्दी-भाषा का प्रसार राष्ट्रभाषा के रूप में शीघ्रता से कैसे हो। थोड़ी बहुत हिन्दी तो हम सब समझते हैं; किन्तु आज की परिस्थिति को ध्यान में रखकर हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के साथ व्यवहार बढ़ाकर राष्ट्र-संगठन को अधिक दृढ़ बनाने वाली, संस्कृत-वाङ्मय की वारिस, हिन्दू-मुसलमानों को एक-समान अपनी मालूम होने वाली और इसी देश में जन्मी हुई हिन्दी मे अपने हृदय के सभी तरह के उदात्त विचार और गूढ भाव प्रकट कर सकने का खूब प्रयत्न करना चाहिये। सब से पहली बात यह है कि हमारे अध्ययन-क्रमों मे हिन्दी का प्रवेश होना चाहिये। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण मे हिन्दी एक आवश्यक विषय माना जाना चाहिये। इसके बाद हर एक प्रान्तवासी को राष्ट्र की सेवा के लिये अपनी भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थों का भाषान्तर हिन्दी में करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब अपनी भाषा मे बोलना संभव न हो तब हर एक भारतवासी को अपना काम अंगरेजी की अपेक्षा हिन्दी में चलाने का निश्चय करना चाहिये। आज अखिल-भारतीय प्रश्नों की चर्चा अंगरेजी मे होती है, उसके बदले मे वह साधारण जन-समाज की समझ मे आने योग्य हिन्दी मे करनी चाहिये। उदाहरणार्थ—काशी का हिन्दू विश्व-विद्यालय, गोखले का भारत-सेवक-समाज, बंगलौर स्थित ताता का शास्त्र-संशोधक विद्यापीठ, भारतवर्षीय महिला विद्यापीठ, सकल धर्म-परिषद् और राष्ट्रीय-सभा आदि आदि प्रान्तीय शिक्षा के लिये स्थापित संस्थाएं प्रान्तीय भाषाओं मे ही शिक्षा दें; परन्तु अति उच्च शिक्षण के लिये स्थापित एवं भारतीय संस्थाओं

मे शिक्षा हिन्दी मे ही दी जानी चाहिये। हमारे मुसलमान और ईसाई भाइयों के हित के लिये यदि कुरान और बाइबल के अत्यन्त सरल अनुवाद हिन्दी भाषा मे शीघ्रता से हो जायँ तो कैसा अच्छा हो?

इतना कर लेने के बाद हम सरकार से भी प्रांतीय शासन-कार्य मे प्रान्तीय-भाषा और देश के सामान्य राज्य-कार्य मे हिन्दी प्रचलित करने के लिये प्रार्थना करके उसे ऐसा करने के लिये मजबूर कर सकते है। महकमे जङ्गलात मे, वैद्यक विभाग में, पुरातत्त्व विभाग मे अथवा वातावरण-विभाग मे हिन्दुस्तान के द्रव्य से जो भी शोध होती है, वह सब हिन्दुस्तान के किसानों और व्यापारियों के उपयोग के लिये सरकार को हिन्दी ही मे छापनी चाहिये। इस तरह का आग्रह हम कर सकते हैं, पर इसके लिये मुस्तैदी के साथ प्रयत्न होने चाहिये। हाथ जोड़ कर 'यह कैसे होगा' यह कह कर बैठे रहने से काम न चलेगा। करने से सब कुछ हो सकता है; प्रयत्न करने पर यश मिले विना नही रह सकता।

—काका कालेलकर

(४)

धर्म और सुख

कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि अच्छा परिवार, धन-सम्पत्ति, भाई-बन्धु और मित्र सभी मिलकर भी हमें यथेष्ट सुख नहीं पहुँचा सकते। ऐसी दशा में हम धर्म्म का द्वार खटखटाते है। मनुष्य दो प्रकार के जगत् मे रहता है। भौतिक तथा आध्यात्मिक। भौतिक जगत् मे उसका सम्बन्ध दृश्यमान प्राणियों से रहता है। परन्तु आध्यात्मिक जगत् मे उसका सम्बन्ध उस अदृश्य शक्ति से रहता है जो सर्वत्र ओत-प्रोत हो रही है और जिसकी प्रेरणा हम अन्तरात्मा मे अनुभव करते है। इस शक्ति को लोग प्रभु, परमात्मा, ईश्वर इत्यादि नामों से याद करते हैं। भौतिक जगत् में यदि हमारी अनुकूलता हो भी जावे तो भी जब तक आध्यात्मिक जगत् मे हमारा प्रवेश नहीं होता तब तक हमारे सुख की राशि परिपूर्ण नही होती। बाहरी परिस्थिति के साथ साथ अन्दर की परिस्थिति भी हमारे अनुकूल होनी चाहिए।

जब अन्तर्ध्यान होकर हम अपने हृदय का अवलोकन करते हैं तो हमे अपने भाव, विचार, संकल्प, इच्छा, अभिलाषा कार्य्य-क्षमता उद्योग और ज्ञान आदि सब मानसिक व्यापारों मे एक अवधि या सीमा दिखाई देती है। उस अवधि का जब हमें साक्षात् बोध होता है तो हमारे मन में निराशा पैदा होती है और हमारा उत्कर्ष रुक जाता है।

अपनी सीमाओं के साक्षात् बोध से हमारा गर्व टूट जाता है। जिन बाह्य पदार्थों पर हमें नाज था वे सब अब हमें तुच्छ नजर आते हैं। हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। बाहर से हट कर हमारी आंखें भीतर की ओर जाने लगती हैं। अल्पज्ञ सर्वज्ञ की तलाश करता है। सीमा-युक्त आत्मा असीम परमात्मा की ओर बढ़ता है। इसी को धर्म का उदय तथा धार्मिक जीवन का जागरण कहते हैं। यह जागरण जब आत्मा से पैदा होता है तो कभी कभी उसका प्रभाव इतना गहरा होता है कि उद्बुद्ध आत्मा को पहचानना कठिन हो जाता है। वाल्मीकि जैसे प्रसिद्ध डाकू इसके प्रभाव से महात्मा बन जाते हैं। उनका व्यक्तित्व सर्वांश में बदल जाता है। उनका नरक स्वर्ग मे परिणत हो जाता है।

धर्म का स्थान हृदय है। जहाँ अल्पज्ञ का सर्वज्ञ के साथ मेल होता है, वहाँ मनुष्य को अपनी अगाध लालसा के कारण एक ऐसी शक्ति का सहवास प्राप्त होता है जो सदैव उसको आत्मोत्कर्ष का मार्ग दिखाती है और जो सदा उसे परोपकार में प्रवृत्त करती है। जब बाहर की परिस्थिति, भाई, बन्धु, मित्र, धन, सम्पत्ति, सब उसको जवाब दे बैठते हैं तब भी वह अन्दर की (सर्वत्र व्यापक) सत्ता उसका साथ नहीं छोड़ती। उसका उत्साह बनाए रखती है। उसके लिए निरन्तर उन्नति का मार्ग खोल देती है।

धर्म इसी आन्तरिक अनुभव का नाम है। जब तक आत्मा को परमात्मा का बोध नहीं होता तब तक वह ठोकरें खाता है; भटकता है; सर-गरदान रहता है। मन्दिर, मस्जिद और गिर्जे मे—एक बार नहीं, अनेक बार—सिर झुका, मस्तिष्क निचा धर्म-पुस्तकों का पाठ करता रहता है। नित्य नये स्वाँग रचकर, नित्य आडम्बर बनाकर वह कई प्रकार के धार्मिक कृत्य करता है। परन्तु उसके जीवन की गाड़ी टस मे मस नहीं होती; जहाँ की

तहाँ रहती है। ज्यों ज्यों वह अधिक पाठ करता त्यों त्यों उसके हृदय की अशान्ति बढ़ती है। यह क्यों ? इसलिये कि उसको आन्तरिक बोध नहीं हुआ। उसको अपनी अल्पज्ञता का अनुभव नहीं हुआ। उसे हृदय का परिवर्तन प्राप्त नहीं हुआ। धर्म का, धार्मिक जीवन का उदय उसी परिवर्तन के पीछे होता है।

धर्म को लोगों ने धोखे की टट्टी बना रखा है। वे उसकी आड़ मे स्वार्थ सिद्ध करते हैं। बात यह है कि लोग धर्म को छोड़ सम्प्रदाय के जाल मे फँस रहे हैं। सम्प्रदाय बाह्य कृत्यों पर जोर देते हैं। वे चिह्नों को अपना कर धर्म के सार और तत्त्व को मसल देते हैं।धर्म मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाता है। उसके हृदय के किवाडों को खोलता है। उसकी आत्मा को विशाल, मन को उदार तथा चरित्र को उन्नत बनाता है। सम्प्रदाय संकीर्णता सिखाते हैं। जात-पात, रूप-रंग तथा ऊँच-नीच [के भेदों से मनुष्य को ऊपर नहीं उठने देते। वस्तुतः प्रत्येक सम्प्रदाय धर्म का शत्रु है; धर्म-प्रवृत्ति का घातक है।

धर्म चरित्र-संगठन पर बल देता है; सम्प्रदाय सिद्धान्तों की तार्किक सिद्धि पर। तर्क का स्थान मानसिक शक्तियों के विकाश मे मानना पड़ता है। परन्तु वह तर्क क्या, जिसने चरित्र की गाड़ी को रोक रखा हो। हमें जीना है, अच्छी तरह से जीना है। सुखपूर्वक जीना है। इसके लिए यदि धर्म साधन हो सकता है तो उसे क्यों न धारण करें ? लोग धर्म्म को तिलाञ्जलि इसलिए देते हैं कि वे धर्म्म को जीवन-सुख का साधन नहीं बनाते। वे इसे आडम्बर-रचना का रूप देकर सुख से कोसों दूर रहते है।

धर्म जब मनुष्य के हृदय मे उदय होता है तो उसका दृष्टि-कोण बदल जाता है। सेवा, सहायता तथा परोपकार में उसका मन लगता है। दूसरों की सुख-वृद्धि में उसे आनन्द आता है।

जीवन को वह कर्म-प्रधान बना लेता है। ज्ञान से विमुख नहीं होता, अपितु ज्ञान और कर्म दोनों के सम्पर्क द्वारा धार्मिक-जीवन की सिद्धि प्राप्त करता है। कर्मशून्य ज्ञान और ज्ञान-शून्य कर्म ही सच्चे धर्म मे बाधक होते हैं। परन्तु ज्ञान और कर्म का मिलाप जिस जीवन मे हो जाता है उसमे सुखों की गंगा बहने लगती है।

ज्ञान और कर्म का संयोग मनुष्य के भीतर उपासना का भाव उत्पन्न करता है, मनुष्य ईश्वर के निकट पहुँचता है; भक्ति की लालसा जागृत हो जाती है, हृदय प्रेमरस से पूर्ण हो जाता है। आत्मा और परमात्मा का सहवास, सहचार तथा घनिष्ठ ओत प्रोत-भाव अनुभव होने लगता है। भक्त अपने पराये का भेद भूल जाता है। सर्वत्र भ्रातृत्व के भाव को देखता है। सारा ब्रह्माण्ड उसे एकता के सूत्र मे पिरोया हुआ दीखता है। विश्व-प्रेम से उसका हृदय भर जाता है। यही विश्व-प्रेम धर्म का उन्नत तथा उज्ज्वल स्वरूप है।

धर्म की ही सहायता से मनुष्य अपने भीतर और बाहर की परिस्थिति मे अनुकूलता, समता तथा विरोधी भाव उत्पन्न करता है। उसका मन, शरीर और बुद्धि उज्ज्वल हो जाते हैं। जहाँ साधारण व्यक्ति घबरा उठते हैं वहाँ धर्मात्मा मुस्कराता हुआ अपनी प्रसन्नता का सबूत देता है, चिन्ता उसके निकट नहीं आती। जो बात करने योग्य है उसे वह करता है; जो त्याज्य है उसके पास नहीं फटकता। तो फिर चिन्ता का क्या काम ? धर्मात्मा मनुष्य इस बात को सिद्धान्तरूपेण स्वीकार कर लेता है कि कर्म करना मेरा धर्म है, कर्म पर मेरा अधिकार है। परन्तु कर्म के फल पर अपना अधिकार नहीं। फल अपने हाथ की बात नहीं, अतः उसके सम्बंध मे चिन्ता व्यर्थ है। धर्म और चिन्ता दोनों साथ साथ नहीं रह सकते।

धर्मात्मा व्यक्ति जहां जायगा, प्रसन्नता का सन्देश साथ ले जाएगा। प्रसन्नता से स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है। क्या तुम नही जानते कि कई मनुष्यों की सङ्गति में हम अपने आपको क्रमशः उन्नत होते हुए अनुभव करते हैं? उनके देखने मात्र से हमारा चेहरा खिल जाता है। हमारा रक्त बढ़ जाता है। विपरीत इसके कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जिनके चेहरे पर साक्षात् श्मशान-भूमि का दृश्य दिखलाई देता है। जिनकी उपस्थिति मे हमारे चेहरे कुम्हला जाते हैं। और बातचीत से तो ईश्वर दया करे, हमारे हृदय एकदम बैठ जाते है। पहली कोटि के मनुष्यों को हम धर्मात्मा कहेगे, चाहे वे मस्जिद, मन्दिर और गिरजे में न जाने वाले हों। दूसरी कोटि के मनुष्यों को हम धर्मात्मा नहीं कह सकते, चाहे दिन रात वे मन्त्र-जाप क्यों न करें।

धर्म और मुर्दनी दो विरोधी बातें हैं। धार्मिक जीवन हमारे असन्तोष को दूर करता है। साधारणतया मनुष्यों के हृदय असन्तोष की अग्नि से संतप्त रहते हैं। जब हम एक अच्छे व्याख्याता का भाषण सुनते हैं तो हम मे एक व्याख्याता बनने की चाह उत्पन्न होती है। जब एक प्रसिद्ध पहलवान को देखते हैं तो पहलवान के समान हृष्ट-पुष्ट बनने की अभिलाषा होती है। जब वायु-यान को उड़ाते किसी को देख लेते हैं तो वायु-यान चलाने वाला बनना चाहते हैं। इसी प्रकार जब पास से गुज़रती हुई सेना के आगे सुसज्जित सेनापति को घोड़े पर सवार देखते हैं तो सेनानायक बनने को जी ललचाता है। यहीं तक नही हर समय जो विलक्षणता अथवा नवीनता हमारे सामने आती है, हमारे मन मे असन्तोष की लहर उत्पन्न कर जाती है। हम यह नहीं सोचते कि एक ही शरीर मे विद्वान्, व्याख्याता, पहलवान, वायुयान चलाने वाला तथा सेना-नायक कैसे रह सकते हैं। अतः इस प्रकार

का असन्तोष व्यर्थ है। धार्मिक जीवन ऐसे असन्तोष का निराकरण करता है, परस्पर विरोधी भावों को मन से हटा देता है और एक लक्ष्य मे मनुष्य को स्थिर बना कर उसकी सब शक्तियों को उसी लक्ष्य की प्राप्ति मे लगा देता है।

धार्मिक जीवन का निर्माण करने वाला सब से बडा अङ्ग ईश्वर-विश्वास है। विश्व-प्रेम, विश्व-भ्रातृत्व तथा समाज-सेवा और सहायता के भाव ईश्वर-विश्वास द्वारा ही सिद्ध होते हैं। राष्ट्र भी इन भावों की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु राष्ट्र-नियम बाह्य-रूप से ही मनुष्यों को आदेश देते हैं, धर्म हृदय के अन्तर्गत होकर परिवर्तन पैदा करता है। राष्ट्र-नियम दण्ड के जोर से व्यक्तियों को हाँकता है; धर्म प्रेम, सहानुभूति, सौजन्य के शस्त्रों का प्रयोग करता है। इसीलिए धर्म का मार्ग सुधार के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। धर्म मनुष्य के हृदय मे प्रेरणा करता है "लालच छोड़ो", "ईर्ष्या द्वेष छोडो"। इनके छोडने से संसार मे कितनी बड़ी बड़ी सम-समस्याएं हल हो जाती हैं! जातियों के कितने बड़े बड़े झगड़े मिट जाते हैं! आज संसार मे जो अशान्ति फैल रही है और जिसके कारण राष्ट्र बेबस दीखते है वह इसीलिए है कि कानूनी कार्यवाही द्वारा मनुष्यों के हृदय को बदलने की कोशिश की जाती है। कानून और दण्ड से वह फल प्राप्त नही होते जो धार्मिक प्रचार से सिद्ध होते हैं। जो कार्य्य तोपे, बन्दूके, फौजे, लड़ाई के जहाज और वायुयान नहीं कर सकते, उसे धर्म-प्रचार तथा उपदेश कर देता है। धर्म्म मनुष्य के हृदयों को प्रेम के सूत्र मे बांधने का प्रयत्न करता है अंतर्जातीय समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म्म तथा धार्मिक जीवन की बड़ी आवश्यकता है।

धार्मिक व्यक्ति की सबसे बडी पहचान यह है कि वह अपना

आधार बाह्य संसार से उठाकर ईश्वर पर छोड़ता है। उसका जीवन ईश्वर-आश्रित बनता है। जिस प्रकार एक बालक अपनी माता की गोद में जाकर संसार का सब भय भुला देता है और हर प्रकार से परितुष्ट और तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार एक धर्मात्मा व्यक्ति ईश्वर का आश्रय पाकर संसार की सब विरोधी शक्तियों से निर्भय हो जाता है। तब वह याचना का हाथ प्रभु के आगे पसारता है। उसका मांगना उसकी अपनी हृदय की पुकार के द्वारा होता है। बनावटी प्रार्थना से उसका जी नहीं भरता, वह अपनी सरलता से जो चाहता है, मांगता है। मानो बच्चा अपने पिता के सामने खड़ा हाथ जोड़े वे चीज़ें माग रहा है जो उसके पिता के पास मौजूद हैं। और जिनको वह बच्चा देख रहा है और हाथ बढ़ा उसकी ओर निर्देश कर रहा है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय।

इस प्रकार ईश्वर को सब गुणों और शक्तियों का भण्डार मान कर मनुष्य जब उसी को अपना जीवनाधार बना लेता है तो उसका भटकना बंद हो जाता है। भटकना बंद होजाने पर उसके दुःख मिट जाते है। वह अपने आपको मनुष्य-मात्र की सेवा मे लगा देता है। उसका जीवनध्येय उसे प्राप्त हो जाता है।

सुधाकर ऐम्० ए०

(६)

मित्रता

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकल कर बाहरी संसार मे अपनी स्थिति जमाता है, तब पहिली कठिनता उसे मित्र चुनने मे पडती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकान्त और निराली नहीं रहती है तो उसकी जान-पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों मे कुछ लोगों से उसका मेल-जोल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिए बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़-संकल्प के हैं, क्योंकि हमे उनकी हरएक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी बात को ऊपर रखते हैं; क्योंकि ऐसी दशा मे न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिए कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः बहुत कम होता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता, परन्तु युवा
[illegible]

पुरुष प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं; पर किसी को मित्र बनाने मे उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसन्धान नहीं करते। वे उसमे सब बाते अच्छी ही मान कर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढब, थोडी चतुराई वा साहस—ये ही दो चार बाते किसी मे देख कर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है तथा जीवन के व्यवहार मे उसका कुछ मूल्य भी है। ये बातें हमे नहीं सूझतीं कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्म-शिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—"विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाए उसे समझना चाहिये कि खज़ाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषधि है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिये कि वे उत्तम संकल्पों मे हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे तब वे हमे सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमे उत्साहित करेंगे, साराश यह है कि वे हमे उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देगे। सच्ची मित्रता मे उत्तम से उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है, अच्छी से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है! ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक पुरुष को करना चाहिये!

छात्रावस्था मे तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बन्धन होते हैं उनमे

न तो उतनी उमंग रहती है न उतनी चिन्ता। बाल-मैत्री मे जो मग्न करने वाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहां? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है, कैसा अपार विश्वास होता है! हृदय के कैसे कैसे उद्गार निकलते हैं! वर्तमान कैसा आनन्दमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के सम्बन्ध मे कैसी लुभाने वाली कल्पनाएं मन मे रहती हैं। कितनी जल्दी बाते लगती है और कितनी जल्दी मानना मनाना होता है! 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति मे हृदय के कितने भारी उथल-पुथल का भाव भरा हुआ है। किंतु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शान्त और गम्भीर होती है उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों मे भिन्न होते हैं। मै समझता हूॅ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन मे करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन के झंझटों मे चलता नहीं। सुंदर प्रतिमा, मनभावनी चाल और स्वच्छन्द प्रकृति ये ही दो चार बाते देखकर मित्रता की जाती है; पर जीवन-संग्राम मे साथ देने वाले मित्रों मे इनसे कुछ अधिक बाते चाहिएं। मित्र केवल उसे नही कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सके, जिससे अपने छोटे मोटे काम तो हम निकालते जाएं, पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहे। मित्र सच्चे पथप्रदर्शक के समान होना चाहिए जिस पर हम पूरा विश्वास कर सके, भाई के समान होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना सके। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए— ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करे, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को

दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों या एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता आवश्यक और वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शान्त प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हममें नहीं हैं हम चाहते हैं कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिन्ताशील मनुष्य प्रफुल्लित चित्त मनुष्य का साथ ढूँढता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षा वाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिए चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिए बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बताया गया है—"उच्च और महाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना, और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्त्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़चित्त और सत्य संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों। मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों। जिससे हम अपने को

उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा।

जो बात ऊपर मित्रों के सम्बन्ध में कही गई है, वही जान-पहचान वालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है, उसमें खोने के लिए समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, न कोई बुद्धिमानी या विनोद की बात-चीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढारस बंधा सकते हैं, न आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़-मूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहिचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर देखने जायंगे, नाच-रंग में जायंगे, सैर-सपाटे में जायंगे, भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहिचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहिचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकले जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आज बहुत बढ़ रही है, यदि शोहदों में से निकले जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन रात बनावसिंगार में रहा करते हैं, महफिलों में 'ओ हो हो' 'वाह वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे

नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर हैं। उनके लिए न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्ति वाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए है। उनके लिये न तो बड़े बड़े वीर अद्भुत कर्म कर गए हैं और न बड़े-बडे ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड़ गए हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय मे सात्विकता की उमंगे उठती है। उनके लिए फूल-पत्तियों मे कोई सौन्दर्य नहीं, झरनों के कलकल मे मधुर संगीत नहीं, अनन्त सागर-तरंगों मे गम्भीर रहस्यों का आभास नही, उनके भाग्य मे सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य मे सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शान्ति नही। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय-विषयों मे ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशाओं और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन दिन अंधकार मे पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिये।

कुसंग का ज्वर सब से भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैरों मे बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन दिन अवनति के गढ़े मे गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इंगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था मे राजा के दरबारियों मे जगह नही मिली। इस पर जिंदगी भर वह अपने भाग्य को

सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहां वह बुरे लोगों की संगत मे पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति मे बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घडी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच मे ऐसी ऐसी बातें कही जाती है जो कानों मे न पडनी चाहिये, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते है जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बाते हमारी धारणा मे बहुत दिन तक टिकती है। इस बात को प्रायः सब लोग जानते है कि भद्दी दिल्लगी वा फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गम्भीर वा अच्छी बात नही। एक बार एक मित्रने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन मे कही से एक बुरी कहावत सुन पाई थी, जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते है, जिन बातों को हम याद नही करना चाहते, वे बार बार हृदय मे उठती है और वेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड बातों से तुम्हे हँसाना चाहे। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा, अथवा तुम्हारे चरित्र-बल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बाते बकने वाले आगे चल कर आप सुधर जायँगे। नही, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड मे डाल देता है, तब फिर यह नही देखता कि वह कहां और कैसी जगह पर पैर रखता है। धीरे धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हे उनसे चिढ न मालूम होगी; क्योंकि तुम यह

सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुण्ठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अन्त मे होते होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सब से अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

"काजल की कोठरी मे कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजल की लागि है पै लागि है।"

सौन्दर्य

प्रकृति की लीला विचित्र है। उसके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करना तथा विकट उलझनों को सुलझाना मानवी शक्ति से परे है। अनेक स्थलों में हमको केवल कल्पना के आश्रित होना पड़ता है। सौन्दर्य भी एक ऐसा ही जटिल विषय है। कहने को तो हम वस्तुओं को सुन्दर अथवा कुरूप कह जाते हैं, परन्तु हम में से अधिकांश इस बात से अनभिज्ञ हैं कि सुन्दरता की कुञ्जी स्वयं हमारे हृदय में ही है। यह कुञ्जी हमारे ही मस्तिष्क के साँचे में ढली है, अतएव प्रत्येक ताले को खोलने के लिये उपयुक्त नहीं है। दूसरों को सुन्दर प्रतीत होने वाली वस्तुएं हमको भी सदा सुहावनी नहीं प्रतीत होतीं। ऐसा क्यों होता है? तथा सुन्दर वस्तुओं की ओर हमारा चित्त स्वतः ही क्यों आकर्षित होने लगता है? इन्हीं विषयों की मीमांसा करने के अभिप्राय से, हमने प्रस्तुत लेख में, सौन्दर्य की परिभाषा एवं परिपाटी की कुछ मनो-वैज्ञानिक व्याख्या पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा की है।

इन्द्रधनुष सुन्दर है; वीणानिनाद सुन्दर है; अरुणोदय की लाली से संयुक्त उषाकाल भी सुन्दर है; ऐसा क्यों है? इन्द्रधनुष नयनाभिराम है, वीणा की झंकार कर्णेन्द्रियों को रुचिकर है एवं प्रभात का समय हृदय का समुत्फुल्लकारी है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओं की सुन्दरता हमारी ज्ञानेन्द्रियों के

अनुभव पर ही निर्भर है। प्रत्येक सुन्दर वस्तु किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय को एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान कर अन्त मे हृदय के आह्लाद का कारण होती है। किन्तु सुन्दरता का यह सिद्धान्त गणित के सिद्धान्तों की भान्ति विश्वव्यापी एवं अपरिवर्तनशील नहीं है। सुन्दरता मानसिक विषय है; अर्थात् इसकी कसौटी मस्तिष्क है। भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों के मस्तिष्क का गठन भिन्न भिन्न प्रकार का होना अनिवार्य है, अतएव सौन्दर्य की कसौटी एक सी न होने के कारण 'अमुक वस्तु सब को प्रिय है' ऐसा नही कहा जा सकता। सौन्दर्य किसी वस्तु-विशेष का अन्तर्हित गुण नहीं है, वह तो हमारा किसी वस्तु को विचार मे लाने का प्रकार मात्र है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सुन्दरता कोई ऐसी कार्यकारिणी शक्ति नही है जो प्रत्येक हृदय-पटल पर प्रभाव उत्पन्न कर सके, वरञ्च वह तो स्वयं हमारी कार्यकारिणी एवं कल्पना-मूलक विचारशक्ति का परिणाम है। सुन्दर वस्तुओं के अवलोकन से भावुकों के हृदय में विकार अवश्य उत्पन्न होता है; परन्तु इस विकार का सञ्चालन तथा उसकी रचना पूर्णतया मस्तिष्क के ही अधीन है।

व्यक्तित्व, देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार सौन्दर्य का आदर्श भी वदलता रहता है। एक वस्तु यदि किसी को प्रिय है तो दूसरे को अप्रिय। इन्द्रधनुष, वीणा-वाद्य तथा उषाकाल सव को ही सुन्दर नही प्रतीत होते। ग्रीस के कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित प्रत्थर की मूर्तियां, सुप्रसिद्ध चित्रकार रविवर्मा की अत्युत्कृष्ट चित्रकारी अथवा शरत्पूर्णिमा की ज्योत्स्नामयी रात्रि मे सुधांशु की पीयूषवर्षिणी कलाओं से शुभ्र स्फटिक के समान दीप्तिमान ताजमहल, एक नीरस हृदय में सौन्दर्यानुभव की तरङ्ग नहीं उत्पन्न कर सकते। इसका कारण यह नहीं कि उस व्यक्ति

की ज्ञानेन्द्रियाँ निश्चेष्ट हैं, वरन् यह कहना चाहिए कि उसका मस्तिष्क इन वस्तुओं एवं कतिपय आदर्श-कल्पनाओं से सम्बन्ध निर्धारित करने मे असमर्थ है। इन्हीं वस्तुओं को एक बुद्धिमान् कल्पना के सूत्र मे आबद्ध कर हृदय का हार बना लेता है।

संगीत के विषय मे भी ऐसा ही कहा जा सकता है। श्रीयुत विष्णु दिगम्बर जैसे सङ्गीत कलाविद् का गान भी बहुतेरों को कर्णकटु प्रतीत होता है। इसमे उनकी कर्णेन्द्रियों का कोई दोष नही है। हमारे देश की भील, सन्थाल इत्यादि जंगली जातियों मे प्रचलित राग सुशिक्षित सङ्गीतानुरागियों को अवश्य अरुचिकर होंगे, पर सम्भव है कि जिस गान का श्रवणामृत पान कर आधुनिक श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते है, वही कालान्तर मे जङ्गली की उपाधि से विभूषित कर दिया जाए। अस्तु—

इससे सिद्ध हुआ कि सौन्दर्य वस्तुओं का ऐसा गुण नहीं है जो अन्तरङ्ग एवं स्थायी हो। सुन्दरता केवल एक मुद्रा है, जो द्रष्टा अथवा श्रोता अपनी इच्छानुसार वस्तु पर अङ्कित कर देता है। हमने अपने हृदय मे जो आदर्श स्थापित कर लिया है, उससे सामञ्जस्य रखने वाली प्रत्येक वस्तु हमे सुन्दर भासित होती है; अर्थात् कल्पित तथा समक्ष उपस्थित वस्तुओं का एकीकरण ही हमारा सौन्दर्य-विज्ञान है। इसी एकीकरण के अभाव से हम अनेक वस्तुओं को उदासीनता तथा घृणा की दृष्टि से देखने को बाध्य हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बाल्यावस्था मे हम जिन वस्तुओं की ओर आकर्षित होते है, वे ही कालान्तर मे हमे अग्राह्य हो जाती है। इसी प्रकार युवावस्था मे साधारण दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुएं प्रौढावस्था मे सुन्दर प्रतीत होने लगती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी प्रियता का मुकुट विभिन्न वस्तुओं को अर्पण होता रहता है। जाति, देश, काल,

इत्यादि व्यक्तियों के ही रुचि के अधीन हैं, अतएव इनमें भी सौन्दर्यादर्श तदनुरूप परिवर्तित होता रहता है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका के हबशी इस सम्बन्ध में जैसी अभिरुचि रखते हैं, उससे सभ्य देशवासी कदापि सहमत नहीं हो सकते।

उपर्युक्त प्रमाणों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सुन्दरता का निश्चित रूप न तो कोई है, और न हो सकता है। मनुष्य की मानसिक शक्ति अपरिमित एवं अस्थिर होने के कारण, सौन्दर्य का आदर्श किसी नियम अथवा सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं हो सकता। हम सांसारिक तथा काल्पनिक पदार्थों की तुलना कर, दोनों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा किया करते हैं। मानसिक विकास के साथ-साथ कल्पना-क्षेत्र भी विस्तीर्ण एवं परिमार्जित होता जाता है, अतएव पूर्व-निर्धारित सम्बन्ध कुछ समय में विशृङ्खल हो जाते हैं। दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने के कारण वस्तुएं नवीन रूप में दिखलाई पड़ने लगती हैं। फल यह होता है कि पूर्वोक्त प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पुनः नूतन वस्तुओं की ओर चित्त का झुकाव होता है। एवं सौन्दर्यादर्श नित्य इसी प्रकार स्थानान्तरित होता रहता है। यदि हम एक वायुयान में बैठकर अथवा अन्य किसी प्रकार ऊँचे उठने लगते हैं, तो क्रमशः नीचे की वस्तुएं हमारी दृष्टि से पतित होती जाती है तथा ऊपर की वस्तुएं हमारा ध्यान आकृष्ट करने लगती है। इसी प्रकार शिक्षा के प्रभाव से आदर्श का तल समुन्नत हो जाने के कारण, जो वस्तुएं पहले सुन्दर प्रतीत होती थी वे हेय हो जाती हैं, तथा जो वस्तुएं पहले हृदयग्राही नहीं थी उनमें ही, अब अनेक सूक्ष्मताएं दीख पड़ने से, सौंदर्य के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जलवायु, परिस्थिति, आचार-व्यवहार, शिक्षा इत्यादि के कारण विभिन्न जाति के मनुष्यों की प्रवृत्तियां

भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, अतएव जैसी वस्तुएं एक जाति को प्रिय हों वैसी अन्य देश-वासियों को बहुधा साधारण अथवा अप्रिय प्रतीत होती है ।

यह बात अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध की जा सकती है कि वास्तव में सौंदर्य केवल एक मानसिक कर्म है, किसी वस्तु का गुण नहीं । हिमालय की हिमाच्छादित एवं गगनस्पर्शी चोटियां एक दूर देश से आए हुए पथिक का हृदय अनिर्वचनीय आनन्दोल्लास से परिपूर्ण कर देती हैं । इसके विपरीत उन्हीं के मध्य में जीवन व्यतीत करने वालों के हृदय में उन्हें देखकर सौंदर्य के भाव किंचित् मात्र भी नहीं जागृत होते । सम्भव है कि भय अथवा बंधन के विचार उन्हें अधीर कर दें । भय इस कारण कि अकस्मात् हिम की नदी आकर उनको कष्ट न पहुंचाये, तथा बंधन इस कारण कि उनको परित्याग करके वह अन्यत्र जा भी नहीं सकते । परन्तु पथिक को उनमें एवं अपने कल्पित आदर्श में कतिपय सम्बन्ध अनुभव होने लगते हैं जिनके कारण वे शिखर उसे सुंदर दृष्टिगोचर होते हैं । हिम-मुकुट-विभूषित, आकाश-चुम्बित तथा उन्नत-मस्तक गिरि-शृङ्ग उसे तत्काल अलभ्य, अव्यक्त, अलौकिक, अपरिवर्तनशील एवं परम पुनीत जान पड़ते हैं । उनकी रचना अव्यक्त, एवं पदार्थ तथा रूप अपरिवर्तनशील ज्ञात होते हैं । वे अमित ऊंचाई तथा विस्तार होने से अलभ्य एवं अलौकिक, तथा तारागण-खचित गगन-मण्डल से आवृत रहने के कारण परम पुनीत मालूम होते हैं । पथिक उपर्युक्त सर्व गुणों की समष्टि रूप, उन हिमगिरि-शृङ्गों को निज सौंदर्य-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता है । किन्तु यह सौंदर्य तो उसी का निर्माण किया हुआ है । सुंदरता पर्वत-शृङ्गों में निहित नहीं है,

वरन् स्वयं उसके हृदय मे तथा उसके मस्तिष्क मे है। उसने कल्पना के दिव्य रङ्ग से रञ्जित कर इनको अपने लिये सुंदर बना लिया है। इस कल्पना के अभाव में यही शिखर केवल जड़वत् प्रतीत होते हैं. अतएव इनको देखकर एक गँवार के हृदय मे श्रम, असुविधा, भय इत्यादि का भाव उदय होना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार जिस समय भगवान् भुवन-भास्कर अपनी दैनिक यात्रा से क्लान्त हो अस्ताचल की ओर अग्रसर होते हैं, तथा उनकी प्रिया पश्चिम दिशा अपने प्रियतम का आगमन जान उनके स्वागत के लिए अपूर्व शृङ्गार धारण करती है, उस समय की अवर्णनीय शोभा से कौन सा भावुक मुग्ध न होगा? तेजोमय दिवस एवं अन्धकारपूर्ण रात्रि का सहमिलन, विविध वर्णों का दैवी सङ्घटन तथा दिग्दर्शन, पक्षिगण का सुमधुर कलरव, इत्यादि विविध प्रभावोत्पादक घटनाओं का सहपात इस दृश्य को एक अनूठी छटा प्रदान कर मनोमोहक बना देता है। हमारा जीवन क्षणभङ्गुर, परिवर्त्तनमय एवं ईश्वराधीन है, जब यही सादृश्य हम सन्ध्याकाल की प्राकृतिक घटनाओं मे पाते हैं, तो इस नैसर्गिक दृश्य की शोभा और भी अनुपम हो जाती है। प्रकृति के रहस्यों की तुलना अपने जीवन के रहस्यों से करना मनुष्य का स्वभाव है। इसी कारण असाधारण सौन्दर्य का जो प्रभाव हमारे अन्तस्तल पर पड़ता है उसमे सदैव विषाद की कुछ मात्रा मिश्रित होकर उस प्रभाव को अधिक कार्यक्षम बना देती है। सुन्दर वस्तु के दर्शन-मात्र से हमको उस वस्तु की, संसार की तथा अपनी अनित्यता बोध होने लगती है, जिससे हमारे हृदय-सागर मे वैराग्य की एक लहर आलोडित होकर प्रत्यक्ष रूप मे हमारे चित्त के विषाद का कारण होती है। किन्तु उल्लिखित सम्बन्ध न खोज सकने के कारण एक अशिक्षित व्यक्ति

पर इन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, और सूर्यास्त का दृश्य उसे तनिक भी सुन्दर प्रतीत न होगा। हाँ, ऋतुज्ञान के निमित्त यदि उसकी दृष्टि आकाश की ओर उठ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

स्त्री जाति के सौन्दर्य की भी ऐसी ही विवेचना की जा सकती है। समग्र भारत मे सुंदरता के लिए विख्यात होने पर भी यह सम्भव नही कि अफ्रीका, पापुआ अथवा जापान के अधिवासी एक भारतीय सुंदरी के सौन्दर्य की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करें। इसी प्रकार यदि उन देशों की कोई तरुणी इधर पदार्पण करे तो उसका भी यही हाल होगा। परन्तु फिर भी वे सब की सब सुंदरी है, इस कारण नही कि सौन्दर्य-गुण उनमे स्वभावतः समाविष्ट है, वरन् इस कारण कि वे निज निज देशवासियों के सौन्दर्यादर्श से निकटतम सादृश्य रखती है। भारतीय, अफ्रीकन, पापुअन तथा जापानी यौवन के रूप की जैसी कल्पना करते हैं, इन स्त्रियों मे से किसी एक को उसके अनुरूप पाकर सौन्दर्य की पुष्पाञ्जलि उसकी भेंट कर देते हैं। हम कह आए है कि हिमालय तथा सूर्यास्त की शोभा से हमारा हृदय विषाद-युक्त हो जाता है। एक सौन्दर्य-सम्पन्न युवती के दर्शन से भी विषाद के भाव उसी प्रकार जागृत होते है। कारण स्पष्ट है। जो आदर्श मूर्ति हमारी कल्पना के सिंहासन पर सुशोभित है, वह पार-लौकिक है; अर्थात् हम उसे क्षणभङ्गुर तथा परिवर्तनशील नही समझते। परन्तु यौवन अल्पकालिक एवं अस्थिर है, अतएव युवती के दर्शन से जनित हृदय की अवस्था मे विषाद का कुछ सम्मिश्रण अवश्यम्भावी है। यह विषाद इस विचार से उत्पन्न होता है कि सभी सांसारिक पदार्थों के समान यौवन भी अनित्य एवं निस्सार है।

अतएव हम पुनः इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य किसी वस्तु का ऐसा आन्तरिक गुण नहीं है, जैसा मिश्री में माधुर्य अथवा फूल में सुगन्ध। यदि हम किसी वस्तु को सुन्दर सम्बोधन करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे देखने से पूर्व उस वस्तु में कोई ऐसा सर्वमान्य तथा अविनाशी लक्षण अन्तर्हित था, जिसके कारण वह केवल हमको ही नहीं, बल्कि सारे जगत् को सुन्दर प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं कि हमको सुन्दर प्रतीत होने वाली सम्पूर्ण वस्तुओं में कुछ समानता हो। जिस प्रकार सारे संसार की मीठी वस्तुओं में मिठास पाया जाता है, ऐसा ही कोई एक गुण सर्व सुन्दर वस्तुओं में मिलना कठिन है। हिमालय पर्वत, सन्ध्या का सुहावना समय तथा एक सौन्दर्यमयी कामिनी, इन तीनों में किसी प्रकार की तुलना नहीं है, किन्तु एक भावुक के लिये ये तीनों ही सुन्दर हैं। वस्तुएं गोलाई के कारण गोल, स्वाद के कारण स्वादिष्ट, कठोरता के कारण कठोर, इत्यादि कहलाती हैं, परन्तु यदि इस प्रकार का निश्चित कोई गुण अथवा नियम प्रत्येक सुन्दर वस्तु में ढूँढ़ निकालने की चेष्टा की जाय तो वह निष्फल होगा। प्रथम तो भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के कारण व्यक्तिगत आदर्श ही असमान है, दूसरे एक व्यक्ति प्रत्येक के आदर्श रूप की कल्पना करता है, अतएव सौन्दर्य की परिपाटी का एक ही नियम के वशवर्ती होना अस्वाभाविक है।

वस्तुओं को सुन्दर दर्शाने वाली मानसिक क्रिया में यदि कोई समतत्त्व है, तो केवल यह है कि वह सदा वैयक्तिक रुचि के अनुसार आदर्श की कल्पना किया करती है। यदि किसी भौतिक पदार्थ में कल्पित आदर्श के कुछ भी चिह्न लक्षित हो जायँ तो वह उसी को सुन्दर मान लेती है। कल्पित आदर्श एवं लक्षित

वस्तु मे जितना निकट सम्बन्ध होगा उतनी ही सुन्दर वह प्रतीत होगी। वस्तुओं के सौन्दर्य की कक्षा इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। संसार मे अनेक रूपवान् हैं, परन्तु कल्पित मूर्ति से तुलना करने पर जान पडता है कि कोई अधिक है, कोई न्यून। आदर्श से प्रत्येक अंग मे सादृश्य रखने वाली वस्तु जगत् मे असम्भव है। आदर्श एवं वास्तविक के मध्य मे, उनको पृथक् करने वाला, एक अगम्य सागर सदा विराजमान रहेगा। यदि कोई सांसारिक वस्तु आदर्श के तुल्य हो जाय तो आदर्श की महिमा ही नष्ट हो जाय। हमारा ध्येय अपरिमित तथा अव्यक्त है। हम अपने आदर्श मे अलौकिक गुणों का समावेश देखते है। परन्तु पार्थिव पदार्थ परिमित होने के कारण अलौकिक नही हो सकते, अतएव आदर्श के साथ वास्तविक की तुलना करते समय चित्त मे विषाद, दया अथवा वियोग के भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। सायङ्काल तथा यौवन की छवि अल्पकालिक है, अतएव हमारे हृदय मे इनके प्रति दया का भाव उमड कर हमारे आकर्षित होने का मुख्य साधन बनजाता है। हिमाचल कल्पान्त-पर्यन्त इसी रूप मे रहेगा,परन्तु हमारा शरीर शीघ्र ही पञ्चतत्त्व को प्राप्त होजायगा,इस प्रकार के विचार उसकी शोभा को द्विगुणित कर देते है। इसप्रकार उक्त तीनों दृश्य चित्त मे एक अव्यक्त क्षोभ को जन्म देते है। प्रथम दो की क्षणभङ्गुरता पर हम दयार्द्र हो जाते है, एवं तीसरी के दर्शन से हमे स्वयं अपनी अवस्था पर खेद होने लगता है।

हमारी सौन्दर्योपासना-प्रवृत्ति अथवा सौन्दर्यानुराग का कारण जानना अब कठिन नही है। यदि कोई बालक बाजार मे सुन्दर खिलौना देख पाता है तो घर आकर माता पिता से उसे ला देने का आग्रह करता है। मान लीजिए कि उसके माता पिता वह खिलौना एक दिन पश्चात् देने की प्रतिज्ञा करते हैं। जब तक वह

खिलौना बालक के पास न आजाय, तब तक उसे धैर्य नहीं होता। खिलौने के प्राप्त हो जाने पर बालक को जैसी हार्दिक प्रसन्नता होती है, ठीक उसी प्रकार का आनन्द हमे किसी सुन्दर वस्तु के मिल जाने से होता है। यदि वह सुन्दर वस्तु हम से विलग हो जाय तो विवशता वश हमारे हृदय मे वैसी ही वेदना होती है, जैसी बालक के हृदय मे उसका खिलौना बलात् छिन जाने पर। इस अपार विश्व मे क्या हम बालकों के समान नहीं हैं? मानस-मन्दिर मे प्रतिष्ठा पाने योग्य जो आदर्श हमने कल्पित कर रक्खा है, मूर्तिमान पाकर भी क्या हमे सुख न होगा? अस्तु—

जिस प्रकार बालक सर्प की चमकती हुई देह से आकृष्ट हो कर निःशङ्क हो उसे पकडने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार हम समझते है कि सुन्दर वस्तुओं से हमे किसी प्रकार की हानि पहुँचनी असम्भव है। एक सुन्दर स्त्री अथवा पुरुष यदि कोई गुरुतर अपराध भी करे तो हम तुरन्त उसे क्षमा प्रदान करने को तत्पर हो जाते है। भगवान् विष्णु ने इसी सौन्दर्य से दानवों को वशीभूत कर अमृत का घट छीन लिया था। कहना न होगा कि संसार के सारे मस्तिष्क-युक्त प्राणी सौन्दर्योपासक है। नृत्य करता हुआ मयूर मयूरिनियों को उस प्रकार लुभा सकता है, जिस प्रकार मनुष्यों को। अपने हृदय के आराध्य देव को मूर्तिमान पाकर हम उसकी उपासना करते है, उससे प्रेम करते हैं, उसके सब अपराध क्षमा करते हैं, बस यही हमारी सौन्दर्योपासना है यही हमारा सच्चा सौन्दर्यानुराग है।

एक बात रह गई है। उसके बिना यह निबन्ध पूर्ण होता नही प्रतीत होता। अब तक हमने वस्तुओं के केवल बाह्य सौन्दर्य की व्याख्या की है। परन्तु वस्तुओं का आन्तरिक सौन्दर्य इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह संसार माया से परिपूर्ण है, अतएव यहा की अनेक

वस्तुओं का वहिरङ्ग उनके अन्तरङ्ग के अनुरूप नही। प्रकृति ने मणि-भूपित, सुचिक्कण देह वाले सर्प को विपधर बनाया है। कठिन, कुरूप नारियल के गर्भ मे मधुर गिरी उत्पन्न की है। अतएव प्रिय-दर्शन वस्तुएं भी कभी-कभी हमारे लिये हानिप्रद सिद्ध हो जाती है। मनुष्य-मात्र का आन्तरिक सौन्दर्य हृदय की शुद्धता, पवित्रता एवं स्थिरता मे है। रूप मे सुन्दर न होने पर भी, हृदय का प्रकाश मनुष्य को एक अपूर्व सौन्दर्य-ज्योति से आलोकित कर देता है। यदि किसी सुन्दर देह मे पवित्र हृदय का निवास हो तो कहना ही क्या है। फिर तो तुलसी दास जी के शब्दों मे—

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छवि गृह दीप शिखा जनु बरई ॥

परन्तु इसके विपरीत कलुषित हृदय वाला मनुष्य सौंदर्य-राशि होने पर भी हमारी घृणा का पात्र होने के योग्य है। गोसाईं जी ने ठीक कहा है—

मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विषरस-भरा कनक-घट जैसे ॥

अतएव मनुष्य-जीवन मे हृदय-गत सौन्दर्य का होना परमावश्यक है। बाह्य सौन्दर्य उसका स्थानापन्न हो सकता है, परन्तु आन्तरिक सौन्दर्य के अभाव की पूर्ति वाह्य सुन्दरता द्वारा नहीं हो सकती। हमको वस्तुओं का ग्रहण अथवा परित्याग केवल उनके बाह्यरूप के ही अनुसार करना उचित नहीं है। हमारे ध्येय ऐसे उच्च बनने चाहिये कि हम केवल सर्वाङ्ग सुन्दर वस्तुओं की ओर आकृष्ट हों, बाह्यरूप के साथ-साथ आन्तरिक रूप की भी परीक्षा करना हमें इष्ट हो; अन्यथा हमारा निर्वाचन समुचित न होगा। बाह्य सौन्दर्य की तीव्र धारा मे तिनके की भाँति न बह कर, हमको सदैव यह ध्यान मे रखना चाहिए कि—

इक बाहर, इक भीतर, इक मृदु दहु दिसि पर।
इम रचे जग त्रिविध नर, बेर, बदाम, अगर ॥ —चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय

(७)

कर्मवीर महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप के यहां अच्छा आदर सत्कार पाने पर भी विभीषण-मानसिह चित्तौड़ के राजकुमार से बोले, "राणा जी के सिर में जो दर्द है उसकी दवा लेकर शीघ्र ही लौटूँगा।" विभीषण मानसिह शीघ्र ही लौटा। हल्दीघाटी के मैदान ने इस सुयोग्य चिकित्सक का आवाहन किया। प्रताप भी अपनी कठिनाइयों का पहला पाठ पढने के लिये इस रणक्षेत्र की ओर आगे बढा। २२००० साथी—लेकिन अन्त मे आठ हजार ही बचे, शेष सब प्रताप को गुरुदक्षिणा मे देने पड़े ! घमासान युद्ध ! प्राणों का बाजार पूरा गरम ! भीषणता, और उसका सच्चा महत्त्व उसी समय समझ सकते हो, जब एक किसान की कुटी की शान्ति और सौम्यता से इस दृश्य की तुलना करो ! मनुष्य की पाशविक शक्ति का पूरा नमूना, लेकिन, साथ ही संसार के उज्जवल गुणों का पूरा खजाना ! मर रहे और मारे जा रहे है ! एक पर एक टूट रहे है, और एक पर एक गिर रहे है ! ढाल—लेकिन अन्त मे कोमल शरीर ही ढाल का काम देते है। तलवार—मनुष्य के रक्त की तरलता देखकर उसका पानी और भी तरल हो जाता है ! बर्छियाँ जरा सा भी अन्याय नहीं करतीं ! इस यज्ञकुण्ड मे, प्रताप ! तुम अपनी जान की बार बार आहुति दे रहे हो ! लेकिन तुम इस तरह से छुटकारा नहीं पा सकते, तुम्हे संसार मे रहकर संसार से संग्राम करना है ! मानसिह ! वह—विभीषण दवा लेकर प्रताप के

सामने न आ सका। ओह! सलीम बचा है, छोड़ो प्रताप, उसे छोड़ो! आह, अब तुम बेतरह घिर गये! तुम अकेले, और ये मुगल सिपाही सैकड़ों! तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु हो गया है। फेंक दो उसे! अरे फेंक दो उसे! लेकिन कितने मारोगे, एक, दो, तीन–अरे, वे आते ही जाते हैं, अब भी फेंक दो, फेंको भी! देश और जाति को, नहीं, संसार को, तुम्हारी जान, तुम्हारे सोने के मुकुट से भी ज्यादा प्यारी है। नही फेंकोगे? अच्छा राजपूत वीरो! आगे बढ़ो, तुम्हारा अधिपति मुफ्त मे जा रहा है! बढो आगे, बचाओ, बचाओ! हाँ सदरी के झाला! तुम हाँ, बढ़ो! बस ठीक! झाला के सिर पर मुकुट है। मुगल तलवारें झाला पर पड़ने लगीं। प्रताप को उन्होंने छोड दिया। एक जान के बदले दूसरी जान! झाला ने अपनी जान देकर अधिक कीमती जान बचा ली! रक्त-नदी बह उठी। लेकिन, चित्तौड़ की स्वतन्त्रता देवी की प्यास न बुझी! अभी तो परीक्षा आरम्भ ही हुई है प्रताप! एक किले के बाद दूसरा किला दो। अब किले नही रहे, तो जाओ पहाड़ों और जंगलों की खाक छानो। ऐ! रसद बन्द हो गई, तो क्या हर्ज है? पत्ते कहीं नही गये, जंगल का सामा और कोदों का कोई हाथ न पकड़ लेगा। आज यहां तो कल वहाँ, घास की रोटियां, लेकिन खाते ही मुगल आ पहुंचे। लडते भिडते निकल चलो! सोने के बिछौने नहीं, कोई हर्ज नही! बडों के लिये चट्टाने और बच्चों के लिए बॉस के पालने ही सही! अन्धेरी रातें, धधकती दुपहरियाँ, जाड़े का कडाका, वर्षा की रिमझिमाहट, आत्मा की आग और परमात्मा की उदासीनता–साथियों का मरते जाना और सैनिकों का कम होते जाना, कठिन तपस्या और कठोर व्रत! एक दिन नहीं और दो दिन भी नहीं, एक साथ पच्चीस वर्ष तक!

(२)

यह कैसी चीत्कार ? चित्तौड़ की राजकुमारी के हाथ से एक वन-बिलाव घास-पात की रोटी छीन ले गया। राजकुमारी चीख उठी। बिलाव के डर से नही, भूख के डर से, राजकुमारी—और रोटी के लिए तरसे ! लेकिन प्रताप–यह क्या ? तुम्हारी आत्मा काँप क्यों उठी ? लड़की की वेदना देखकर और परिवार के कष्टों से ? शान्त हो और ज़रा विचारो ! देखो, वह तुम्हारे शत्रु अपने खीमों मे घी के दीपक जला रहे है। क्यों ? तुम्हारी हिम्मत टूटती हुई देखकर। इन दीपकों के घी और बत्ती के साथ, सच बताओ, तुम्हारा हृदय जला कि नहीं ? हाँ जला, अब इस जले पर नमक छिड़कने की जरूरत नहीं।

(३)

हो चुका ! बस, चित्तौड की पवित्र भूमि ! तुझे नमस्कार है। तुझे छोडता हूँ, लेकिन स्वतन्त्रता का पल्ला नहीं छोडता। जो था, सो सब इस देवी के अर्पण हो चुका। शरीर मे जो हड्डियाँ बाकी है, वे भी अर्पण हो चुकीं। जननी-जन्मभूमि, अंतिम दर्शन है। लो, आज्ञा दो।

प्रताप, आगे बढ़ो ! तुम्हारी सच्ची माता तुम्हे बुला रही हैं। हरिश्चन्द्र अपनी दासता के कर्तव्य मे जब हद्द से ज्यादा आगे बढ़ गये थे, तब कहते है कि निराकार प्रभु ने आकर उनका हाथ पकडा था। मेवाड़ की भूमि भी तेरा पैर पकड रही है। देख, उसका एक सपूत आगे बढता है। भामाशाह तेरे पैर थामता है। देश को मत छोड, वह तुझे छोड़ने के लिए तैयार नही। भाग्य भी अभी तक तुझे छोड़े था, लेकिन अब वह प्रार्थना करता है कि तू उसे मत छोड़। ले धन। २५००० आदमी इस धन से १२ वर्ष तक खा सकेंगे। तेरी तपस्या पूरी हो गई और देख

स्वतन्त्रता देवी स्वयं तेरे पास आरही है। तेरे साहस और तेरी दृढता तथा वीरता और उदारता के सामने उसका आसन डोल उठा है। देख, शान्ति से वह मुस्करा रही है। उसके हाथों मे माला है और देख वह तेरे गले मे गिरती है।

(४)

महान पुरुष—निस्सन्देह महान पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न मे इतनी चमक है? स्वतन्त्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी-जन्मभूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की? देशभक्त, लेकिन देश पर ऐहसान जिताने वाला नही, पूरा राजा, लेकिन स्वेच्छाचारी नही। उसकी उदारता और दृढता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिह पर उसकी दृढता का जादू चल गया। अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उस पर जाने न्योछावर करते थे। भामाशाह ने उसके पैरों पर सब कुछ रख दिया। विभीषण मानसिह उससे नजर नही मिला सकता था। अकबर उसका लोहा मानता था। खानखाना उसकी तारीफ मे पद्य-रचना करना पुण्य-कार्य समझता था। जानवर भी उसे प्यार करते थे और घोडे चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान न्योछावर कर दी। स्वतन्त्रता देवी को वह प्यारा था, और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड का वह दुलारा था और चित्तौड की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि बेगमे पकडी गई और सम्मान सहित वापिस भेज दी गई। सेनापति फरीदखा ने कसम खाई कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहायेगी, प्रताप ने सेनापति को पकड कर छोड दिया।

(५)

अन्तिम काल जान नही निकलती। लेकिन राणा जी, क्यों?

मुझे विश्वास नहीं कि मेरे बाद चित्तौड़ की स्वाधीनता कायम रह सके। क्यों? राजकुमार दृढ़ न सही, मेवाड़ के सोलह सरदार, राणा जी, कसम खाते हैं कि हम अपने खून से स्वतन्त्रता के उस बीज को जो तूने बोया, सींचेंगे। शान्ति हुई, और उसकी आत्मा शरीर से बाहर होकर स्वतन्त्रता देवी की पवित्र गोद में जा विराजी। प्रताप! हमारे देश का प्रताप! हमारी जाति का प्रताप! दृढ़ता और उदारता का प्रताप! तू नहीं है, केवल तेरा यश और कीर्ति है। जब तक यह देश है और जब तक संसार मे दृढ़ता, उदारता, स्वतन्त्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नही, सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। संसार के किसी भी देश मे तू होता, तो तेरी पूजा होती, और तेरे नाम पर लोग अपने को न्योछावर करते। अमेरिका मे होता, तो वाशिंगटन और इब्राहेम लिंकन से तेरी किसी तरह कम पूजा न होती। इङ्गलैण्ड मे होता तो वेलिंगटन और नेलसन को तेरे सामने सिर झुकाना पड़ता। स्काटलैण्ड मे वालेस और राबर्ट ब्रूस तेरे साथी होते। फ्राँस मे जान आफ आर्क तेरी टक्कर की गिनी जाती और इटली तुझे मेजिनी के मुकाबले मे रखती। लेकिन हम भारतीय निर्बल आत्माओं के पास है ही क्या, जिससे हम तेरी पूजा करे और तेरे नाम की पवित्रता को अनुभव करें। एक भारतीय युवक आँखों मे आँसू भरे हुए नेत्रों सहित अपने हृदय को खोता हुआ, लज्जा के साथ तेरी कीर्ति गा–नहीं रो-नही, कह भर लेने के सिवा और कर ही क्या सकता है?

—गणेशशंकर विद्यार्थी

(८)

समाज और साहित्य

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से घिरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान-बीन करते जाइए, उतनी ही नई-नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायंगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष! दोनों मे कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, तनिक सोचिए तो सही। एक छोटे से बीज के गर्भ मे क्या क्या भरा हुआ है! उस नाम मात्र के पदार्थ मे एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है। जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से सम्पन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने मे समर्थ होता है, जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। सब बाते विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहल-वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते, और अन्त मे उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते है। पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अन्त नही है। वे सृष्टि के कार्य-साधन मे निरन्तर तत्पर हैं। मर कर भी वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान-बीन मे प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से उनकी उन्नति हुई और

किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते है, वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमे विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जंगली अवस्था मे थे। सृष्टि के आदि मे सब आरम्भिक जीव समान ही थे, पर सब ने एक सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेप प्रवृत्ति रही, उसपर उसकी उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त मे प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा, वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया, उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। साराश यह कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव, विचार सब मे परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था, वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नए विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं, नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है, तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन मे परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकाश होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता होती गई, त्यों-त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन मे उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है।

यह भाव जिस जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है, उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकाश के नही हो सकती; अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। मस्तिष्क के विकास मे साहित्य का स्थान बड़े महत्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्य-रूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना-बिगडना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है, उसके संचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता-निर्देशक कह सकते है। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी, वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है। यह सभ्यता की सीढी के किस डंडे तक चढ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले-पहल अद्भुत बातों के देखने से जो जो मनोविकार उत्पन्न होते है, उन्हे वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्धों के वर्णन, अद्‌भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्म-काड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण मे वाणी का विशेष

स्थायी रूप मे उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़ कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृङ्खला हो जाती है, जिससे साहित्य के विशेष विशेष अङ्गों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकाश के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों पर प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीतप्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिए निरन्तर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों को सोचने और उन्हीं का अवलम्बन करने मे बीत जाता है। अतएव क्रम-क्रम से उन्हे सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहां इसके प्रतिकूल अवस्था हो, वहाँ आलस्य का प्रावल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया, तब फिर उसकी चिन्ता ही कहां रह जाती है? भारत-भूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकाण्ड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिए। यहां सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहां प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं? फिर इनकी चिन्ता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलासप्रियता में फँसकर इन्द्रियों का शिकार वन बैठता है। यही मुख्य कारण हैं कि यहाँ का-साहित्य धार्मिक विचारों या शृङ्गार रस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकाश

मे साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमे यह भली भांति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों मे एक समय धर्म सम्बन्धी शक्ति पोप के हाथ मे आ गई थी। माध्यमिक काल मे इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतन्त्रता-देवी की आराधना मे रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खडा करना था। उसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्य-क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नही जानता कि फ्रास की राज्य-क्राति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेजिनी के लेखों ने बोया? भारतवर्ष मे भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नही पड़ा। यहा की प्राकृतिक अवस्था के कारण सासारिक चिन्ता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उसमे अव्य-वस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध-धर्म और आर्य-समाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिन्दू-धर्म जब परस्पर पडोसी हुए, तब दोनों मे से कूपमंडूकता का सा भाव निकालने के लिए कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक उन्नति मे साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार मे इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो

मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है, यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ-साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें; यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है, तो हमारा प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक वह तो हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस संस्कृत देश की स्थिति एकान्त रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वार-पार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघ-शक्ति का संचार जैसा चाहिए, वैसा नहीं हो सकता और यह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्बल कर दिया है, और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगा, तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके। मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, संजीवनी

शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुन्दर ढाँचे मे ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस ओजस्विनी भाषा मे तैयार किया जाए। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी भाषा मे अभी तक बडा अभाव है। पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने मे आ रहे हैं। यह दृढ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों मे उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखे खुलेगी, और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

मै थोडी देर के लिए आपका ध्यान हिन्दी गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूं। यद्यपि भाषा के दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है, पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित दिखाई नही देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है। उसमे जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड जाता है, वह अधिकाश अवस्था मे मतभेद के कारण नही बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात वा व्यतिक्रम प्रान्तिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप मे ही अधिकतर दिखाई पडते हैं। इनके लिए कोई मत-सम्बन्धी विवाद नही उठ सकता। इनके निवारण के लिए केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य मे केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों मे नही बाँटना चाहिए।

गद्य के विषय मे इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोडा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पडता है। इसमे कोई मतभेद नही कि जो हिन्दी गद्य के लिए ग्रहण की गई है, वह दिल्ली और मेरठ प्रान्त की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रान्त की है, पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रान्तों मे भी हो गया है। अतः वह उन प्रान्तों के शब्दों का भी अभाव-पूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान मे किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिए कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रान्त से, जहां उसका शिष्ट समाज या साहित्य मे प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने मे मिला सकती है प्रत्यय आदि नही ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्तःकरण मे भावों की अनेकरूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता है, वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमे संस्कृत कोशों को ढूँढ-ढूँढ कर शब्द रखे गए हों, और चार-चार अंगुल के समास बिछाए गए हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे, जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण मे जल्दी न धसेंगे, वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमे बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों के बीच, जो नए नए भावों का विकाश करने मे समर्थ हो, जो इनके जीवन-क्रम को उलटने—पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग मे बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकी और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं

आई है; पर आशा है कि उचित पथ के अवलम्बन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खडी बोली मे जो अधिकांश कविताएं और पुस्तकें लिखी जाती हैं, वे इस बात का ध्यान रख कर नहीं लिखी जाती कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा मे भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है। उसके वाक्यों का रूप-रंग कुछ निराला है। किसी साधारण गद्य को नाना छन्दों मे ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नही प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रज-भाषा मे चली आ रही है, उसका बहुत कुछ अग खड़ी बोली मे रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के सम्बन्ध मे जो बाते गद्य के प्रसंग मे कही जा चुकी हैं, वे कविता के विषय मे भी ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या ? खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्य-क्षेत्र मे जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है, वह ठीक नही। कविता का अभ्यास आरम्भ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति ग्रन्थों का देखना, रस, अलङ्कार आदि से परिचित होना आवश्यक है।

—रायबहादुर श्यामसुन्दरदास

(९)

साहित्य और हिन्दी-साहित्य की प्रगति

अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए मुख से शब्द या स्वर निकालने की पद्धति को भाषा कहते हैं। सार्थक शब्द-योजना का नाम भाषा है, अर्थात् भाषा अथ-प्रकाशन का शाब्दिक संकेत है। अतएव पशुओं और पक्षियों की भी भाषा हो सकती है। मनुष्य जाति ने देश और काल के अन्तर के कारण तथा अपनी सुगमता के लिए भिन्न भिन्न भाषाएं बनाई है और उनके भिन्न भिन्न नाम रखे हैं, जैसे संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी. अरबी इत्यादि। किसी भाषा का साहित्य उस भाषा मे लिपिबद्ध भावों और विचारों का समूह है। शब्द रूप मे एकत्रित किए हुए भाव और विचार ही साहित्य कहलाते है। साहित्य लेखको की कीर्ति है। ऐसा हो सकता है कि हम कोई भाषा जानते हों, किन्तु उसके साहित्य से अपरिचित हों। अथवा उसका साहित्य भली भाँति जानते हों, किन्तु उस भाषा का उचित ज्ञान न हो। यों तो साहित्य शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है, किन्तु सुगमता के लिए और भिन्न भिन्न विषयों को श्रेणीबद्ध करने के विचार से विद्वानों ने इसका प्रयोग-क्षेत्र संकीर्ण कर देना उचित समझा है। साधारणतः साहित्य से काव्य, महाकाव्य, नाटक, निबन्ध, उपन्यास और गल्प का अर्थ समझते हैं। स्मरण रहे कि यथोचित रूप से साहित्य की सीमाएं निर्दिष्ट नहीं की जा सकती, क्योंकि गणित, रसायन आदि शास्त्रों के शब्दों की भाँति उसकी परिभाषा नियत नहीं हो

सकती। यह केवल समझ लेने की बात है।

साहित्य-आचार्यों ने साहित्य के दो बड़े भाग किये हैं; एक गद्य और दूसरा पद्य, किन्तु इसमें भी बडी कठिनाई है। यदि पद्य का अर्थ केवल एक विशेष रूप से निर्दिष्ट नियमानुसार शब्द-योजना हो तो बहुत सा ऐसा पद्य मिलेगा जिसको गद्य से भिन्न समझने मे कोई लाभ नही—विभाग ठीक तो रहेगा, किन्तु व्यर्थ और यदि पद्य का अर्थ काव्य हो तो "गद्य-काव्य" ऐसे शब्द झूठे और निरर्थक हो जायँगे। वास्तव मे गद्य और पद्य भाषा की दो शैलियों के नाम हैं। पद्य मे शब्दों या अक्षरों की मात्रा और उनके उच्चारण मे किसी प्रकार का स्पष्ट नियम रहता है जो गद्य मे नही पाया जाता। परिभाषा की कठिनाई उपस्थित रहते हुए भी लोग साहित्य का अर्थ कुछ न कुछ ठीक ही समझ लेते हैं। अब यह देखना है कि साहित्य का जन्म क्यों और कैसे होता है? उसका स्वरूप कैसा होता है? और व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन से उसका क्या सम्बन्ध है?

लेखक क्यों लिखता है? ग्रन्थकार का ग्रन्थ-निर्माण करने मे क्या अभिप्राय है? कवि लोग किसलिए कविता किया करते है? अथवा समालोचक लोग लेखकों के पीछे क्यों पड़े रहते हैं? इन प्रश्नों का एक उत्तर नही दिया जा सकता। कुछ मनुष्यों के हृदय मे भावनाएं उत्पन्न होती हैं और विचार उठते है जिनको प्रकट किये विना वे रह ही नही सकते। उनको भाषा रूप से रखने से उन्हे प्रसन्नता प्राप्त होती है। बहुत सी कविताएं इसीलिये लिखी जाती है। तुलसीदास ने कहा भी है—

"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुवीरगाथा—
भाषानिवन्धमतिमञ्जुलमातनोति"

अर्थात् अपने अन्तःकरण के सुख के निमित्त रामचन्द्र की कथा का अतिसुन्दर भाषा-प्रबन्ध मे विस्तार (वर्णन) करता हूँ। कुछ लोगों को मानव-जीवन के देखने और समझने मे एक प्रकार का आनन्द आता है। वे उसके गुणों की चर्चा करते हैं; अवगुणों को खोलते हैं और सुधार का रास्ता साफ़ करते हैं। मनुष्य का हृदय खोल के पुस्तक मे रख देते है। इस प्रकार के लेखक बहुधा नाटक और उपन्यास लिखा करते हैं। फिर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो यह समझते हैं कि यदि उनके विचार प्रकट किये जायँ तो देश तथा समाज की उन्नति में सुविधा होगी। ऐसे विचार-कर्त्ताओं की लेखनी से निबन्ध निकला करते हैं। अन्त मे ऐसे लोग भी मिलते है जो उक्त लेखकों के ग्रन्थों को सुलभ होने और उचित रीति से समझे जाने के लिये अपनी लेखनी का प्रयोग करते हैं। इनका नाम पण्डितों ने समालोचक रखा है। प्रायः सब लेखकों का यह भी अभिप्राय हुआ करता है कि अन्य लोग उनका लिखा पढ़ें, समझें और उससे लाभ उठावें। परिणाम यह होता है कि लाभ उठाने वाले उनका यश गाते हैं और यदि हो सकता है तो उनकी आर्थिक तथा सामाजिक दशा को उच्च करने या प्रयत्न करते है। अनुमान होता है कि इस परिणाम को जानते हुए अनेक लेखकों के हृदय के किसी कोने मे इस प्रकार की अभिलाषाएं भी पडी रहती होंगी। विशेपतः अपने तथा अपने ग्रन्थ के आदर सम्मान होने की एक प्रबल इच्छा होती है। उच्च कोटि के लेखक चाहते हैं कि विद्वत्समाज मे उनकी रचनाएं सम्मानित हों। गोस्वामी जी सब की बन्दना करते हुए लिखते है—

"होउ प्रसन्न देहु बरदानू।
साधु-समाज भणिति सनमानू॥"

एक अंग्रेजी लेखक ने लिखा है कि मुझको दो बातों से कष्ट होता है। एक तो जब मेरी रचनाएं सुनकर पण्डित लोग चुप रहते हैं (अथवा प्रशंसा नहीं करते) और दूसरे जब मूर्ख लोग प्रशंसा करते हैं। प्रशंसा और ख्याति के सम्बन्ध मे अंग्रेजी के प्रसिद्ध महाकवि मिल्टन ने भी लिखा है कि यह "उत्कृष्ट चित्तों की अन्तिम दुर्बलता है" । धन-प्राप्ति के लिये भी बहुत सा साहित्य लिखा गया है। राजसभा से कुछ मिलने की आशा मे अनेक कविताएं रची गई हैं।

इस प्रकार जन्म पाकर साहित्य संसार मे अपना स्थान पाता है। अब यह देखना है कि इसका स्वरूप कैसा होता है। हिन्दी साहित्य मे १२वी और १३वी शताब्दी मे वीर रस अधिकांश मे है और राजनैतिक बातों का अधिक वर्णन है। १४वी और १५वी शताब्दियों मे साहित्य अधिकतर धर्म और समाज की आलोचना मे लगा है। १६वी और प्रारम्भिक १७वी शताब्दी मे भक्ति और शान्त रस ने हिन्दी को सर्वोच्च शिखर पर पहुंचाया। १७वी और १८वी शताब्दियों मे शृङ्गार ने भाषा को अलंकृत करके अपना सिक्का जमा लिया। तत्पश्चात् कविता लड़खडाने लगी, शृङ्गार कुछ रह गया, नाटक ने थोड़ा सहारा दिया, गद्य बढने लगा और चलते चलते वर्तमान समय मे साहित्य को गद्य ने सम्भाल लिया, अतएव आजकल गद्य ही प्रधान है, उपन्यास और कहानियों का आधिक्य है, नाटक, काव्य और महाकाव्य भी निकल रहे हैं। नाटक ने हिन्दी साहित्य को अभी तक भली भाँति अपनाया ही नहीं। इन सब का क्या कारण है ? संस्कृत यूनानी, लैटिन, अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच—सब भाषाएं अपने नाटक पर गौरव करती हैं। हिन्दी मे इसका अभाव क्यों हुआ ?

रामचरितमानस ऐसी पुस्तक इंग्लिस्तान मे क्यों नहीं लिखी गई? बिहारीलाल और मतिराम इत्यादि सूरदास और तुलसीदास का मार्ग छोडकर शृङ्गार मे क्यों डूब गए? इस प्रकार के अनेक प्रश्न साहित्य-पाठकों तथा समालोचकों के हृदय मे उठा करते है, किन्तु इनके उत्तर अति कठिन है।

तथापि विचार-दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि कुछ स्थायी और कुछ अल्पकालिक शक्तियां समय समय पर साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया करती है। उनमे मुख्य जाति, देश, काल तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशाएं हैं। फिर विशिष्ट लेखक की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दशाएं और उसके विचार और भाव है जो कुछ तो परिस्थितियों पर निर्भर है और कुछ दैवी-संयोग या जीव-वैज्ञानिक घटना पर। उपर्युक्त शक्तिया लेखक के साहित्य-बल को एक निर्दिष्ट मार्ग पर चला देती है जिस पर वह अपने ढंग से कार्य किया करता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि काल के उपयुक्त न होने के कारण कितने ही महान् पुरुषों का कीर्तिबीज उठने ही नही पाता। संभव है कि यदि बिहारीलाल अथवा मतिराम तुलसीदास अथवा सूरदास के समकालीन होते तो हिन्दी मे शृङ्गार रस की कविता का यह उच्च पद न होता जो इस समय है। उक्त कवि या तो इधर उधर शृङ्गार लिये भटकते फिरते अथवा राम या कृष्ण की भक्ति मे पड कर कुछ स्वान्तःसुखाय गा जाते। यदि तुलसीदास आजकल जन्म लिये होते तो सम्भव है कि एक छोटा मोटा आधुनिक पद्य-काव्य प्रियप्रवास जैसा बना जाते. किन्तु संसार को दंग कर देने वाले रामचरितमानस का नाम भी न सुनाई देता। अब उपर्युक्त पद्य-शक्तियों का प्रभाव एक एक को लेकर देखिये।

भिन्न भिन्न जातियों की कुछ अपनी विशेषताएं हुआ करती

हैं। आर्यों का शारीरिक स्वरूप, उनकी मानसिक बनावट और उनके भाव और विचार कुछ और होते हैं और द्राविडों के कुछ और। यूनानी कुछ और ढंग से सोचते तथा जीवन-निर्वाह करते थे। रोमन्स कुछ और ही ढंग से। रूसी सभ्यता एक प्रकार की थी, तातार सभ्यता एक भिन्न ही प्रकार की थी। ऐंग्लो सैक्सन की रीतियां कुछ और थीं, नार्मन्स की कुछ और। इस प्रकार की भिन्नता शताब्दियों के परस्पर मेल-जोल, रहन-सहन, खान-पान, विवाह इत्यादि के कारण जाती रहती हैं और देश-काल आदि के प्रभाव से इन विशेषताओं मे परिवर्तन हुआ करता है, किन्तु ऐसा परिवर्तन अथवा भिन्नता का लोप बहुत ही धीरे धीरे होता है। भारतवर्ष का इतिहास आर्यों से आरम्भ होता है। आर्य लोगों मे तार्किक विचार-शक्ति का प्राबल्य था इसी कारण से सांख्य, न्याय इत्यादि शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। आर्यों के पश्चात् शक, यवन इत्यादि अनेक जातिया आई, किन्तु उनकी संख्या थोडी थी और वे लोग इस देश के रहने वालों के साथ ऐसे मिल गए कि अपनी आत्म-विशेषता खो बैठे। यूनानी लोगों का प्रभाव भी बहुत कम रहा।

आठवी शताब्दी से मुसलमानों का आना शुरू हुआ। मुसलमानों मे भिन्न भिन्न जातियां थी। कुछ लोग अरबी थे। अरबों की सभ्यता सराहनीय थी। उनको पढ़ने लिखने तथा सीखने सिखाने का बडा शौक था। उनका भारत के साहित्य पर विशेष प्रभाव हुआ। अरब वालों के पश्चात् अन्य मुसलमान जातियों ने भारत पर आक्रमण किया। साहित्य पर उनका प्रभाव यही पडा कि अशान्ति के कारण अधिक साहित्य तैयार न हो सका। हां धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने कुछ प्रभावशाली साहित्य की उत्पत्ति अवश्य की। परन्तु जब मुगल आए तो इनकी बात और थी। इनमे फारस और तातार के रक्त मिले होने से बहुत

सी विशेषताएं आ गई थीं। फिर हिन्दू रक्त भी मिला। एक तो कुछ मुगल उदार चित्त थे, इनकी उदारता ने हिन्दी साहित्य को बड़ी उन्नति दी। दूसरी विशेषता इनकी यह थी कि इनको सङ्गीत, शिल्प तथा चित्रकारी एवं गृहनिर्माण का बड़ा शौक था। हिन्दी साहित्य पर इनके गुणों का बड़ा प्रभाव पड़ा। शृङ्गार रस की अधिकाश कविता इन्हीं के समय मे रची गई। इस सम्बन्ध मे एक और बात का ध्यान रखना चाहिये। हिन्दू मस्तिष्क ज्ञान विद्या सिद्धान्त की ओर अधिक ढलता है, मुसलमान मस्तिष्क का व्यवहार की ओर अधिक झुकाव रहता है, वह भाव की अपेक्षा बाहरी तड़क-भड़क की ओर अधिक ध्यान देता है। मुसलमान मस्तिष्क की इस प्रवृत्ति ने उस समय के साहित्य को भी बहुत प्रभावित किया है। कहां सूरदास और तुलसीदास की सीधी सादी भाषा जिसमें से भावों का आधिक्य फूट निकलता है और कहा विहारीलाल की चमचमाती सजी सजाई भाषा। विहारी ने तो खैर भाव भी रखा, किंतु इनके पश्चात् के बहुत कवियों ने केवल भाषा की रंगीनी ही दिखलाई है। तुलसी, सूर को छोड़ कर शृङ्गार के कवियों मे भी यही देख पड़ता है। विद्यापति की कविता देखिये—

"सखि हे की पूछसि अनुभव मोय।
सोइ पिरीति अनुराग बखानइत तिल तिल नूतन होय॥
जनम अवधि हम रूप निहारत नयन न तिरपित भेल।
सोइ मधुर बोल श्रवनहिं सून लों श्रुति पथे परस न गेल॥"

मुख्य भाव किस सुन्दरता से दर्शाया है। इसके सामने यदि देव इत्यादि की कविता रखिये तो शब्दों की रंगीनी, भाषा का बनाव शृङ्गार, इधर उधर का सौन्दर्य साफ बतला देता है कि

पिछली कविता किस समय मे लिखी गई होगी। देव का केवल एक ही पद देखिये—"रंगराती हरी हहराती लता झुकि जाति समीर के झूकन सो"। मुगल राज्य मे मुगलों के कला-प्रेम और हिन्दुओं के ज्ञान-विज्ञान का अच्छा संयोग हुआ और कलाओं की वृद्धि हुई। काव्य-कला ने भी उस समय बड़ी उन्नति की।

मुसलमानों का अपने धर्म और समाज की ओर तो विशेष ध्यान जाता है, किन्तु देश और मातृभूमि की ओर वे कम ध्यान देते है। मुसलमानी समय के हिन्दी साहित्य मे देशीयता तथा मातृभूमि- अभिमान के अभाव का एक यह भी कारण था। समकालीन एलिजवेथन अंग्रेजी साहित्य मे चारों ओर देशाभिमान दीख पड़ता है।

मुसलमानों के पश्चात् कोई जाति ऐसी नही आई जिसने भारत मे अपना निवास स्थान बना लिया हो। युरोपीय जातिया आईं और इन्होंने राज्य भी स्थापित किये; तथापि इन लोगों ने यहां के निवासियों के जीवन मे अपना जीवन नही मिलाया। इस जाति के जीवन मे दो तीन मुख्य विशेषताएं पाई जाती है जिन्होंने अपना प्रभाव हिन्दी पर डाला है। इनकी सभ्यता का प्रथम आधार विज्ञान है। वैज्ञानिक विचारों का एक फल गद्य है। अतएव वर्तमान काल मे गद्य ही प्रधान है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह जाति स्वतन्त्रता-प्रिय है। शारीरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता इनके यहा का मुख्य उद्देश्य है। अतएव वर्तमान हिन्दी साहित्य मे राजनैतिक बातों का और स्वतन्त्रता का अधिक उल्लेख है।

साहित्य का स्वरूप देश पर भी वहुत कुछ निर्भर है। देश से तात्पर्य वहाँ की भौगोलिक दशाओं; जलवायु, पैदावार और जीवन-निर्वाह के साधनों से है। हिन्दी तथा संस्कृत भाषा मे

अलंकार अधिक होने का मुख्य कारण यही है कि भारत की स्वाभाविक मधुरता, प्रकृति की सर्वाङ्ग-सुन्दरता और शान्तिमय जीवन—सब ने मिलकर भाव, भाषा और रहन-सहन सब को आभूषित कर दिया है। अरब सदृश मरुभूमि मे इस प्रकार का साहित्य न तो उत्पन्न हो सकता है और न उसकी वृद्धि हो सकती है। वहाँ के कसीदों मे मरुभूमि का वर्णन रहता है। अतएव अरबी साहित्य मे नाटक तथा यहाँ की तरह शृङ्गार इत्यादि रस की कविता का अभाव है।

देश के अतिरिक्त काल का विशेष प्रभाव पड़ता है। काल से तात्पर्य जाति, देश और सभ्यता का संयोग है। जैसे वैदिक-काल। साहित्य पर काल ने भी अपना पूरा असर डाला है। वैदिक युग, पौराणिक युग तथा स्मृतिकाल की अपनी अपनी विशेषताएं प्रत्यक्ष हैं। वर्तमान काल के इतिहास मे भी यह प्रभाव प्रकट है। १६वी शताब्दी का अंग्रेजी साहित्य, १६वी और १७वी शताब्दी का यूरोपीय साहित्य, मध्यकाल का इटैलियन साहित्य तथा प्राचीन काल का यूनानी साहित्य—सभी एक एक विशेष काल की सूचना देते हैं। काल ने साहित्य को एक मार्ग बतलाया और साहित्य ने उस काल का चित्र उतारा।

जाति, देश और काल के संयोग से एक प्रकार का निर्दिष्ट जीवन, व्यक्तिगत तथा सामाजिक, तैयार होता है। जैसे वैदिक भारत मे आर्यों का जीवन, मुगल भारत मे हिन्दू-मुसलमानों का जीवन, ट्यूडर इंगलैंड मे अंग्रेजों का जीवन एक विशेष रूप का था जिसका परिचय उस समय की दशाओं से मिलता है। इस प्रकार का परिचय साहित्य समझने के लिये अति आवश्यक है। तुलसीदास के समय का भारत कैसा था, राजा और प्रजा का परस्पर सम्बन्ध और व्यवहार किस प्रकार का था? लोग

उनका कैसा सम्मान करते थे और अस्सी घाट पर बैठे बैठे वे कैसी बातें सोचा करते थे ? इन सब का ज्ञान आवश्यक तथा रस-पूर्ण है। कवि लोग कविता कब और कैसे बनाया करते थे ? उनके विचारों पर किन किन बातों का प्रभाव पडा करता था ? उन्हें किस बात की अधिक चिन्ता रहा करती थी ? उनके जीवन का उद्देश्य क्या था ? वे कैसा जीवन व्यतीत करते थे ? और उन्हें कैसी ,कैसी कठिनाइयां झेलनी पडती थीं—इन सब का ज्ञान साहित्य का स्वरूप उद्देश्य और प्रभाव समझने के लिये अत्यावश्यक है। दूसरी ओर साहित्य पढने से तत्कालीन जीवन का भी बहुत कुछ पता मिलता है। साहित्य एक प्रकार का दर्पण है जिसमे किसी समय का मनुष्य जीवन प्रतिबिम्बित होता है। भारत मे राजपूतों का समय, सुलतानों का काल, मुगलों का जमाना, भारत के अधःपतन का काल, मरहठों और सिक्खों की जाग्रति, पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—सब कुछ साहित्य रूपी दर्पण मे प्रत्यक्ष दीख पडता है।

निर्दिष्ट-जीवन की तीन मुख्य धाराएं होती हैं—धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक। इनका साहित्य से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह सांसारिक इतिहास से प्रकट है। भारत की धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक बातों पर ध्यान देकर हिन्दी की कुछ प्रसिद्ध काल-विभागों की विख्यात धाराएं अध्ययन की जा सकती है। यों तो इन धाराओं को पृथक् करना न केवल असम्भव है बल्कि अनुचित भी है, क्योंकि एक काल की धाराओं का पहले और पिछले काल की धाराओं से अटूट सम्बन्ध है; फिर भी समझने के लिये उनको अलग अलग करना आवश्यक है।

हिन्दी की उत्पत्ति प्राकृतिक भाषा से जान पडती है और आरम्भिक हिन्दी मे प्राकृत मिश्रित भी है। किस समय मे हिन्दी का

जन्म हुआ निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता; किन्तु अनुमान से यही सिद्ध होता है कि ७वी शताब्दी से उसकी उत्पत्ति माननी चाहिए। तब से लेकर आज तक हिन्दी साहित्य का इतिहास ५ भागों मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) आरम्भ से लेकर सूरदास से पहले तक, अर्थात् ७वी शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक। इस काल के फिर तीन विभाग हो सकते हैं—(क) आरम्भ से चन्दबरदाई और जल्हण तक, अर्थात् ७वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी के अन्त तक; (ख) जल्हण के बाद से कबीरदास के पहले तक, अर्थात् १३वीं, १४वी शताब्दियां; (ग) कबीरदास से लेकर सूरदास के पहले तक, अर्थात् १५वी शताब्दी ।

(२) सूरदास से लेकर तुलसीदास और केशवदास तक, अर्थात् १६वी शताब्दी और १७वीं शताब्दी का आदि भाग। इस काल के दो विभाग हो सकते है—(क) सूरदास से लेकर तुलसीदास के पहले तक, अर्थात् १६वीं शताब्दी का अधिकाश भाग, (ख) तुलसीदास का समय अर्थात् १६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग और १७वी का आदि भाग।

(३) तुलसीदास के बाद से लल्लुलाल जी के पहले तक, अर्थात् १७वी शताब्दी के आदि भाग के बाद से १८वी शताब्दी तक। इस काल के दो विभाग हो सकते हैं—(क) तुलसीदास के बाद से देव तक, अर्थात् १७वी शताब्दी के आदि भाग के बाद से १८वीं शताब्दी के मध्य तक; (ख) देव के बाद से लल्लुलाल जी के पहले तक, अर्थात् १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भाग।

(४) लल्लूलाल जी से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक, अर्थात् १९वी शताब्दी का लगभग दो तिहाई भाग।

(५) वर्तमान समय, हरिश्चन्द्र से लेकर वर्तमान समय तक।

प्रथम काल मे पहले राजनैतिक दशा पर ध्यान देना चाहिये। महाराजा हर्ष के बाद भारत मे छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए और राजपूतों का समय आया। ये बहादुर योद्धा थे और छोटे छोटे राज्यों मे राज्य करते थे। अत. उस समय का साहित्य अधिकतर दरबार के भाटों का बनाया हुआ है और उसमे अधिकतर राज्यवंश का प्रशंसात्मक वर्णन पाया जाता है, जैसे चन्द वरदाई और शारंगधर इत्यादि की रचनाओं मे। उसके बाद भारतवर्ष मे एक प्रकार का धार्मिक और सामाजिक अन्दोलन हुआ, जिसमे एक ईश्वर की भक्ति, आडम्बरों के त्याग और समाज के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया गया। अतः उस समय का साहित्य इन बातों से भरा पड़ा है। जैसा कि कबीरदास, रैदास और नानक इत्यादि की रचनाओं से स्पष्ट है। ये लोग अपने मत का प्रचार करते थे, इसलिये इनको जनता की भाषा मे रचना करनी पड़ी। इससे इनकी भाषा सरल और स्वाभाविक है और उसमे तत्कालीन समाज की तीव्र आलोचना है।

दूसरे काल मे एक नये ढंग का धार्मिक आन्दोलन हुआ, अर्थात वैष्णव मत का प्रचार। इस मत की कई शाखाएं हैं। इसमे कृष्ण और राम की भक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। कृष्ण की भक्ति बहुधा शृङ्गारमय हो जाती है। अतः इस समय के साहित्य मे यही बाते मिलती हैं। सूरदास और तुलसीदास आदि बड़े बड़े महात्माओं ने इस काल मे कविता की और हिन्दी साहित्य को भक्ति-काव्य से गौरवान्वित किया, इस समय मे एक ओर तो बड़े-बड़े ऋषियों और भक्तों ने कविता की दूसरी ओर मुग़ल दरबार के कवियों ने। उस समय तक अकबर ने भारत मे एक प्रकार की राजनैतिक शान्ति पैदा कर दी थी।

तीसरे काल मे उच्च धार्मिक विचारों मे शिथिलता आई। जहाँगीर और शाहजहाँ का ज़माना आया। चारों ओर कलाओं की वृद्धि हुई, लोगों का ध्यान सौन्दर्य और शृङ्गार की ओर अधिक रहा। अतः इस समय मे काव्य-कला की वृद्धि हुई। शृङ्गार रस का काव्य परमोत्कृष्टता को पहुँचा। भाषा भली भाँति श्रुति मधुर और अलंकृत हो गई। इस काल मे विहारीलाल, मतिराम और देव इत्यादि कवि हुए। इसी बीच मे फिर राजनैतिक अशान्ति का समय आया। शुरू मे महाराज शिवाजी और छत्रसाल ने हिन्दू-पुनरुत्थान का झण्डा ऊँचा किया और बड़ी वीरता दिखलाई। इसकी वजह से हिन्दी साहित्य मे वीर रस की उत्कृष्ट कविता निकली और भूषण इत्यादि कवि हुए; किन्तु थोड़े दिनों मे वीरता और जातीयता जाती रही अब शृङ्गार रस को पूरी स्वतन्त्रता मिल गई। न तो धार्मिक रोक ही रही और न समाज का उच्च दशा का दबाव ही रहा। अतः कविता ने साहित्य मे खूब मनमाना शृंगार भरा और नायिका-भेद, नख-शिख इत्यादि के अगण्य ग्रन्थ लिखे। इस समय के कवि भाषा तो खूब सजा सके, किन्तु वे भाव कहाँ से लाते; परिस्थिति उच्च भावों की न थी। इस समय के कवियों मे दास, ठाकुर, बोधा इत्यादि है। तीसरे काल की एक विशेषता यह भी रही कि बहुत मे राजा महाराजा स्वयं कविता करते थे और अन्य कवियों को आश्रय देते थे, इससे इस काल मे बहुत से कवि हुए।

चौथे काल मे पाश्चात्य सभ्यत ने अपना प्रभाव डाला। नए नए विचार आने लगे। जीवन के आदर्शों मे परिवर्तन होने लगा। कुछ रहन-सहन का ढंग बदला, शिक्षा की प्रथा बदलने लगी। इससे साहित्य मे भी परिवर्तन हुआ और साहित्य की दो धाराएं हो गईं। एक पुरानी और एक नई, किन्तु अभी पुरानी

का अधिक बल रहा; अर्थात् अलंकृत भाषा और शृङ्गार रस का प्राधान्य रहा। नई धारा ने गद्य का पक्ष लिया और खड़ी बोली को प्रधान रखा। इसका एक मुख्य कारण यह था कि शिक्षा-विभाग के लिये पाठ्य-पुस्तके तैयार करनी पड़ी। नए ढंग के लेखकों मे लल्लूलाल, सदलमिश्र और राजा शिवप्रसाद इत्यादि हुए। इसी काल मे छापेखाने भी खुलने लगे।

पाँचवे काल मे छापेखाने बहुत खुले और रेल, तार इत्यादि ने भौगोलिक दूरियों को बहुत कम कर दिया। इससे पुस्तके बहुत प्रकाशित होने लगी, गद्य का जोर बढ़ा और समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओ का प्रचार हुआ। खड़ी बोली ने अपना सिक्का जमा लिया और हिन्दी की बड़ी उन्नति हुई। फिर नाटक-साहित्य भी बढ़ा। इस समय के लेखको मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बालकृष्ण भट्ट इत्यादि है। अंगरेजी और भारतीय सभ्यता के मेल ने एक ओर तो साहित्य को इस प्रकार से प्रभावित किया दूसरी ओर एक दूसरा प्रभाव डाला, अर्थात भारतीय सभ्यता के पुनरुत्थान की एक धारा बही। कुछ सामाजिक और कुछ धार्मिक आन्दोलन होने लगा। इसने भी साहित्य को प्रभावित किया। इस काल के प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी का बड़ा उपकार किया। इसके बाद कुछ राजनैतिक आन्दोलन भी होने लगा। संसार भर के विचारो का ज्ञान सरलतापूर्वक होने लगा। राजनैतिक आदर्शों मे परिवर्तन हुआ, राष्ट्रीयता और जातीयता का भाव बढा, देशभक्ति की धारा बही, समाज-सुधार की ओर ध्यान अधिक आकर्पित हुआ और भिन्न भिन्न विपयों का अध्ययन तथा उन पर विचार होने लगा।

हिन्दी साहित्य की कुल आयु अभी तक लगभग १२०० वर्ष है। यह समय साहित्य-जीवन के लिये थोड़ा और बहुत दोनों

कहा जा सकता है। किसी भी भाषा का सर्वोच्च साहित्य बहुत दिनों मे तैयार नही हुआ। इस दृष्टि से १२०० वर्ष साहित्य की प्रौढ़ता, प्रगाढ़ता तथा व्यापकता के लिये कुछ कम नहीं है। पर दूसरी दृष्टि से यह काल बहुत ही थोड़ा है, क्योंकि और बहुत से साहित्यों की आयु इससे दुगुनी चौगुनी है। बहुत ही थोड़े दिनों मे हिन्दी साहित्य ने भक्तिरस की रचना का सर्वोत्कृष्ट और सर्वाङ्गपूर्ण उदाहरण दिखला दिया; किन्तु १२०० वर्ष मे भी उसमे देशाभिमान तथा जात्यभिमान सम्बन्धी रचना सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त न हो सकी।

वर्तमान समय का साहित्य सब बातों से पूर्ण है। इतिहास, राजनीति, धर्मसुधार आदि विषयक ग्रन्थ रोज निकलते है। समाचार-पत्रों ने इस ओर पूरा ध्यान दिया है। उपन्यास और कथाएं खूब निकल रही हैं। धार्मिक साहित्य और शृङ्गाररस का साहित्य भी पूर्ववत् निकल रहा है। हिन्दी-साहित्य ने भारतवर्ष की जनता के जीवन पर प्रगाढ़ प्रभाव डाला है। हिन्दी-साहित्य मनुष्य को एक तो धर्म और कर्तव्य की ओर प्रवृत्त करता है, दूसरे व्यवहारिका नीति सिखलाता है और तीसरे शृङ्गार की ओर ले जाता है। पहली बात वैयक्तिक जीवन के लिये बहुत ही लाभदायक है, दूसरी बात सांसारिक जीवन के लिये उपयोगी है और तीसरी बात कहीं जीवन को सरस बनाती है और कहीं आचरण पर बुरा प्रभाव डालती है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य का भण्डार बड़ा अपूर्व है। यद्यपि यह अभी कई बातों में अपूर्ण है, इसके कई रचयिताओं के सम्बन्ध मे बहुत कम बाते ज्ञात है, बहुतों की जीवनी का कुछ पता ही नही, इसका क्षेत्र कुछ संकुचित है, इसमे सब विषयों का भली भाँति वर्णन नहीं हुआ है, विशेषतः सांसारिक वस्तुओं या व्यापार का वर्णन कम आया है; फिर भी

वर्तमान समय में उक्त कमियां पूरी हो रही हैं।

हिन्दी साहित्य से बहुत सी आशाएं की जा सकती हैं। वर्तमान समय मे हिन्दी का बहुत सवेग प्रचार हो रहा है, यहां तक कि योरोप आदि देशों मे भी इसका पठन-पाठन होने लगा है। इस समय, जब चारों ओर वस्तुवाद का डंका बज रहा है और हानि लाभ का लेखा केवल सांसारिक जीवन ही पर निर्भर है, एक ऐसे बल की आवश्यक्ता है जो मनुष्य के मस्तिष्क को वस्तु-वाद से फेर कर अध्यात्मवाद की ओर ले जाय और सांसारिक जीवन से उच्चतर जीवन का दृश्य दिखलावे, किन्तु साथ ही साथ अध्यात्मवाद को नीरस न बनावे, और उसे पूर्णरीति से लोकप्रिय बनाए रखे। यह सब हिन्दी-साहित्य सफलता के साथ कर सकता है, कर रहा है और करेगा। हिन्दी-साहित्य अपने विषय, भाषा तथा छन्द के कारण पढ़ने सुनने और समझने मे ऐसा सरस हो गया है कि इसके पठन-पाठन से जीवन आनन्दमय हो जाता है। हिन्दी साहित्य मनुष्य-जीवन को रसमय बनाते हुए उच्चमार्ग पर ले चलने की पूरी शक्ति रखता है और आजकल विश्व मे इसकी आवश्यकता है।

—रमाशंकरप्रसाद

(१०)

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली

आजकल की शिक्षा के सम्बन्ध मे यदि किसी को अपनी सम्मति निश्चित करनी हो तो उसे चाहिए कि शाम को जाकर कालेज के नवयुवकों के झुण्ड मे एकाएक घुस पड़े। यदि वह बूढा है तो जाते ही नई रोशनी वाले नौजवान लोग उसे बेवकूफ बनाना शुरू कर देंगे और अगर कही वह अपनी अवस्था का हुआ तब भी वे लोग उसकी हँसी उडाए बिना न रहेगे। सौभाग्य-वश यदि कहीं यह आतिथ्य प्राप्त करने का अवसर न मिले और आप छिपे ही छिपे उनके पीछे चलते रहे तो आप को उनके विनोद तथा रुचि का भी नमूना मिल जायगा। आपस मे ऐसे-ऐसे भद्दे मजाक होंगे कि आप दङ्ग रह जायँगे, आप सोचने लगेगे कि सचमुच देश के नवयुवक क्या इसी प्रकार की शिक्षा पाकर संसार और जाति की सेवा करने जा रहे हैं? इसका यह कारण भी नहीं कि इन विद्यार्थियों का जीवन बड़ा सुखमय और स्वास्थ्यपूर्ण है और मारे आह्लाद के उन्हे और कुछ सूझता ही नही। यदि आप उनके मुखमण्डल की ओर दृष्टि डाले तो कान्तिहीन पीले-पीले चेहरे दिखाई पड़ेगे। सारा शरीर बरसात के मेंढकों की भाँति पीला, हाथ पैर सूखी लकड़ी से और आँखें प्रभाहीन। इस प्रकार न तो उनकी शारीरिक दशा अच्छी है और न मानसिक। धर्म तथा चरित्र का प्रश्न तो अलग रहा, ये बेचारे आगे चल कर अपनी जीविका भी तो नहीं कमा

सकते। किसी न किसी प्रकार माता-पिता चलीस-पचास रुपये प्रति माज भेज देते हैं, पर ग्रेजुएट होने पर तो इतना भी कठिनता से मिलने की आशा है। अस्तु—

मिल्टन ने एक स्थल पर लिखा है कि सच्ची शिक्षा वह है, जिसकी सहायता से मनुष्य अपना तथा समाज का प्रत्येक कार्य उत्तरदायित्व एवं कौशल के साथ सम्पादन कर सके। पर समाज की सेवा तो दूर रही, आजकल के शिक्षित युवक तो अपनी सेवा करने में भी असमर्थ रहते हैं। न तो उनका मस्तिष्क ही विकसित होने पाता है और न शरीर ही। कविवर रवीन्द्र जी ने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है कि हमारे विद्यार्थियों की प्रतिभा पुस्तकों के पन्नों मे मसल दी जाती है। बात बिलकुल ठीक है और पढ़-लिख कर निकलने पर प्राय लोगों के विषय मे वही कहावत चरितार्थ होने लगती है कि ' धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का"। रही उन पुस्तकों की बात, जिनके पन्नों मे प्रतिभा का पानी सूख कर लुप्त हो जाता है, वे भी ऐसी होती है जो न दीन के काम की, न दुनिया के! इतिहास सिखाता है कि हमारे पूर्वज मूर्ख थे और सदा दूसरों की ठोकरे खाते रहे। तभी तो सभी प्राचीन बातों तो हम लोग ढोंग और पुराने लोगों को मूर्खातिमूर्ख समझने लग गए है। हमारे लिए जो कुछ है, पाश्चात्य शिक्षा मे और पाश्चात्य सभ्यता मे है—उसकी तीव्र रोशनी से हमारी आँखे ऐसी चकाचौंध मे पड़ गई हैं कि उनके सामने और कुछ ठहरता ही नही!

परन्तु इसका अर्थ यह नही कि हमने पाश्चात्य सभ्यता का सब कुछ सीख लिया है। यह समझना भारी भूल होगी, क्योंकि हमने अब तक उसके प्रलोभनों और उसकी कमजोरियों पर ही ध्यान दिया है—या यों कहिए कि उनकी ही ओर हमारा ध्यान खींच कर

किया गया है। पाश्चात्य सभ्यता ने हमारे युवकों को न तो यूरोप की मुस्तैदी सिखाई है और न वहां की सी देश-सेवा, उन्होंने तो सीखा है अकड कर चलना, डपट कर बोलना—चाहे डपटने भर को आवाज मे जोर भले ही न हो—और अपने छोटे से छोटे काम भी नौकरों के ऊपर छोड देना। सब से बडा भ्रम जो शिक्षित समाज मे पैदा हो गया है और जिसके कारण हमारी दरिद्रता बढती जा रही है, यह है कि हमारे रहन-सहन का स्टैण्डर्ड बढना ही सभ्यता का द्योतक है। यही समझ कर प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपने खाने-पीने, चलने-फिरने का स्टैण्डर्ड बढाने की ही फिकर मे रहता है। पैदल चलना अथवा धोती बांधकर बाहर निकलना सभ्यता के विरुद्ध समझा जाता है और अनावश्यक प्रयत्न इस बात का किया जाता है कि संसार समझने लग जाए कि हम अधिक सुखी हो रहे हैं। पर वास्तविक दशा क्या है? पढ़े लिखे लोग अपने हाथ से कोई काम करना नहीं चाहते, सभी आफिस मे बैठ कर कुर्सी तोडना चहते है, चाहे वहा का वेतन परिश्रम करके मजदूरी करने से कम ही क्यों न हो। इसी भावना मे पड कर ग्रेजुएट लोग मोटर हाक कर अथवा दुकान खोल कर १००) मासिक पैदा करना पसन्द नही करते, दफ्तर मे क्लर्क बन कर ४०) भले ही ज्यों-त्यों कमा कर खुश रहेगे। इसी का दूसरा नाम है "बाबुपन" जिसके मारे समाज की मिट्टी पलीद हो रही है। सभी पढ़-लिख कर नौकरी ही करना चाहते है और सरकारी नौकरिया कुल मिलाकर मुश्किल से इतनी है कि सैकड़े पीछे एक आदमी को जगह मिल सके! स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी से किसी ने कहा था कि शिक्षित लोगों मे इतनी बेकारी वैसे ही बढ़ रही है, आपके स्नातक गुरुकुल से निकल कर क्या करेंगे? उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे विद्यार्थी क्या सरकारी नौकरी के

लिए थोड़े ही लालायित हैं ? इस दृष्टि से गुरुकुलों ने देश का बडा उपकार किया है; क्योंकि वहा से लौट कर नवयुवक अपने बूते पर कुछ न कुछ करते ही हैं, नौकरी के पीछे तो मारे-मारे नहीं फिरते।

यह हाल तो हमारे शिक्षित युवकों का अभी हो रहा है जब देश मे पढे-लिखों की संख्या ५ प्रति सैकडा से भी कम है, कही जापान अथवा अमेरिका की भाति देश का प्रत्येक स्त्री-पुरुष शिक्षित होता तो न जाने क्या हो जाता ? इस सम्बन्ध मे अमेरिका वालों का काम हमारे लिए अनुकरणीय है। वहां डिग्रीधारी लोग भी खेतों मे अपने हाथों से काम करने मे नहीं शरमाते। और शरमाएँ क्यों ? वहां तो खेती कराने वाले ही लखपति और क्रोडपति है। ठीक इसका उलटा भारतवर्ष मे है, जहा बेचारे किसान जानवरों की तरह गाढ़े पसीने की कमाई करने पर भी भरपेट खाने को नही पाते ! दूसरी बात यह है कि हमारी शिक्षा बिलकुल एकाङ्गी है। देहात के पढ़े-लिखे बेचारे शहरों मे आकर मूर्ख बन जाते है और उधर शहरों के रहने वालों को गेहूँ के पेड पहचानने मे भी कठिनता होती है। देहात तथा शहरों वालों मे परस्पर कोई भी सहानुभूति नही। और हो भी क्यों कर ? इसके साधन भी तो नहीं है।

इङ्गलैण्ड आदि देशों मे ऐसे फण्ड तथा सोसाइटिया स्थापित हैं, जिनका मुख्य काम लन्दन ऐसे बड़े शहरों के बालक-बालिकाओं को देहात का पूरा ज्ञान करा देना है, किन्तु अपने देश के अध्यापक सिवा लडकों को ठोक-पीट कर पाठ याद करा देने के और कुछ जानते ही नही। किया भी क्या जाय ? यहां तो शिक्षा का ध्येय ही घोट-घाट कर परीक्षाएँ पास कर लेना है। एक अङ्गरेज सज्जन ने, जो बहुत दिनों तक भारत के सूबों मे

शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर रहे थे, इस देश की शिक्षा पद्धति पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसमें आपने प्राचीन गुरुओं के आदर्शों का उल्लेख करते हुए आजकल के अध्यापकों की दुर्दशा का वर्णन किया है। उनके कार्यों के विषय में आप कहते है—

"आजकल के अध्यापक नियमों के जाल मे घिरे हुए 'कोड' सामने रख कर पढ़ाते हैं। बेचारों को समय-समय पर रिपोर्ट भेजना, नियमों के अनुसार चलना और ऐसे इम्तहान लेना रहता है, जिनमे सैकड़ा पीछे कुछ संख्या का पास होना बाध्य है। और इन सब पर तुर्रा यह कि अकाल अथवा ताऊन से भी अधिक नियमित रूप से एक इन्सपैक्टर साहब भी आते हैं। ये दस-पाँच मिनट के निरीक्षण से ही तुरन्त जान लेते है कि हां, कोई नियम भङ्ग नही हुआ है और कुछ न कुछ काम की बात ही पढाई गई है।"

शिक्षा-पद्धति की मैशीनरी के इस वास्तविक विवरण के पश्चात् आप ठीक ही कहते है कि—

"इस शिक्षा पद्धति मे थिङ्ग, आरनाल्ड अथवा सैण्डर्सन ऐसे लोगों का होना कल्पना मे भी असम्भव है। इसलिए भारतवर्ष मे शङ्कर, कबीर अथवा टैगोर ऐसे विद्वानों की सृष्टि नहीं हो सकती। ऐसी शिक्षा से दिखावटी लोग ही तैयार किए जाते हैं जो क़ायदे कानून के अतिरिक्त इन्सपैक्टरों की व्यक्तिगत झक तथा सनक से परिचित रहते हैं और जिनके लिए विद्यार्थी बेचारे जीवित प्राणी नहीं, सैकड़ों की गिनती पूरी करने के लिए संख्या मात्र का काम करते करते हैं।"

लेखक ने आधुनिक स्कूलों का कैसा सच्चा चित्र खींचा है। इस प्रणाली के प्रवर्तक लॉर्ड मैकॉले ने भारतवर्ष का जो अनिष्ट किया है वह इस देश पर चढ़ाई करने वाली किसी सेना ने नहीं।

सन् १८५४ के शिक्षा-सम्बन्धी डिस्पैच मे ही उस कूटनीतिज्ञ ने ऐसी प्रणाली के परिणामों की कल्पना कर ली थी। उसने स्पष्ट लिखा था कि हमे अब ऐसे शिक्षित भारतीयों की आवश्यकता है, जो रूप-रंग मे हिन्दुस्तानी पर दिल व दिमाग़ मे पूरे अंगरेज हों। फल इसका यह हुआ कि आज हम लोग न तो हिन्दुस्तानी ही रहे और न पूरे अंगरेज ही बन पाए। जहां हम मे परतन्त्रता-पीड़ित जाति के सभी दुर्गुण आ गए है वहाँ हमने अपने भाग्य-विधाताओं के केवल बाह्य-आडम्बरों की ही नकल करना सीखा है। बात यह है कि गुलामी की बेडी मे जकड़ी हुई जाति का दृष्टिकोण ही बदल जाता है; न तो उसमे अपने देश की परिपाटी का ज्ञान रह जाता है और न अपने धर्म की परवा। यही हाल भारतवर्ष का भी हुआ। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने मे इधर उधर अंगरेजी स्कूल स्थापित होने लगे, तो इनके संचालकों का उद्देश्य लार्ड मैकाले के निर्देश किए हुए मार्ग पर चलना मात्र था। इनमे अधिकाश संस्थाएँ तो पादरियों की देख-रेख मे थीं, जिनका मुख्य ध्येय अपने धर्म का प्रचार करना था। देश मे आज भी कितने ही मिशन-स्कूल हैं, जिनमे बाइबल पढना तथा ईसाई प्रार्थनाओं मे उपस्थित होना सब के लिए आवश्यक रहता है—चाहे वे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, अथवा पारसी, कोई भी हों! धार्मिक कट्टरता का यह अङ्ग अङ्गरेजों और ईसाइयों मे सराहनीय है, पर हमारी हिन्दू संस्थाओं का क्या हाल है? यहाँ तो धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन होता ही नहीं। हाँ, प्रार्थना की रसम भले ही अदा हो जाती है, इसमे भी न कोई पद्धति रहती है और न सब लोग उपस्थित ही रहने की परवा करते हैं। अध्यापक स्वयं उसकी हँसी उड़ाते हैं और विद्यार्थी तो बेगार समझकर उसमे जाते ही नहीं।

धार्मिक-शिक्षा को हम लोगों ने आकर्षक बनाना सीखा ही नहीं है। इसीलिए या तो वह होती ही नहीं या जहाँ होती है, पाण्डित्य-पूर्ण उपदेश का रूप धारण कर लेती है। इस विषय मे हमे पादरियों से बहुत-कुछ सीखना है; क्योंकि उनमें रहन सहन की उदारता तथा धार्मिक कट्टरता का अच्छा समावेश पाया जाता है। ठीक इसका उलटा हमारे समाज का हाल है—हमारे पढ़े-लिखे लोग या तो नितान्त पुराने ढर्रे के कट्टर होते हैं अथवा पूरे निरीश्वरवादी साहब। पहली श्रेणी वालों की एक तो संख्या बहुत कम है, दूसरे दिन-दिन उसकी आवश्यकता भी कम होती जा रही है। बीसवीं शताब्दी के लिए तो ये लोग एक दम अनुपयुक्त सिद्ध हो चुके हैं और इसीलिए अपनी अर्वाचीन शिक्षा से कुछ लाभ उठा नहीं पाते! रही दूसरी श्रेणी वालों की बात, ये लोग हिन्दू-धर्म के उतने ही पक्षपाती तथा अनुयायी कहे जा सकते हैं, जितने किसी और धर्म के। इनके लिए प्राचीन बातें सभी ढोंग होती है और अर्वाचीन सार्वभौमिकता के आवेश मे इतने निमग्न रहते हैं कि सामाजिक बन्धन इनको किसी बात से रोक ही नहीं सकता। खेद तो यह है कि इस प्रकार का जीवन उनका तभी से बन जाता है, जब वे ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी रहते हैं। फल यह होता है कि प्रथम श्रेणी वाले लोग तो घोटू और मनहूस हो जाते हैं; जिन्हे सामाजिक धन्धों से कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता। और इसके प्रतिकूल दूसरी कोटि के लोग नितान्त सामाजिक प्राणी बन जाते हैं। उनके लिए विद्योपार्जन अथवा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना इतना आवश्यक नहीं जितना भले आदमियों मे उठना बैठना, समाज की दृष्टि मे सभ्य हो जाना, अथवा सिनेमा थिएटर जाना। उन्हे तो ज्यों-त्यों करके डिग्री मिल जानी चाहिए,

क्योंकि उनकी आखों मे डिग्री ही का अधिक गौरव है, वही सभ्यता अथवा ज्ञान की सर्व-स्वीकृत मोहर है। उनके लिए तो—और उनके लिए ही क्यों, आजकल सभी विद्यार्थियों के लिए - गृहस्थ-जीवन और विद्यार्थी-जीवन मे कुछ भेद ही नहीं रहता। खाने-पीने, रहन-सहन तथा शौक और फैशन मे आजकल के विद्यार्थी उतने ही स्वतन्त्र है जितने और लोग। हम यह नहीं कहते कि जैसा मनु ने लिखा है, आजकल के विद्यार्थी हजामत न बनवाएँ, जूता अथवा माला आदि न पहने, अथवा तेल-फुलेल न लगावे—क्योंकि बड़े-बडे नगरों मे रहकर इन दिनों यह सम्भव ही नहीं है—पर हाँ, यह अनुचित सीमा है कि दिन भर मे कई सूट बदले जाएँ, रोज घण्टा-भर हजामत मे गुजरे और नित्य सिनेमा मे पैसे खराब किए जाएं। मै तो कितने ही कालेजों के छात्रों को जानता हूँ जो महीने मे बीस पच्चीस रुपये थिएटर के पीछे खर्च करते है और काले से गोरे हो जाने के लिए रोज बहुत सा समय मल-मल कर साबुन लगाने और आइना देखने ही मे नष्ट करते हैं। इन बेचारों की समझ में यह नहीं आता कि सच्चा सौन्दर्य हृष्ट-पुष्ट शरीर और सरलजीवन में है, महीने मे दस-बारह रुपये स्नो-क्रीम, पॉमेड, हेजलीन आदि मे खर्च करने से ही यह बाजार में मोल नहीं मिल जाता। पैदल चलना इनके लिए शान के खिलाफ है, चाहे साइकल पर दौड़ते-दौड़ते रोगी भले ही हो जायं। शान ही नहीं, इनमें स्त्री-सुलभ लज्जा की भी बहुत मात्रा आ जाती है और शायद ही किसी को आप धूप मे नंगे बदन बैठे देख सकें। बन्द कमरों में नहाना और जहाँ तक हो सके शरीर का प्रत्येक अंग कपड़ों से ढके रखना—ये शिक्षितों के शरीर-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों में से है। इन्हें शायद यह नहीं मालूम कि कलकत्ता विश्वविद्यालय

के कमीशन मे सर माइकेल सैंडलर जब सर आशुतोष मुकर्जी के यहाँ परामर्श करने आया करते, तो मुकर्जी महोदय कभी-कभी यों ही धूप में नङ्गे बदन चौकी पर बैठे-बैठे नौकरों से कड़वा तेल मलवाया करते थे। उधर सर माइकेल कुर्सी पर बैठते और दूसरी ओर सर आशुतोष बैठे घण्टों तेल मुखाते रहते—इसी प्रकार दोनों विद्वानों मे वाद-विवाद चलता रहता।

इतना ही नही, हमारे नवयुवकों मे अपनी मातृभाषा, अपने देश और अपने पूर्वजों के प्रति घृणा सी उत्पन्न हो जाती है। हम यह नहीं कहते कि हम लकीर के फ़कीर बने रहें अथवा "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं, जलं कापुरुषाः पिबन्ति" वाला उदाहरण अनुकरण करें, पर क्या यह लज्जा की बात नही है कि शिक्षितों को हिन्दी बोलने अथवा हिन्दुस्तानी तिथियों और महीनों के याद रखने मे शरम लगती है। अधिकतः ये लोग पिता को 'फादर' माता को मदर' बहिन को 'सिस्टर' और स्त्री को 'वाइफ' ही कहेंगे, चाहे बातचीत हिन्दी मे ही करते हों। ये सब शब्द "प्राईवेट" समझे जाते हैं और सभी प्राइवेट बातों को अंगरेजी में कहना भी इनकी शान में शामिल है। शान के इसी भाव के कारण पढ़े-लिखों मे पाखण्ड भी आ जाता है, उदाहरण के लिए विद्यार्थियों को यह दिखाने मे आनन्द आता है कि वे कभी पढ़ते नही, यों ही प्रतिभा के बल पास हो जाते है, अथवा लोग उन्हें जितना धनी समझते हैं उससे वे कहीं अधिक मालदार हैं। जहां पहले विद्यार्थियों की शान परिश्रम से पढ़ने और सीधे-सादे रहने मे थी, वहां अब कम पढ़ने और अलबेला बन कर घूमने फिरने मे है। इसका मुख्य कारण बड़े-बड़े नगरों मे रह कर पाश्चात्य सभ्यता तथा विलासिता-पूर्ण समाज के बड़े-बड़े प्रलोभनों की चकाचौंध मे पड़ जाना होता है। इसीलिए तो प्राचीनकाल के

गुरुकुल शहरों से दूर प्रकृति की स्वतन्त्र क्रीड़ास्थली मे रक्खे जाते थे, जहां विकाशमान मानव-हृदय को इन प्रलोभनों मे फँसने का अवसर ही नही मिलता था। काशी-विश्व-विद्यालय की स्थापना शहर से दूर अवश्य हुई है, पर वहां भी छात्रों को महलों में रहने का सवसर दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि वे अपने गावों मे लौट कर वहां के जीवन से असन्तोष तथा घृणा प्रकट करने लगते हैं।

दूसरा भीषण रोग, जो हमारे शिक्षित नवयुवकों मे प्रचण्ड रूप से बढ़ रहा है, कुत्सित तथा अस्वाभाविक प्रेम है, जिसका विवरण देना भी लज्जाजनक है। जितनी ही जल्दी समाज इन भयावह एवं संक्रामक रोगों से परिचित हो जाय उतना ही कल्याण होगा। इस जघन्य लहर के बढ़ने के दो मुख्य कारण है। एक तो धार्मिक शिक्षा का अभाव और दूसरा सामाजिक नियन्त्रण की उदासीनता। इस रोग की निवृत्ति तब तक न होगी जब तक स्कूलों और कालेजों के छात्रों के जीवन मे सरलता और दृढ़ता का प्रचार न किया जाय। यदि ऐसा न हो सके तो ऐसी शिक्षा से तो अशिक्षित रहना ही अच्छा है। हमारा विचार है कि शिक्षितों की नजाकत और उनके नाज-नखरे बहुत कुछ कम हो जायं, यदि सैनिक-शिक्षा सब के लिये बाध्य कर दी जाय। इससे शिक्षितों मे रुखाई और सिपाहीपन आजायगा।

सभी मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक दुर्बलताओं के कारण ही तो हमारे नवयुवक आगे चलकर जीवन मे कुछ कर नही सकते। वे संसार मे मारे मारे फिरते हैं और उन्हे कोई काम नहीं मिलता। बहुत से तो काम करने के योग्य होते भी नही। उधर नौकरियों के स्थान तथा वकालत आदि पेशे ठसाठस भरे पड़े हैं।

शिक्षितों की यह दशा बहुत दयनीय है और इसकी दो ही औषधियां है । एक तो यह कि उच्च शिक्षा के लिए केवल उन्ही लोगों को भरती किया जाय जो इतने प्रतिभावान् हों कि देश तथा समाज की सेवा कर सके और दूसरी यह कि कृषि, इञ्जीनियरी आदि पेशेवाली शिक्षा का अधिक प्रचार हो । कुछ समय हुआ पञ्जाब गवर्नमेण्ट ने पढ़े लिखों की वेकारी की समस्या सुलझाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी। उस कमेटी ने तो यह प्रस्ताव किया था कि उच्च शिक्षा इतनी असाध्य बना दी जाय कि साधारण लोग उसमे जा ही न सके, पर इस तरह तो केवल धनाढ्य ही उससे लाभ उठा सकेंगे । होना यह चाहिये कि जो युवक आगे चलकर अपने विचार, वल तथा मस्तिष्क से कुछ मौलिक कार्य कर सके, वे तो ऊँची डिग्रियाँ भले ही प्राप्त करे, पर जन-साधारण मे जीवनोपयोगी शिक्षा की मात्रा अधिक करने का प्रयत्न हो। आजकल हमारा ध्येय यह हो गया है कि सभी ग्रेजुएट हो जायॅ और जीवन का अधिक भाग डिग्रियों के पीछे ही बिता दे। इसमे समय भी अधिक लगता है और काम भी थोड़ा होता है, तत्वज्ञान नही हो पाता; जिसका एक कारण यह भी है कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती । जापान मे ऊँचे-ऊँचे कर्मचारियों के लिये ही थोडी-बहुत काम-चलाऊ अंगरेजी जानना आवश्यक होता है, पर अधिकतः वहाँ का काम मातृभाषा मे ही होता है। वहा सन् १८६९ मे शिक्षा अनिवार्य की गई थी और आज प्रत्येक जापानी स्त्री-पुरुष शिक्षित है ।

सच्ची राष्ट्रीय-शिक्षा का आदर्श भी यही है कि देश का प्रत्येक साधारण मनुष्य आधुनिक जीवन-निर्वाह के काम की सभी बाते जाने । हमारे देश और यूरोप-अमेरिका में विशेष

अन्तर यही है कि एक ओर तो हमारे सर्वश्रेष्ठ ग्रेजुएट वहां के डिग्रीधारियों के तुल्य है, परन्तु दूसरी ओर एक साधारण भारतीय वहां के मामूली नागरिक के बराबर क्या, उसका आधा भी नहीं जानता। इसीलिए हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता यह है कि देश का प्रत्येक लडका-लडकी अपनी भाषा जान कर कुछ न कुछ अपने बल-बूते पर करना सीख जाय। माननीय गोखले ने १९११ ई० मे अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा बिल बड़ी व्यवस्थापिका सभा मे पेश किया था, पर सरकार ने उसे पास नही होने दिया। देश को आजकल बड़े बड़े कालिजों और विश्वविद्यालयों की आवश्यकता नही, बल्कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पढ़े-लिखे होने की आवश्यकता है, जिससे राष्ट्र और समाज की सामूहिक उपयोगिता अधिक हो। इंगलैण्ड आदि पाश्चात्य देशों मे छोटे-छोटे बच्चों के स्कूलों पर जितना ध्यान दिया जाता है और व्यय किया जाता हैं, उतना तो भारतवर्ष की सारी शिक्षा पर भी नही होता। इधर कुछ म्यूनिसिपैलिटियों मे अनिवार्य शिक्षा का क्रम आरम्भ हुआ है, पर इतने बड़े देश मे एकाध शहरों मे ऐसा करने से होता क्या है ?

स्त्री शिक्षा मे भी वही दुर्गुण है, बल्कि लड़कों की शिक्षा की अपेक्षा लड़कियों की शिक्षा की और भी दुर्दशा है। इस सम्बन्ध मे सब से अच्छी दशा ब्रह्मा प्रांत की है, जहां बुद्ध-धर्मानुसार स्त्रियों का भी पढ़ना लिखना आवश्यक है। एक तो ऐसे विद्यालयों की संख्या ही इनी-गिनी है, जहा लड़कियां आदर्श-शिक्षा क्या टूटी-फूटी प्रकार की भी शिक्षा प्राप्त कर सके। दूसरे यदि संस्थाएं हैं भी तो योग्य अध्यापिकाएं नहीं मिलतीं। एक बात और है जिसके कारण स्त्री-शिक्षा में बड़ी बाधा उपस्थित होती है। जो स्त्रियां पढ़-लिख गई हैं उनमे से अधिकांश ने समाज के सम्मुख

अपनी उपयोगिता से शिक्षा का अच्छा आदर्श उपस्थित नहीं किया है। इसीलिए लोग समझने लग गए हैं कि स्त्रियों की शिक्षा मे व्यर्थ रुपये फेंक कर उन्हें हर प्रकार अनपढ़ स्त्रियों से भी निकम्मी बना देना है। बहुत हद तक इस विचार मे कुछ सचाई भी है। आजकल की शिक्षा से एक तो स्त्रियां पुरुषों की भाँति ही नाजुक-मिजाज और शौकीन हो जाती हैं, जिससे वे गृहस्थी का भार उठाने मे असमर्थ होती है, दूसरे उनका रहन-सहन स्वभावतः इतना खर्चीला हो जाता है कि जब तक उन्हे कोई नौकरी न मिल जाय, साधारण रूप से उनका जीवन दु:खमय हो जाता है। बहुधा यह भी देखा गया है कि शिक्षा के गर्व से वे अनपढ़ स्त्रियों मे मिलती जुलती भी नही और वडी बूढियों की बात भी नहीं सुनती। इन्ही सब कारणों से हमारे देश मे स्त्री- शिक्षा के प्रचार की गति धीमी है, और जब तक शिक्षा सामाजिक स्त्रियों के लिये हौवा बनी रहेगी तब तक पढ़ी लिखी स्त्रियों में ये गुण मिलते रहेगे और ज्यों ज्यों इसका प्रचार होगा त्यों त्यों शिक्षा का गर्व भी मिटता जायगा और स्त्रियों मे सेवा तथा आज्ञाकारिता का पुराना भाव विकसित हो उठेगा। पर इसमे सन्देह नही कि जिस प्रकार की शिक्षा इन दिनों लड़कियों को दी जानी है, उससे तो देश का उपकार नहीं हो रहा है। उससे प्रायः वे यूरोप की नकल करना सीख जाती हैं ? और अपने शृङ्गार तथा सौन्दर्य मे ही वहुत सा समय तथा ध्यान लगाती हैं। भला जिन कन्याओं का आदर्श कला तथा विज्ञान सीखकर गार्हस्थ्य-जीवन एवं समाज को सुखमय वनाने के स्थान में अपने को परियां बनाकर घर-भर पर रोब जमाना ही हो और आदर्श-माता के जीवन को दुःख तथा झंझट का जीवन समझ कर आजीवन कुमारी ही रहना हो, उनकी इस शिक्षा से तो देश

को कोई लाभ होने की आशा नहीं।

विशेषतः पढ़ने लिखने का अर्थ आजकल यह समझा जाता है कि अपना कोई काम हाथ से न करें, किताबों का कीड़ा बनी रहे, अच्छा खाएं और अच्छा पहने। पुरानी स्त्रियों की बात को न सुनना और सुन्दरता के फेर मे पड कर दुबली-पतली रहना भी शिक्षा का एक अंग सा हो गया है। पीछे ऐसे विचारों से बहुत हानि उठानी पड़ती है और गार्हस्थ्य-जीवन दुःखमय बन जाता है। इसका यही इलाज है कि शारीरिक संगठन के ऊपर स्त्री-शिक्षा के विधायकों का विशेष ध्यान होना चाहिये। बाहर की अपेक्षा घर की उन्नति पर स्त्रियों का विशेष ध्यान ही वास्तविक शिक्षा का उद्देश्य है। श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कहा है कि—

"घर की देख-रेख ही स्त्री के लिए स्वाभाविक तथा सर्व-प्रधान क्षेत्र है और उसी के लिए उपयोगी बनाना स्त्री-शिक्षा का ध्येय होना चाहिये।"

एक अंगरेजी कवि लिखता है कि—

"गार्हस्थ्य-कल्याण से सुन्दर और दूसरा विषय स्त्री के अध्ययन के लिये हो ही नहीं सकता।"

यह ठीक है कि आजकल वे मैजिस्ट्रेट, वकील तथा कौंसिलों की सदस्या भी हो रही है, पर उनका मुख्य कार्य गृहस्थी की रक्षा करना और उसे सुचारु रूप से चलाना ही है। क्योंकि थोड़ी देर के लिए कल्पना कर ली जाय कि यदि समाज की दशा ऐसी हो जाय कि सभी बराबर धनी रहे और कोई किसी को अपना नौकर रखना न चाहे तो प्रत्येक पुरुष को कमाना और प्रत्येक स्त्री को घर का काम-काज संभालना पड़ेगा। इसी आदर्श अवस्था के लिये तैयार रखना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। प्रसिद्ध विद्वान रस्किन ने अपने एक ग्रन्थ मे स्त्री

शिक्षा की अच्छी विवेचना की है कि और इस एक वाक्य में ही उनका सारा तात्पर्य भरा है—"स्त्रियों को कोष बना देना शिक्षा का उद्देश्य नहीं है।" उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि स्त्री के जीवन का लक्ष्य ज्ञान अथवा कर्म नहीं; भावना, सहायता तथा प्रोत्साहन है। उसके लिए विज्ञान-वेत्ता अथवा राजनीतिज्ञ होना उतना आवश्यक नहीं, जितना थके मान्दे अपरिचित राहियों की भूख प्यास जानने और मिटाने के लिए सहानुभूति रखना।

महाकवि वर्डस्वर्थ ने अपनी कल्पित आदर्श बालिका लूसी की शिक्षा का यह स्वप्न देखा था, जिसमे प्रकृति की इस प्रकार सहायता ली गई थी।

"उड़ते हुए बादलों से उसे कान्ति मिलेगी, सभी उसके सम्मुख सिर झुका देंगे और मूक सहानुभूति द्वारा आँधी की चाल से भी उसे वह सौन्दर्य प्राप्त होगा जिसमे उसका अङ्ग-अङ्ग सुसङ्गठित हो जायगा।" इन शब्दों मे स्वतन्त्रता की गूँज है, कोमलता तथा सहृदयता है और प्रकृति की शक्ति तथा सहायता की ज्योति है। इसीलिए हमारे यहाँ स्त्री को प्रकृति-रूपिणी माना गया है, इसी से शक्ति तथा दुर्गा होते हुए भी सरस्वती तथा लक्ष्मी भी हैं और इसी से उसमे सीता के धैर्य, राधा की चञ्चलता, गङ्गा के गौरव एवं पार्वती की पुण्य तपस्या का आरोपण भी किया जाता है।

ऐसे आदर्शों की पूर्ति के लिए प्राचीन तथा अर्वाचीन एवं पूर्वीय तथा पश्चिमीय सभ्यता के निष्कर्ष का ही अनुगमन कल्याणकारी होगा। जो कुछ हमारे देश, धर्म, साहित्य तथा सभ्यता मे सर्व-श्रेष्ठ है, उसे अपने युवकों और युवतियों के सम्मुख नवीन रूप मे रखना होगा। जब तक युवकों के सम्मुख युधिष्ठिर भीम राम तथा कृष्ण के आदर्श न रहेंगे और जब तक

देश की कन्याएं सीता, सावित्री, पार्वती तथा कुन्ती आदि पञ्च कन्याओं के पवित्र उदाहरणों से उत्साहित एवं उल्लसित न होंगी तब तक न उनमें शारीरिक शक्तिआएगी, न चरित्र बल बढ़ेगा और न उनके मानसिक विचारों की ही उन्नति हो सकेगी; और सब से बड़ी बात तो यह है कि जब तक इन सभी बातों के सुचारु समावेश के अतिरिक्त प्रत्येक घर एक छोटी-मोटी पाठशाला न बन जाए और प्रत्येक माता अपनी सन्तान के लिए आदर्श गुरु न हो जाय तब तक हम लोगों मे न तो किसी प्रकार की स्फूर्ति आएगी और न आधुनिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने की सच्ची शक्ति।

—रामाज्ञा द्विवेदी

(११)

इतिहास की उपादेयता

आजकल अनन्त की ओर दौड़ने वाले कुछ कवि और कोरी कल्पना के संसार में—ख्याली दुनियां मे—आँखे मीचकर विचरने वाले सुकुमारमति उपन्यास-प्रेमी पाठक इतिहास को नीरस और निकम्मा समझकर दूर भागते हैं। 'लाइट लिटरेचर'—हलका साहित्य—पढ़कर उनकी बुद्धि इतनी 'हलकी'—दुर्बल, और रुचि कुछ ऐसी भ्रष्ट हो जाती हैं कि वह किसी भी विषय को ग्रहण करना नहीं चाहती। हिन्दी मे किस्से कहानियों की किताबें इतनी बढ़ती जा रही है कि अच्छी—उपादेय पुस्तकों के लिए उन्होंने स्थान ही नहीं छोड़ा। पहले समय मे वैदिक विद्वान् भी इतिहास का आश्रय लेते थे—वेदों की रक्षा और प्रचार के लिये इतिहास का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था—"इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थ-मुपबृंहयेत्"। आज 'लौकिक' लोग भी उससे पराङ्मुख हो रहे हैं। वर्तमान समय का कूप-मण्डूक पण्डित-समाज तो इतिहास को हौव्वा समझता ही है, पर हमारा नवीन शिक्षित बाबू सम्प्रदाय भी अपने प्राचीन इतिहास से प्रायः वैसा ही कोरा है, जैसे पुराने पण्डित। अब तक हम लोग अपने पूर्वजों के इतिहास को गौरांग महाप्रभुओं की दी हुई रंगीन ऐनक से ही देखते थे। यूरोप के विद्वानों ने भारत के सम्बन्ध मे जो कुछ बुरा-भला लिख रखा है, वही हमारे लिए वेद-वाक्य था। प्राचीन भारत का जो चित्र शासक-जाति के चतुर चितेरों ने खीचा है, वह कुछ ऐसा विचित्र है कि देखकर लज्जा आती है, डर लगता है, सारे

हौसले पस्त हो जाते हैं। मालूम होने लगता है, मानो भारत से और स्वतन्त्रता से कभी कुछ सम्बन्ध ही न था। परदेशी शासकों की कृपा से ही यहां सभ्यता और स्वतन्त्रता के प्रकाश की कुछ किरणें पहुँची हैं और पहुँचती रही है, नहीं तो पहले दुःख, दारिद्र्य और अविद्या के अन्धकार का ही सर्वत्र साम्राज्य था! महाकवि अकबर ने स्याने शासकों की इसी चतुराई और चालाकी की ओर क्या मार्के का इशारा किया है—

"निहायत काबलीयत से मुझे साबित किया मुर्दा,
मुनासिब दाद देना है मुझे या रब कि रोना है।
नदा* आई मुनासिब है कि जीना अपना साबित कर,
खुशामद या शिकायत दोनों ही मे वक्त खोना है।"

विदेशी और विद्वेषी विद्वानों के 'काबलियत' से लिखे हुए इतिहासों को पढ़-पढ़कर सचमुच हिन्दू अपने को मुर्दा समझने लगे थे। ईश्वर का धन्यवाद है कि भारतमाता के सच्चे सपूत राय बहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द जी ओझा और जायसवाल जी आदि आप्त पुरुषों ने इस मिथ्याभ्रम को दूर करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया है—ये इतिहास की गहरी गवेषणा से सिद्धकर रहे हैं कि आर्य जाति मुर्दा नहीं, ज़िन्दा है, जिन्दा थी, और ज़िन्दा रहेगी।

सच्चे इतिहास का अध्ययन उन्नत और अवनत दोनों दशाओं मे समान रूप से शिक्षाप्रद और लाभकारी है। अवनत जाति को अपने प्रकाशमय अतीत का स्मरण कराकर—उन्नति के साधनों को सुझाकर उद्योग के लिए उत्साह-प्रदान करता है, और उन्नत जातियों को संभलकर चलने की राह दिखाता है—उसे उस रास्ते पर चलने से बचाता है, जिस पर चलकर अनेक मदान्ध जातियों

* नदा=आवाज

का नाम निशान तक मिट गया। इतिहास के बिना संसार असंख्य आंखें होते भी अन्धा ही है। 'राजतरंगिणी'-कार काश्मीर के महाकवि जल्हण' ने सत्कवि के कृत्य—(इतिहास)—की प्रशंसा में क्या अच्छा कहा है—

"येप्यासन्निभ-कुम्भशायित-पदा येऽपि श्रियं लेभिरे,
येषामप्यवसन् पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिकाः।
ताँल्लोकोयमवैति लोक-तिलकान् स्वप्नेप्यजातानिव,
भ्रातः सत्कविकृत्य ! किं स्तुतिशतैरन्धं जगत्त्वांविना॥"

अर्थात्—जिनके द्वारपर हाथियों के झुण्ड झूमते थे, जो मस्त हाथियों के मस्तक पर पैर रखकर स्वच्छन्द विचरते थे, जिन्होंने बाहु-बल से राज्य-लक्ष्मी को वश मे करके 'गृहदासी' बनाया था, जिनके महलों मे गृह-लक्ष्मिया अपने 'आसेचनक' अलौकिक आलोक से दिन मे भी चांदनी छिटकाए रहती थी, उन सौभाग्यशाली, लोकतिलक, परम-पराक्रमी, स्मरणीय महापुरुषों को भी यह कृतघ्न और विस्मरणशील संसार स्वप्न के समान भूल जाता है—भूलकर भी कभी याद नही करता कि वे भी, कभी, कहीं, कोई थे ! जिसके न होने से यह सब हो; जाता है ! भई, सत्कवि-कृत्य-इतिहास ! तुम धन्य हो तुम्हारी तारीफ कहां तक करे, सचमुच यह संसार तुम्हारे बिना निपट अन्धा है ! तुम्हीं सच्चे लोक-साक्षी 'जगच्चक्षु' हो। अतीत का स्मरण कराने वाले—भूतको वर्तमान के रूप मे प्रत्यक्ष दिखाने वाले एक तुम्हीं हो !

अवनति के गहरे गर्त्त मे गिरी हुई जाति को उठाने के लिए इतिहास ही प्रधान साधन है। इतीहास की महिमा अद्भुत है। इतिहास जराजीर्ण जाति के लिए संजीवन रसायन है, मोहान्ध-समाज की आंखे खोलने वाला सिद्धांजन है। आर्यजाति को अवनत करने वाले अन्य कारणों में से इतिहास का अभाव भी

एक कारण रहा है। अपने जातीय इतिहास को भूलकर कोई देश और समाज जीवित नहीं रह सकता-सभ्य नही कहला सकता!

"क़ौम की तारीख से जो बेखबर हो जायगा,
रफ्ता-रफ्ता आदमीयत खोके ख़र हो जायगा।"—

'ख़रता' से बचने और 'मनुष्यता' सम्पादन करने के लिए इतिहास का अध्ययन अनिवार्य है—नितान्त आवश्यक है। उत्तम इतिहास की जहाँ इतनी महिमा है, वहा बुरे इतिहासका परिणाम भी बड़ा भयंकर है। नीच वृत्तिके पक्षपाती इतिहास-लेखक कभी-कभी वैर-विरोध के विप का ऐसा बीज बो जाते है, जिसका फल केवल उन्हे ही नही, जिनके साथ यह अन्याय किया गया है, स्वयं उन मानव-कुल-कलंक इतिहास-लेखकोंके परवर्ती वंशजोंको भी पीछे सदियों तक भोगना पडता है। मतान्धताकी आधी मे पडकर बडे-बड़े बहक जाते है—तास्सुब और हठधर्मी की शह पाकर 'फरिश्ते' भी शैतान के कान काटने लगते हैं। हिन्दू मुसलमानों के वर्तमान वैर-विरोध मे इतिहासों के पुराने पक्षपात-पूरित पोथे भी प्रधान कारण है। उन्हे पढ़कर हमारे मुसलमान भाई आज भी वही पुराना स्वप्न देखते है—'महमूद ग़ज़नवी' बनकर काफिर हिन्दुओंको 'जहन्नुम रसीद' करना चाहते है। इधर हिन्दू भी विधर्मी म्लेच्छोंके उन अत्याचारोंको याद करके कुढते हैं। परम्परकी इस दूषित मनोवृत्ति को बदलनेके लिए सच्चे इतिहासकी कितनी आवश्यकता है, यह किसी भी विचारशील देश-हितैषीसे छिपा नही है। इतिहासके अध्ययनसे बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ अनायास दूर हो जाती हैं। आजकल बौद्धधर्म और बौद्ध धर्मी शासकोंकी श्रेष्ठताके गीत गानेका एक फैशन-सा हो गया है, जिसे हमारे बहुतसे वक्ता और लेखक बार-बार दोहराते रहते हैं। बौद्धधर्म

के ह्रासका कारण उन्हे हिन्दू-धर्मियों का अत्याचार और बौद्ध-मत-विद्वेष ही प्रतीत होता है। वे समझते हैं कि श्री शंकराचार्य ने और उनके अनेक अनुयायी लोगोंने ही बौद्धमतको भारतसे निर्वासित किया है। इसके लिए न जाने कितनी कल्पित कथाएँ गढ़ रखी हैं। कोई कहता है—'लाखों बौद्धोंको जहाज़ोंमें भर-भरकर डुबो दिया गया।' कोई कहता है—'हाथ-पाव बांध-बांध कर आगमे झोंक दिया।' इस प्रकार हत्यारे हिन्दुओंने बौद्धों का और बौद्धमतका विनाश कर दिया। जो बौद्ध जान लेकर भारतसे बाहर भाग गए वे बच गए, जो यहाँ घिर गए, वे मर-खप गए। मानो यह बौद्धमतके विनाश का सच्चा और संक्षिप्त इतिहास है, जिसका प्रचार बड़े जोरसे आज सर्वत्र किया जा रहा है, जिसे पढ़-सुनकर बौद्धों पर दया और हिन्दुओं से घृणा उत्पन्न होती है; पर एक ऐतिहासिक दर्शक जब इतिहासकी दूर-बीनसे देखता है, तो उसे कुछ और ही दृश्य दिखाई देता है। वह घबराकर पुकार उठता है, अरे यह क्या ?—

'मै इलजाम 'उनको' देता था क़सूर 'इनका' निकल आया।"

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय के 'करुणा' और 'शशांक' ऐतिहासिक उपन्यास, इस घटना में प्रमाण है। मतलब यह कि सच्चे इतिहासका जितना प्रचार होगा, उतनी भ्रान्त धारणाएँ दूर होंगी, लोगों की आँखें खुलेंगी, अन्धकार हटेगा, प्रकाश फैलेगा।

मध्यकाल के यथार्थ इतिहास से अतीत भारत का वह सुहावना दृश्य आँखों के सामने आ जाता है, जिसे ध्यान में लाने पर आजकलकी शिक्षा- दीक्षा में पला हुआ, वर्तमान उन्नति और सामयिक सभ्यता को ही सुखका सर्वोत्कृष्ट साधन समझने वाला, वैदेशिक इतिहासकारों के मायाजाल में पड़कर अपने स्वरूप को

भूला हुआ—प्राचीन भारतको अवनत और असभ्य, सब प्रकारकी उन्नतिसे रहित समझने वाला, नई रोशनी का परवाना पाठक भी—(यदि उसमे ज़रा भी सहृदयता और समझ बूझ बाकी रह गई है)—वर्तमान समय की सभ्यता-पिशाची के सर्व-संहारी उन्नति-चक्र से चिल्लाकर—पुकार कर कह उठता है—

'लौट पीछे की तरफ़, ऐ गर्दिशे, अय्याम ! तू"।

वह वर्तमान सभ्यता की छत्र-छाया छोड कर उन्नति के इस आकाशके नीचेसे निकल भागना चाहता है, पर लाचारी से यह कह कर, मन मारकर-रह जाता है—

"फलकके नीचेसे हम तो कभी के,
निकल जाते मगर रस्ता न पाया" !

बाज आये, इस वर्तमान-कालीन उन्नति और सभ्यता से, इससे तो वह मध्यकालीन 'अवनति' और 'असभ्यता' ही कहीं अच्छी थी !

रेल, तार, मोटर और हवाई जहाज़, उस समय बेशक न थे, पर भारत सब प्रकार से सुखी था, चैन की वंशी बजाता था ! ऐसा दुःखी और पराधीन तो कभी, किसी समय मे भी न था ! इस सभ्यता और उन्नति को लेकर क्या करें, जिसमे भरपेट भोजन और तन ढकने को कपडा भी नहीं मिलता ! प्राचीन 'असभ्य' संसार के 'वहशी-लुटेरों' से वर्तमान 'सभ्य' संसार के 'सुशासक' कितने 'परदुःखकातर' और 'दयालु' हैं ! इस बात को सामान्यतः सारे संसार का विशेषतः भारतवर्ष का इतिहास बड़े ही करुण स्वर मे पुकार-पुकार कह रहा है। *

—पद्मसिंह शर्मा

---

* शर्मा जी के 'हिन्दुस्तानी एकाडेमी की दो पुस्तकें' नामक एक समालोचनात्मक विस्तृत लेख का थोड़ा सा अंश।

(१२)

विकासवाद या ह्रासवाद

सभ्य संसार के इतिहास में वैदिक- सभ्यता बड़ी पुरानी है। वैदिक साहित्य सब से पुराना साहित्य है। जिस समय यहां पर वेद के ज्योतिस्स्तम्भ से प्रकाश की रश्मियां निकल कर सिन्धु और सरस्वती के विमल जल-तल के ऊपर चिलबिल चिलबिल करती थीं, और उनके तीर पर बसने वाले लोग जल के साथ ही साथ ज्ञानामृत का भी पान करते थे, उस समय अभी शेष संसार के ऊपर प्रलय-काल के गाढ़ अन्धकार का ही अकण्टक साम्राज्य छा रहा था।

यह ठीक है। वेद ज्ञान का प्रथम उद्गार है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आजकल के सुशिक्षित, विज्ञानी, कला-कौशल में निपुण सर्वांग-पूर्ण लोगों के लिए वेद मे सब विद्याएं मौजूद हों। वे किस लाभ को लक्ष्य बनाकर वेदाध्ययन के लिये इतना कष्ट सहे और आपत्तियों का सामना करें? आज मनुष्य निर्जीव जगत् का शासक बन रहा है। एक एंजन की पीठ पर बैठ कर, दूसरे एंजन का धुवां मुख और नासिका के छिद्रों मे से फप फप निकालता हुआ मनुष्य किस उद्देश्य से अपना मुंह पीछे की ओर मोड़े, अपने पूर्वजों के गो-यानों, अश्व-यानों के वर्णन में; नदियों, और पर्वतों के स्तोत्रों मे; भेड़ बकरियों के माहात्म्य के गीतों मे आज हम अपने लिये क्या ढूंढ सकते हैं? यदि कोई अच्छी-बात निकली भी, तो भी यह

वैसे ही व्यर्थ परिश्रम होगा जैसे सारा दिन पहाड खोद खोद कर अन्त मे चूहा हाथ लगे और मनुष्य यह कह कर सन्तोष धारण कर ले कि अच्छा, लाज तो रह गयी ?

नही, यह बात नही । वास्तव मे मनुष्य-समाज की उन्नति मोटरों की दौड़ से या बिजली की चमक और भिन्न भिन्न प्रकार के फोनों के आश्चर्य-जनक चमत्कारों से मापना कठिन है। मनुष्य सदा से अपनीअपनी प्रकृति के अनुसार प्रकृति का भोग करते आये हैं । ज्यों ज्यों अधिक बहिर्मुख होकर, वे अपनी तृष्णा को विशाल करते है, प्रकृति-देवी भी अधिकाधिक हाव भाव के जटिल जाल का विस्तार करती हुई, एक ओर से तो उन्हे खींचे चली जाती है, और, दूसरी ओर से, ज्योंही वे आगे बढ़ते हैं वह भी आगे आगे दौडी चली जाती है। सैकडों नये नये मार्गों पर सहस्रों नये नये दृश्यों को देख कर मनुष्य चकित हो जाते हैं। अन्त मे कोई किसी मे और कोई किसी मे रह जाता है।

प्रत्येक युग मे धन से प्रेम करने वाले और विद्या से उदासीन, विद्या से प्यार करने वाले और सम्पत्ति से विमुख तथा धन और विद्या दोनों की ओर झुके हुए लोग रहा ही करते है। एक समय मे एक समुदाय बलवान बन जाता है और दूसरे समय मे दूसरे प्रकार के लोगों की बारी आती है। इस बात को ध्यान मे रख कर जब हम इतिहास के पन्ने उलटते है, तो सर्वत्र समय समय पर भिन्न भिन्न तरंगे उमडती हुई देख पड़ती हैं। इनके बहाव मे ही संसार बहा करता है । दूसरे शब्दों मे इसी बात को यों कह सकते है कि जन-समुदाय के सम्मुख आदर्श बदल बदल कर रक्खे जाते रहते है ।

संसार की रचना के अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी

परिवर्तन-प्रिय है। एक आदर्श के पीछे दूसरे का पर्याय आता है। यही कारण है कि संसार-चक्र मे भिन्न भिन्न चक्र चल कर प्रत्येक विचार को जनता के सामने आने के लिये एक से अधिक बार अवसर मिलता है। इन भिन्न भिन्न विचारों के साथ सारी परिस्थितियां भी नये सिरे से प्रकट होती हैं। यदि विशेष बाधाएं उपस्थित न हों, तो पूर्ण-विश्वास से कहा जाता है कि उसी प्रकार की घटनाएं भी होती रहती हैं। इसी नियम को विद्वान लोग इतिहास के पुनरावर्त्तन के नाम से स्मरण करते हैं।

आजकल विकासवाद का सिद्धान्त विजयी हो रहा है। कोई भी शास्त्र क्यों न हो, इसी के रंग मे रंगा हुआ विद्वानों के मुखारविन्द से निकलता और सुनने वालों के कानों में पडता है। सब विद्याएं और सब कलाएं इसी का गुण-गान कर रही हैं। सब दर्शन और सब विज्ञान इसी के पाव की ओर माथा झुकाये हुए नीची आंखों ताकते हैं। सब मत और सब सम्प्रदाय, गणों के गण, इसी के चारों ओर घेरा डाले पड़े हैं। प्रत्येक जीवन-वर मांग रहा है। सिर रगड़ रगड कर और इसी की पाद-रज मस्तक पर रमा रमा कर, इस देवों के देव के आदेश की बाट जोहता है। प्रत्येक करुण-विलाप करता हुआ सुनाई पडता है। "हे देव! कृपा करना, मेरा सब मान-गुमान तुम्हारे प्रमाण-पत्र के विना मुरझाया जाता है। यह सिर का हिलाना बन्द करो, नहीं तो मेरी ग्रीवा पर एक बाल के सहारे लटकती हुई तीक्ष्ण असि-धारा अब पड़ी कि अब पड़ी। मेरे प्राण सङ्कट मे हैं। मेरी आँखें पथराई जाती हैं। मेरा जी गिरता और दिल धडकता है। कानों में सांए सांए की शुष्क ध्वनि और अंगों मे शिथिलता

बढती चली जाती है। मेरा नाक ठण्डा पड रहा है। कर आगे कर मेरे मन्द श्वास को मेरे बन्धु-गण देख भाल रहे है। गले मे घिग्घी बन्ध गयी है। हा, प्रभो ! मै डूबा जा रहा हूँ। बचाओ बचाओ, मेरे सर्वस्व तुम हो। जीवन तुम हो। माई-बाप तुम हो। तुम्हारे एक शब्द मे मेरी जीवन-घुट्टी है। दया करो, दया करो।" ये शब्द हैं जो प्रत्येक के मुँह से कांपते हुए निकल रहे है। यह देवता सुगमता से प्रसन्न होने वाला नही।

थोड़े से शब्दों मे इस सिद्धान्त का सार यह है। संसार उन्नति शील है। प्रत्येक विभाग मे उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। क्या प्राकृतिक और क्या मानसिक, सामाजिक अथवा आत्मिक जीवन के अंगों मे कल से आज और आज से आने वाला दिन आगे है। पशु, पक्षियों का शरीर मनुष्य के शरीर का एक प्रकार से पूर्वरूप है। काल-क्रम से परिस्थिति के परिवर्त्तन हो जाने के कारण, शीतोष्ण के प्रभाव से अंग, प्रत्यंग घट बढ कर झड कर और बढ कर, लम्बे, छोटे और गोल होकर, अर्थात् भान्ति भान्ति के परिवर्त्तनों मे से गुजरते हुए वर्त्तमान भिन्न भिन्न जातियों की देह का निर्माण हुआ है। मानुष-काया सब से बढ कर सूक्ष्म, अतएव उत्क्रान्ति-युक्त है। मछली और मेढक के, हाथी और शेर के, भेड और बकरी के, गौ और घोड़े के, कुक्कड़ और मोर के स्मारक कुछ न कुछ अंश इसमे विद्यमान हैं।

आरंभ मे मनुष्य का मस्तिष्क अनुभव तथा शिक्षा के अभाव के कारण बहुत दूर की न सोच सकता था। शनैः शनैः उसकी सार ग्रहण करने वाली सूक्ष्म शक्तियां पदार्थों के अन्दर घुसने लगी। पक्षियों की पीं पी और ची ची से, भेड़, बकरियों की मै मै से, गौ और भैस की बां बा से, जंगल के सूखे

पत्तों की सर सर से, झाड़ियों और वृक्षों के झुण्डों के झंझावात के प्रकोप से पैदा होने वाले झङ्कार से, बादलों की गरज से और बिजली की कड़क से बोलना सीख कर, उसने लाखों भेदों मे विभक्त बोलियों और सहस्रों भिन्न भिन्न भाषाओं का क्या विस्तृत ढांचा बना लिया है! मै और तू के दो शब्दों के कोष का विस्तार कोसों मे भी न समाने वाले वाङ्मय के रूप में हो गया है और नित्य बढ़ता चला जा रहा है। अच्छी अच्छी कविताएं, दिल बहलाने वाली और शिक्षा देने वाली और कथाएं, बड़े बड़े मनोरञ्जक उपन्यास, नये से नये नाटक, उत्तमोत्तम सार-वस्तु से भरभूर पुस्तकों की मालाएं आज मनुष्य के साहित्य-सदन की शोभा को चार चांद लगा रही है।

पहले पहल मनुष्य सूर्य्य और चाँद को देखकर आश्चर्य्य करता था कि यह तेज और शीतल प्रकाश के गोले कहां से आ जाते हैं। प्रातः और सायं की लाली, पूर्णमासी की चान्दनी से उज्ज्वल तथा अमावस्या के अगाध अन्धकार से ढांपी हुई रात का दृश्य, नाचते और कूदते हुए तारागण की सुन्दरता, उसकी हैरानी के लिए पर्याप्त सामग्री थी। विशाल पर्वतों पर ऊँचे ऊँचे वृक्ष, झर झर करते हुए पर्वतों के झरने, ठाठें मारती हुई नदियां; उमड़-उमड़ कर आती हुई लहरों के उभरते हुए सफेद झाग के रूप मे, मानों, मन के वेग को प्रकट करता हुआ समुद्र—ये पदार्थ उसे भयभीत कर देते थे। शनैः शनैः उसने बाहर की विशालता मे गंभीरता को धारण करना सीखा है। अब वह पर्वतों के सामने हाथ जोड़ने के स्थान पर, उनमे से सुरङ्गें निकालता और सड़कें बनाता है। नदियों के कवित्त नहीं गाता, उनकी छाती पर पुल बनाकर हज़ारों और लाखों मन की गाड़ियां चलाता है। आज दार्शनिक बुद्धि, विज्ञान के सहारे स्थूल

से सूक्ष्म और सूक्ष्म से अदृश्य तक जा पहुँची है। पत्थर से लेकर मनुष्य तक सब एक ही लड़ी मे पिरोये जा रहे हैं। जड़ चेतन का विभाग उड गया है।

ऐसे ही धार्मिक तथा सामाजिक जीवन आरम्भिक दशा से निकल कर विकास को प्राप्त हो रहा है। प्रथम जहाँ आत्मरक्षा ही एक मात्र विचार था, वहाँ अब न्याय, अन्याय का विवेक भी साथ मिल रहा है। पहले पहल जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा कर लेता था, वहाँ अब सामाजिक जीवन इतना ओत-प्रोत हो रहा है, एक का निर्वाह दूसरों के साथ इतना जुड़ गया है कि लाखों मनुष्य एक-एक स्थान पर मिल कर रहते और नगर बसाते है।

वेद संसार मे सब से पुरानी पुस्तक है। वैदिक सभ्यता आरम्भिक सभ्यता है। उसकी अवस्था को पुनर्जीवित करने का यत्न सर्वथा व्यर्थ है। यह वन मे रोने के समान है। सुनने वाला कोई नही। इसका समर्थक होना अपनी मूर्खता का प्रकाश करना है। वैज्ञानिक उन्नति के स्थान पर जड जगत् की पूजा और सादा पशुपने का जीवन कौनविद्या-प्रेमी पसंद करेगा? अतः वेद के उद्धार करने का भाव सार-रहित और बलहीन होने के कारण छोड देना चाहिए। यह हुआ विकासवाद।

विकासवाद एक आधुनिक विचार है। इससे अत्यन्त पुराना एक और वाद है। इसे हम ह्रासवाद के नाम से पुकार सकते हैं। वह सब युगों में सब जातियों के साहित्य तथा वर्तमान व्यवहार मे पाया जाता रहा है। जब कभी किसी से यह कहा जाता है, कि अमुक कार्य्य तो बडा खराब है, न्याय से शून्य तथा अत्याचार से युक्त है, इसका परित्याग करो, तो वह क्या उत्तर देकर अपना पल्ला छुड़ाता है—'यह

रीति मेरे पूर्वजों की है।' बाप दादा, और पूर्वजों के नाम पर मनुष्य ने अपनी सन्तान और भाइयों को बेचा, अपने जैसों को अपने विनोद के लिए नाना प्रकार के दुःखों और क्लेशों का निशाना बनाया; बेबस, जिह्वा-रहित, निर्दोष पशुओं और पक्षियों को सताया और लाखों बेहूदा हँसी दिलाने वाली कपोल-कल्पित, मिथ्या लीलाओं को माना और मनवाया है।

जहाँ प्रकृति मे नित्य गति पाई जाती है, वहाँ इसके साथ उसे विशेष नियम मे रखने के लिये एक विरुद्ध गुण भी पाया जाता है। यह है परिवर्तन मे अरुचि। भौतिक संसार मे इस के अनेक परिणाम है। सामाजिक जीवन मे भी चरितार्थ हो कर यह समाज की बँधी हुई मर्यादाओं को अति शीघ्र बदलने से बचाता है। हमारा भोजन, हमारा घरेलू जीवन, हमारा रहन सहन तथा पहरावा—सब इसी नियम के आधीन हो कर चिरकाल तक एक ही सीमा के अन्दर-अन्दर घूमते रहते हैं। साहित्य मे बे-लगाम लेखकों की आपा-धापी इसी से रुकती है। कर्म-काण्ड तथा रीति-रिवाजों मे ढीलेपन का यही एक इलाज है। इस वृत्ति का यह मानसिक प्रभाव होता रहा है कि प्रत्येक जाति अपना सुनहरी युग सदा पीछे ही देखती रही है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी बाल्यावस्था के वर्णन में विशेष रस आया करता है। अस्सी वर्ष का बूढ़ा भी अपने बचपन की चञ्चलता को स्मरण करके एक बार तो आनन्द के आँसुओं से डाढ़ी के सफेद बालों को तर कर देता है। इसी प्रकार सब जातियां अपने आरम्भिक इतिहास के पर्यालोचन मे आनन्द अनुभव किया करती हैं। उन्हे प्राचीन शब्दों में दिव्य गान सुनाई देता है। पूर्वजों की मूर्त्तियों मे देवता और उनके

मकानों के खण्डहरों मे विशाल स्वर्ग के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। इस विचार के अनुसार प्रत्येक विषय मे पुरानी मर्य्यादा ही प्रमाण है। अच्छी हो या बुरी, हर बात मे उस मर्य्यादा को तोडना बुरा समझा जाता है। आजकल मनुष्य बहुत गिर गया है। धर्म, कर्म का कोई बल नहीं रहा। समाजिक सम्बन्ध की शुद्धि दूर भाग गयी है। परस्पर विश्वास का गन्ध भी नहीं बचा। शरीर, मन और आत्मा सभी दुर्बल हो गये हैं। सारी काया पलट गयी है। क्या कहे, कोई रहने योग्य समय नही रहा। दिन पूरे कर रहे हैं,—इस प्रकार की अनेकों बातें इस ह्रास-वाद के बहाव मे बह कर मनुष्य किया करते है।

वस्तुतः दोनों भूल मे हैं। दोनों वादों मे थोड़ा बहुत सत्य पाया जाता है। स्थिरता जगत मे नाम को नही। आज जो आकाश मे स्वेच्छाचारी है, वही कल लोहे के पिञ्जरे मे बन्द हो जायगा जैसे पहिये के भिन्न-भिन्न भाग ऊपर नीचे बदलते रहते है, वैसे ही मनुष्य के व्यक्ति-गत तथा समाज गत जीवन मे भी, उतार-चढ़ाव आते रहते है। इसलिये बुद्धिमान् वह नही, जो प्रत्येक बात मे प्रत्येक दशा मे पूर्व की अपेक्षा उन्नति ही उन्नति समझता है और न ही वह सियाना समझना चाहिये जो वर्त्तमान की सब बातों मे दोष ही दोष देखता है। भूतकाल का निरादर करना अथवा उसकी चिता पर रोना, एक जैसी मूर्खता है।

किसी समय एक विचार प्रबल है और दूसरे समय दूसरा विचार बल पकड लेता है। इस प्रकार से एक चक्र सा बना रहता है। जैसे कवि कालिदास अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाम के ग्रन्थ की भूमिका मे कहते है, कोई वस्तु इसलिये ग्रहण मत करो क्योंकि वह प्राचीन है और न ही दूसरी का इसलिये

अपमान करो क्योंकि वह नई है*। भूगर्भ-विद्या के विद्वानों ने धरातल को खोद खोद कर मनुष्य-जाति के पूर्वजों के बनाये हुए, हैरान करने वाले पदार्थ निकाल निकाल कर विकास-वाद की बाल की खाल निकालने वालों का मुंह बन्द कर दिया है। प्राचीन लोगों के शिल्प, कला-कौशल तथा विद्या के चमत्कारों के प्रमाणों के सामने तो इस सिद्धान्त का सारा बखेड़ा एक मखौल ही जचने लगता है। पुरानी कविता मे वह रस टपकता है जो आजकल के अति-प्रसिद्ध कवियों के भी शब्दों में शायद ही देखने में आता हो। पुराने दर्शनकारों की बारीकियां, कवि-सम्राटों के वाणी-विलास, व्याकरण तथा निरुक्तशास्त्र के बनाने वालों की भाषाविज्ञान मे निपुणता, शिल्पियों के शिल्प, महात्माओं की तपस्या और आत्मिक बल के वृत्तान्त—ये बातें देख देख कर इसी परिणाम पर मनुष्य पहुँचता है कि जहां तक मनुष्य का सम्बन्ध है, उन्नति के आदर्श मे लाखों वर्षों से कोई विकास नही हुआ। दूसरे विचार में भी इसी प्रकार अत्युक्ति से काम लिया गया है।

कोई पदार्थ पूर्ण नहीं। गुण तथा दोष की परीक्षा कर, गुण का ग्रहण तथा दोष का त्याग करना चाहिये। प्रत्येक सभ्यता में, जो संसार मे कुछ काल के लिए राज्य करती है, कुछ गुण पाये जाते हैं। अन्यथा वह संसार में क्षण भर भी न ठहरने पावे। किसी सभ्यता की उन्नति की परीक्षा इस बात से करनी चाहिये कि उसके द्वारा कितनी जनता ने कितना सुख पाया है।

—विश्ववन्धु ऐम० ए०

---

* पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद भजन्यते, मूढ. परप्रत्ययनेबुद्धि.॥

(१३)

योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना

हर एक मनुष्य के लिए किसी न किसी व्यवसाय, रोजगार, धंधे अथवा पेशे की आवश्यकता है और अपने लिए बुद्धिमत्तापूर्वक व्यवसाय चुनने मे ही मनुष्य-जीवन का सफल होना अवलम्बित है। ऐसे बहुत ही थोड़े—हजारों मे एक—मनुष्य होंगे जिन्हे जीवन-निर्वाह के लिए कुछ उद्योग नही करना पडता अर्थात जिनके पास आवश्यकता से बहुत ही अधिक सम्पत्ति होती है। परन्तु ऐसे मनुष्यों को भी अपने लिए कुछ कार्य चुनने की आवश्यकता पडती है। इसका कारण यह है कि ऐसे मनुष्यों को उदरपूर्ति के लिए भले ही कष्ट न उठाना पड़े, परन्तु अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये तथा उसे आलस्य से बचाने के लिए, इच्छा न होने पर भी कुछ काम करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन काम करने के लिए ही बनाया गया है; और धनवान् तथा धनहीन कोई भी मनुष्य इससे बच नही सकता।

यद्यपि इस बात की सत्यता निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ व्यवसाय या कार्य करना ही पडेगा, तथापि बहुत से युवकों को इस बात मे डर और घृणा होती है। वे अपने मता-पिता का पिड नही छोडना चाहते और रोटी के प्रश्न को स्वयं हल करने मे बेइज्जती समझते है। परन्तु इन्हे भी कभी न कभी जल्दी अथवा देरी से कुछ कार्यारम्भ करना पडता है। इसलिए प्रत्येक युवक का, जो संसार मे प्रवेश करके विजय-कामना रखता हो, यह कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही इस बात का निश्चय कर ले कि वह अपनी सारी शक्तियों को किस काम मे लगावेगा।

अनिश्चित अवस्था में रह कर विलम्ब करने और व्यर्थ समय खोने से कुछ लाभ न होगा।

बहुत से मनुष्य सुख का अर्थ नहीं समझते। वे कार्य के अभाव अर्थात् आलस्य के साथ समय बिताने को सुख का साधन समझते हैं। यह एक बड़ी भारी भूल है। कहा जाता है कि उद्योग-रहित और कार्यहीन मनुष्यों का मन शैतान का निवास-स्थान होता है। भारतवर्ष के एक बड़े भारी अधिकारी को यह आज्ञा मिली कि "अब तुम्हारे नौकरी के दिन पूरे हो गये। तुमने ईमानदारी से काम किया, इसके उपलक्ष्य में तुम्हे पेन्शन मिला करेगी।" जब उसे यह आज्ञा मिली तब वह बहुत खुश हुआ। खुशी इस बात की थी कि उसे अब काम न करना पड़ेगा और मजे में दिन काटने का अवसर मिला करेगा। उसने खुशी के आवेश मे अपने एक मित्र को यह पत्र लिख भेजा, "अब मैने दिन भर के झंझटों से छुट्टी पाई। रात दिन काम करने से जी ऊब गया था। अब मुझे दस-गुनी तनख्वाह मिले तो भी मैं काम न करूंगा।" दो चार आठ दिन बीत जाने पर जब उसे बैठे-बैठे खराब मालूम होने लगा और जब उसने देखा कि काम किए बिना आलस्यपूर्ण जीवन बड़ा ही दुखदायी होता है, तब उसने फिर अपने उस मित्र को शोक के साथ लिखा कि "भाई! मै मूर्खता से यह समझता था कि काम न करने ही मे आनन्द मे, परन्तु बात बिलकुल उल्टी है। अब मुझे साफ-साफ मालूम हो रहा है कि मेरा पूर्व-जीवन बहुत ही उत्तम और सुखपूर्ण था। जितना ही अधिक काम करना पड़ता था उतना ही अधिक सुख मिलता था।" सारांश यह है कि हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहना मनुष्य के देहधर्म के विरुद्ध है। मनुष्य का मन पनचक्की के समान है। जब उस मे गेहूँ डालते जाओगे तब वह गेहूँ को पीस कर आटा बना देगी। परन्तु जब

उसमे गेहूँ न डालोगे तब वह स्वयं अपने आपको पीस पास कर चौपट बना डालेगी। एक तत्वज्ञानी के इस कथन से हम भी पूर्ण-तया सहमत हैं कि "बहुत कम मनुष्य लोभ के कारण जुआरी या शराबी हुआ करते है। उनमे से अधिकाश ऐसे मनुष्य हुआ करते है जो कुछ काम न करने के कारण केवल समय बिताने के लिए ही जूआ खेलते या शराब पीते है।"

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि काम न करना अथवा आलस्य पूर्ण जीवन बिता देना देहधर्म के विरुद्ध है, तब हमारा यही कर्तव्य है कि हम कुछ न कुछ अच्छा व्यवसाय अपने लिए पसन्द करे। यह व्यवसाय हमारे मन, इच्छा, कार्यशक्ति और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिकूल व्यवसाय करने मे सफलता कभी हो नही सकती। विचार करने की बात है कि जिस मनुष्य को ईश्वर ने जन्म-सिद्ध चित्रकार बना कर भेजा है उसे यदि किसी कारण से उसका पिता विश्वविद्यालय मे पढ़ा पढ़ाकर डिगरी दिलाना चाहे तो यह कभी हो सकता है? उधर प्रोफेसर साहब उसे किताब की बडी बड़ी बातें समझावेगे और इधर वह लडका प्रोफेसर साहब की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और हलचलों का चित्र अपने मन मे खीचता जावेगा। मनुष्य जीवन के असफल होने के दो मुख्य कारण है—पहला यह कि वह कभी कभी अपनी स्वाभाविक कार्य-शक्ति के विरुद्ध व्यवसाय मे लग जाता है। दूसरा कारण यह है कि मनुष्य व्यवसाय कुशल हुए बिना ही अपने कार्यों को शुरू कर देता है। परन्तु जब तक कार्य-कुशलता और कामचलाऊ अनुभव न हो जाय तब तक संहसा कोई काम शुरू न करना चाहिए। यह सच है कि अनुभव और कुशलता जल्द नही आती, परन्तु इन्हे दृष्टि के बाहर जाने नहीं देना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि जीवन-संग्राम में मनुष्य अमुक दो कारणों से अकृतकार्य होता है । परन्तु हमारे भारतवर्ष में एक और तीसरा कारण देखा जाता है। इस देश के पढ़े लिखे शिक्षित लोग केवल मानसिक और मौखिक कार्य करना अधिक पसन्द करते हैं। उन लोगों मे शारीरिक व्यवसायों से एक प्रकार की घृणा उत्पन्न हो गई है। ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। एक मनुष्य आठ रुपये माहवार मे म्युनिसिपल नाके का मुन्शी बनकर कान मे कलम दबा रखने में अपने जीवन की सार्थकता समझता है, परन्तु अन्य शारीरिक कार्य करके अधिक द्रव्य पैदा करने में उसे लज्जा मालूम होती है। भारतवर्ष मे बाबू साहिबी की बीमारी दिनों दिन बढ रही है और शोक के साथ कहना पड़ता है कि यदि किसी ने इस मर्ज की दवा शीघ्र न निकाली तो यह बीमारी असाध्य हो जायगी । स्मरण रहे कि शारीरिक श्रम करने से और अपनी कर्मेन्द्रियों को किसी उपयोगी कार्य मे लगा देने से ही शिक्षित समाज अपने देश के लिए आदर्श हो सकता है । विद्यार्थियों को उचित है कि वे इस बात पर ध्यान दे और शारीरिक श्रम से घृणा न करें।

ऊपर इस बात की आवश्यकता बतलाई जा चुकी है कि हर एक मनुष्य को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति और कार्य-शक्ति के अनुकूल व्यवसाय चुनना चाहिए । अतएव जो मनुष्य संसार मे सफलता प्राप्त करना चाहता है, उसका पहला कर्तव्य इस बात का ज्ञान प्राप्त करना होगा कि उसकी रुचि किन कार्यों की ओर अधिक है। बहुत से मनुष्य इस बात की कोई आवश्यकता नहीं समझते कि कोई भी युवक अपनी प्रवृत्तियों को जान कर उनके अनुसार काम करे। उनका यह सिद्धान्त है कि हरएक मनुष्य कोई भी कार्य कर सकता है। अपनी प्रवृत्ति का ज्ञान प्राप्त करने की कोई

आवश्यकता नही है। केवल परिश्रम करना पड़ेगा। लार्ड चेस्टर-फील्ड का भी यही मत था। वे कहा करते थे कि अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों तथा कार्य-शक्तियों को जानने की कोई आवश्यकता नही है। कोई भी युवक केवल परिश्रम से विद्वान्, सुवक्ता, राजनीतिज्ञ, यशस्वी, खूबसूरत इत्यादि सभी कुछ (परन्तु कवि नहीं) बन सकता है। बल्कि वे यहाँ तक कहते थे कि मिहनत करने पर मनुष्य यदि अच्छा कवि न भी बन सके, तो खासा तुकबन्द अवश्य बन सकता है। उनके कथन का साराश यही है कि कोई भी मनुष्य कवि, ग्रन्थकार, राजनीतिज्ञ अर्थात् कुछ भी बनाया जा सकता है। अपने इसी सिद्धान्त के अनुसार लार्ड चेस्टरफील्ड ने अपने लडके स्टैनहाप को जो कि बड़ा सुस्त, कार्य-शिथिल और असावधानता-पूर्ण था, एक समय-सूचक सत्पुरुष बनाना चाहा। इन्होंने इसके लिए वर्षो तक परिश्रम किया परन्तु फल वही हुआ जो ऐसी अवस्थाओं मे सदैव हुआ करता है। लडका उम्र भर ज्यों का त्यों रहा। उसकी योग्यता न बढ़ी। इसलिए स्वाभाविक प्रवृत्तियों का जानना परम आवश्यक है, और इसके जानने मे कोई भी कठिनाई नहीं है। प्रायः हरएक लडके की बाल्यावस्था के कार्यों से यह जाना जा सकता है कि वह भविष्य मे किस तरह का मनुष्य होगा। जो लड़का कालीदास बनने को पैदा हुआ है वह छोटी उम्र मे भी अच्छी कविता कर सकता है। जो भविष्य मे शिवाजी बनता है, वह बचपन मे लड़कों की सेना बना बना कर सेनापति का कार्य भी किया करता है। और जो भविष्य मे विख्यात अमीरअली ठग बनता है वही लड़का बचपन मे पहले पहल "भुट्ट चुरा कर" अपना पहला पाठ सीखता है। कहने का तात्पर्य यही है कि किसी की बाल्यावस्था के कार्यों और प्रवृत्तियों को देख कर यह सरलतापूर्वक जाना जा सकता है कि

यह लड़का आगे चल कर किस प्रकार का मनुष्य होगा।

जब यह मालूम हो जाय कि अमुक लड़के की अच्छी प्रवृत्ति किस ओर है, तब सब से आवश्यक कार्य यह रह जाता है कि उसको उसी कार्य मे अच्छी शिक्षा मिले। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल योग्य और उदार शिक्षा पाने पर मनुष्य अपने व्यवसाय मे थोड़े ही परिश्रम से सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। हाँ, कभी कभी यह भी देखा जाता है कि किसी मनुष्य के भविष्य जीवन का पूर्व प्रतिबिम्ब उसकी बाल्यावस्था मे नहीं दीखता। परन्तु ऐसे अपवादात्मक उदाहरण बहुत कम पाये जाते है।

जिस तरह इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मे एक एक विशेष गुण रहता है उसी तरह प्रत्येक मनुष्य मे भी कुछ विशिष्ट कार्य करने की शक्तिअवश्य ही रहती है। यह शक्ति अथवा स्वाभाविक प्रवृत्ति चाहे किसी विशिष्ट अवस्था अथवा परिस्थिति मे न भी मालूम हो सके, परन्तु वह ऐसी दृढ़ और उत्कट होती है कि वह आप ही आप प्रकट हो जाती है। उसे कोई छिपा नही सकता।

जब हम अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कोई व्यवसाय चुन ले तब फिर हमे उसमे हजारों बाधाओं के होने पर भी लगे रहना चाहिए। बहुधा युवावस्था मे कुछ कष्ट, उदासीनता अथवा अकृतकार्यता होने से युवकगण हताश होकर अपने इच्छित व्यवसाय को यह समझ कर छोड़ देते है कि कदाचित् वे किसी दूसरे व्यवसाय मे लग जाने से अधिक सफलीभूत होंगे। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। हमे सर्वदा यही उचित है कि हम जिस धन्धे को अपने लिए एक बार चुन ले फिर उसे कभी न छोड़े, उसी मे दृढ़तापूर्वक लगे रहे। जीवन-संग्राम मे विजय प्राप्त करने के लिए अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल व्यवसाय चुनने की जितनी आवश्यकता है उससे बढ़कर उसमे दृढ़तापूर्वक लगे रहने की भी है। कठिनाइयों

के उपस्थित होने पर यह विचार करना मूर्खता है कि हम किसी दूसरे व्यवसाय मे अधिक सफल हुए होते। जब अपने व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे धन्धों मे लगने के लिए जी ललचाता है तब उस दूसरे धन्धे के केवल गुण और लाभ ही दृष्टिगत हुआ करते हैं और अपने धन्धे के केवल दोष और हानियाँ। पर ऐसा होना संभव नहीं है। हम जिस गुलाब को देखेंगे उसी मे कांटे मिल सकते हैं। इसलिए अपने एक बार के दृढ़ निश्चित व्यवसाय को बिना समझे बूझे कभी नही छोडना चाहिए। नही तो लेने के देने पड़ जायँगे और यही हालत होगी कि "न खुदा ही मिला न वसाले सनम! न इधर के हुए न उधर के हुए।" इसलिए हमे किसी व्यवसाय के चुनने अथवा छोड़ने मे चंचलता अथवा जल्दी नही करनी चाहिए। कभी कभी जब मनुष्य अपने व्यवसाय मे हज़ार प्रयत्न करने पर भी सफल नही होता तब उसे अपना व्यवसाय बदलकर दूसरा चुनने की आवश्यकता अवश्य होती है। परन्तु इससे यह भी सिद्ध होता है कि उसने अपने व्यवसाय को चुनने मे बडी गलती की। ऐसी गलतियाँ कई कारणों से–बुरी संगति, अचानक घटना, माता पिता की बुद्धिहीनता अथवा अधूरी शिक्षा के कारण बहुधा हुआ करती हैं। परन्तु युवावस्था मे मन बहुत चंचल रहता है। किसी काम को बहुत सोच समझ कर करना चाहिए। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक युवक उस कार्य को करते हैं जिसमे वे कभी सफल नही हो सकते और कुछ युवक भ्रमवश उस व्यववसाय को छोड़ बैठते हैं जिसमे थोड़े ही अधिक परिश्रम से वे सफलीभूत होगये होते। ध्यान रखने की बात है कि जो व्यवसाय किसी भी दृष्टि से जितना ही अधिक अच्छा होगा, उसमे सफलता प्राप्त करने के लिए उतना ही अधिक समय और परिश्रम भी लगेगा। हां, जिस राह से हम जा रहे हैं उस राह मे यदि सिंह

मिल जाय तो हमारा यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक होगा कि उस रास्ते के सिवा संसार में अन्य किसी रास्ते में सिंह आ ही नहीं सकता, परन्तु बिना परिश्रम के कुछ भी नहीं मिल सकता। इसलिए बाधाओं का सामना करते हुए अपने एक बार के चुने हुए व्यवसाय मे दृढ़तापूर्वक लगे रहना श्रेयस्कर है। इसी तत्त्व के आधार पर हमारे पूर्वजों ने वर्णाश्रम धर्म की रचना की है, जिससे समाज के सब व्यवसाय उचित रीति से हुआ करें। और इसी तत्त्व के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"।

इस लेख को समाप्त करने के पहले यह बतला देना आवश्यक है कि इच्छा अथवा आवश्यकता के कारण जिस व्यवसाय को करना पड़े उसे तुम घृणा की दृष्टि से मत देखो। बहुत से युवक अपनी योग्यता की डोग हांके बिना सन्तुष्ट नहीं होते। वे कहा करते हैं कि यदि हम उस व्यवसाय में न होते तो बहुत ही यशस्वी होते। उनका ईश्वर के सामने यही रोना रहता है कि उसने हमको अपनी अपूर्व योग्यता का प्रकाश करने का अवसर ही न दिया। अपने साथियों से सदैव अपनी योग्यता के विषय मे व्याख्यान देकर ऐसे युवक कहा करते है कि हमे अपनी योग्यता को बरबाद करना पड रहा है,ग्रहदशा अच्छी नही है, साधन और संयोग प्रतिकूल है इत्यादि। परन्तु यह युवकों की बड़ी भारी भूल है। इस तरह के प्रलापों के कारण दुनिया उन्हे आत्म-प्रशंसक समझ कर उनका तिरस्कार करेगी, क्योंकि दुनिया की तो आज तक यही समझ है कि जिसमे थोड़ी बहुत आश्चर्यजनक योग्यता विद्यमान है वह मनुष्य उसे किसी न किसी तरह से संसार को अवश्य ही दिखा देगा। इसलिए अपने व्यवसाय की तुच्छता की शिकायत करते रहने के बदले उसे उच्च और

कुलीन बनाने के प्रयत्न मे मनोयोग-पूर्वक लगे रहने से अधिक लाभ और ख्याति की सम्भावना है। उस व्यवसाय को तुम अपने किसी पाप का प्रायश्चित्त मत समझो, केवल कर्तव्य समझकर ही उसके सम्पादन मे दत्तचित्त हो जाओ। फिर सफलता दूर नहीं रहेगी।

—माधवराव सप्रे

(१४)

स्वास्थ्यरक्षा

इन शरीरों को पा कर हम सब भिन्न-भिन्न रूप में इस जगत्कानन मे परिभ्रमण कर रहे है। हमारे अनेक कर्तव्य हैं, भाँति भाँति की निर्वाह-शैलियाँ हैं, एक मुख्य उद्देश्य होते हुए भी असंख्य उद्देश्य हैं। इन सब की सिद्धि और पूर्ति के लिए शरीर ही एक आधार है। यहां तक कि ईश्वर-उपासना भी शरीर के बिना सम्भव नहीं हो सकती। किसी कवि ने भी कहा है कि शरीर ही सब से मुख्य धर्म का साधन है। तो इस शरीर को ठीक अवस्था मे रखना हमारा सब से पहला और आवश्यक कार्य हुआ। यही स्वास्थ्य-रक्षा है।

यह शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों का बना हुआ है, ऐसा प्रायः सभी मानते है, और नहीं तो जरा हेर-फेर से तो अवश्य ही मानते हैं। शरीर-विज्ञान वालों का कथन है कि वात, पित्त, कफ ये तीन तत्त्व शरीरों को चलाने में हेतु हैं। और कम-अधिक होने पर ये ही तीनों देह-नाशक भी हैं। इनका ठीक ठीक मात्रा मे होना शरीरों की स्थिति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उधर पाँच भूत भी इन तीनों के ही कारण-रूप समझिये। तो सीधी सादी भाषा में यह कहा जा सकता है कि शरीर मे जितनी गर्मी और ठंडक की आवश्यकता हो उतनी गर्मी और ठंडक, जितनी स्निग्धता होनी चाहिये उतनी स्निग्धता और जितनी वायु आवश्यक है उतनी वायु होने से स्वास्थ्य

की रक्षा होती है, अन्यथा शरीर के रोगी होने में सन्देह नहीं। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। शीतकाल मे या शीत प्रदेश मे यदि शरीर की गर्म-वस्त्रों से रक्षा न की जाय तो वह अवश्य बिगड जायगा। इसी प्रकार गर्मियों मे या गर्म प्रदेश मे यदि शरीर को उचित मात्रा मे ठंडक न पहुँचाई जाय तो उसकी रुग्णता निश्चित हो जाती है। यह बात और है कि किसी शरीर को कितनी सर्दी और कितनी गर्मी की आवश्यकता हो। एक नाजुक शरीर ठंडे कमरों मे पंखों की वायु मे होते हुए भी घबराता रहता है और एक मजदूर-शरीर बाहर धूप को भी कुछ नहीं समझता। सर्दी और गर्मी की मात्रा का प्रश्न तो शरीर की अवस्था पर निर्भर है। शरीर मे स्नेह-पदार्थ कम हो जाने पर शरीर सूखने लगता है। नसों नाडियों को शक्ति-वर्द्धक भोजन न मिले तो उनके निर्बल होने पर धीरे धीरे शरीर रोगों का गढ़ बन जाता है। इसी प्रकार वायु की भी ऐसी ही आवश्यकता अथवा अनावश्यकता का सिद्धान्त निश्चित होता है। शरीर मे प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान ये पॉच प्रकार की वायुएं रहती है, यह भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त है। पाश्चात्य-वैज्ञानिक भी वायु के चार-पाँच मूल-भेद मानने लगे हैं। तो शरीर मे इन पाँचों वायुओं की ठीक ठीक अवस्थिति स्वास्थ्यरक्षा के लिये बहुत आवश्यक है। वायु के प्रकोप से कई प्रकार के रोग होजाते हैं, यह प्रतिदिन अनुभव मे आता रहता है। वायु का अधिक होना भी बुरा है और कम होना भी हानिकारक है।

स्वास्थ्यरक्षा के साधारण साधनों मे नियमितता एक व्याप्त और अत्यावश्यक नियम है। समयबद्धता के बिना स्वस्थ रहने के लिये लाख उपाय किये जायं, एक फल न होगा। अच्छे से अच्छा भोजन भी देह को ठीक न रख सकेगा, यदि नियमपूर्वक

न खाया जायगा; और नियम से किया हुआ रूखा भोजन भी स्वास्थ्य को ठीक रखेगा। नियमितता और आरोग्य का इतना सम्बन्ध है जितना काया और छाया का। जैसा पदार्थ होता है—लम्बा, मोटा, टेढ़ा—वैसी ही उसकी छाया होती है; ठीक इसी प्रकार मनुष्य का जैसा नियम होता है वैसी ही उसकी काया होती है। जिन्हे नियमितता के रस का पता है वे कभी रोगी नहीं होते। उनका स्वास्थ्य कभी नहीं बिगड़ता। इस व्यापक नियम को अपनाने के पश्चात् ही स्वास्थ्यरक्षा के और नियमों तथा साधनों को उपयोग मे लाने से वास्तव मे स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सकती इसके बिना नहीं।

नियमित आहार-व्यवहार और नीरोगता का अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य-शरीर में पृथिवी का अंश अधिक है, यह निर्विवाद है। इस देह को पार्थिव-पदार्थों से पुष्ट करना मनुष्य का पहला काम है। बालक उत्पन्न होता है, स्वभावतः ही वह आहार के लिये माता के स्तनों की ओर प्रवृत्त होता है। शरीर की भूख को मिटाना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, जिससे रक्त, मांस आदि की वृद्धि हो और यह शरीर-नौका ठीक-ठाक चलती चली जाय। अब देखना यह है कि भोजन कैसा और कितना होना चाहिये। दूध, घी, मक्खन, दही, मट्ठा, गेहूँ का आटा, चना, शाक-सब्जी, फल आदि उत्तम उत्तम वस्तुओं का जो नियमित आहार करता है वह अस्वस्थ कभी नहीं होता। मांस आदि तामसिक पदार्थ मनुष्य-शरीर के भोज्य-पदार्थ नहीं। भोजन की मात्रा ऋतु और अवस्था के आश्रित है। कच्चे भोजन की अपेक्षा पका भोजन अधिक स्वास्थ्यकर है; क्योंकि पकाने से भोजन स्वच्छ और रोग के कीटाणुओं से रहित हो जाता है। दूध दुहते ही पी

लेना हो तो उसे नष्ट करने की आवश्यकता नहीं रहती, पर तो वह सब से अधिक गुणकारी होता है। चटपटे, मिर्च-मसाले-दार और गरिष्ठ पदार्थों का अधिक सेवन स्वास्थ्य को हानि पहुँ-चाता है। भोजन सदा धीरे-धीरे खूब चबाकर करना चाहिये, जिससे सारा जोर आमाशय पर ही न पड़ जाय। जल्दी-जल्दी निगलने वाले सदा रोगी दिखाई देंगे। भोजन के ऊपर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, मनुष्य उतना ही अधिक स्वस्थ रहेगा। खाया हुआ पदार्थ यदि ठीक-ठीक पचता है, तो समझो कि शरीर स्वस्थ है। पाचन-शक्ति बिगड़ी कि स्वास्थ्य बिगड़ा। इसलिये भोजन बार-बार कभी नहीं करना चाहिये। सारा दिन चरते रहने वाले और ठूंस-ठूंस कर खाने वाले पेटू लोगों की पाचन-शक्ति मन्द पड़ जाती है।

पाचन-शक्ति को ठीक रखने के लिये सब से मुख्य बात मल-शुद्धि की नियमितता है। यदि तुम नियम से शौच होते हो तो तुम पाचन-शक्ति की ओर और अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान दे रहे हो, अन्यथा नहीं। मल आदि वेगों को और छींक, जंभाई आदि को रोकने वाले शीघ्र ही शरीर-यन्त्र को बिगाड़ बैठते हैं। प्रातःकाल उठकर यदि पानी पिया जाय तो पेट साफ हो जाता है, पाचन-शक्ति बढ़ती है और स्वास्थ्य में उन्नति होती है। बहुत पानी या शर्बत पीने से, विरुद्ध गुण वाली वस्तुओं को एक-साथ खाने से, ऋतु के अनुकूल भोजन न करने से, देर तक बैठे रहने से खाया हुआ पदार्थ नहीं पचता। भोजन के एक घण्टे पश्चात यदि पानी पिया जाय तो अत्यन्त गुणकारी होता है। सोडा और बर्फ को अधिक प्रयुक्त करने वालों को सदा अपच की शिकायत रहती है। चूर्ण आदि खाने का स्वभाव उतना ही भयंकर है जितना कि ऊट-पटांग खाने का स्वभाव।

जठराग्नि सदा के लिये मन्द पड़ जाती है, जैसे नौकर-चाकरों के ही आश्रित रहने वाले लोग आलसी बन जाते हैं।

भोजन का शरीर पर प्रभाव मन के ऊपर अवलम्बित है। हृदय प्रसन्न हो तो सादा भोजन भी बहुत असर करता है। इसके लिये कलह से सदा बचना चाहिये। किसी लड़ाई-झगड़े के कारण अथवा आपस के कलह के कारण, या किसी दुर्घटना के कारण चित्त यदि खिन्न हो तो एक दम भोजन करना भूखे रहने से कही अधिक हानिकर है। ऐसे समय मे भोजन का उल्टा प्रभाव होता है। पहले मन को शान्त कर लिया जाय, कुछ समझा-बुझा लिया जाय, तब भोजन करने से लाभ होता है। भोजन यदि मनवाञ्छित न मिले, और करना वही हो, तो उसका निरादर करके उसे खाने से तो न खाना ही अच्छा। अथवा उसे ही सर्वोत्तम भोजन विचार कर खाना चाहिये। अन्यथा वह पचेगा नही।

प्रतिदिन शीतल जल से स्नान करने से शरीर सदा स्वस्थ रहता है। दुर्बल व्यक्ति थोड़े गर्म पानी से स्नान कर सकता है। अत्यन्त शीत प्रधान देशों मे भी गर्म जल से नहाया जा सकता है। पर साधारण देशों मे भले-चंगे पुरुष के लिये तो ठण्डा पानी ही हितकर है। सर्दियों मे गर्म-गर्म पानी से स्नान करने की लोगों को एक लत सी पड़ गई है। इससे शरीर पीला और कृश हो जाता है। उसमें स्फूर्ति और उत्साह कम हो जाता है और उसमे रोगों का प्रतिकार करने की शक्ति नहीं रहती; इसीलिये ऐसे शरीरों को एक बार लगी बीमारी फिर उनका पीछा नही छोड़ती।

आँखों की तेजी और दाँतों की स्वच्छता आदि पर ध्यान देने से रोग पास नही फटकते। इसके लिये सुरमा, अञ्जन, मञ्जन दातुन आदि का सदा प्रयोग करना चाहिये। शरीर के अवयवों को सुचारुरूप से चलाने के लिये सरसों के तेल की मालिश करते

रहना चाहिये । नाक और कान मे सरसों का तेल डालने से सूँघने और सुनने की शक्ति बढती है ।

नीरोग रहने के लिये शरीर की शुद्धि के साथ साथ वस्त्रों की स्वच्छता और घर की पवित्रता भी अत्यन्त आवश्यक है। मैले-कुचैले वस्त्र पहनना मानो शरीर मे रोगों का आह्वान करना है। जिनका घर अपवित्र और गन्दा रहता है, रोग उनके घर मे डेरा डाले पड़े रहते हैं। वैद्यों और डाक्टरों की दवाइयों पर दवाइयाँ आती हैं, पर बीमारियों से पिण्ड नही छूटने पाता। घर की शुद्धि के साथ आस-पास की शुद्धि का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। हम कई प्रकार के मल-त्याग आदि द्वारा अपने घर की तथा बाहर की वायु को रात दिन दूषित करते रहते हैं, हमें चाहिये कि हम यज्ञ-हवन आदि से वायुमण्डल को सुगन्धित किया करें, जिससे हम सब को शुद्ध वायु मिले और हम रोगी होने से बच सकें।

व्यायाम स्वास्थ्यरक्षा का अत्यावश्यक अङ्ग है। डण्ड-बैठक, कबड्डी, कुश्ती, फुटबाल आदि खेल, तैरना, दौडना, आदि अनेक प्रकार के व्यायाम हैं। अपनी अपनी रुचि और अवस्था के अनुसार कोई भी व्यायाम किया जा सकता है। अधिक अवस्था के लोगों के लिये प्रातः और सायं की सैर ही एक व्यायाम है। वैसे तो प्रातःकाल का वायुसेवन स्वास्थ्य-रक्षार्थ सब के लिये बहुत ही उपयोगी है। व्यायाम का उद्देश्य शरीर की गर्मी को ठीक रखना है। जो किसी प्रकार का भी व्यायाम नहीं करते, वे सदा रोग-ग्रस्त रहते हैं। बच्चों को देखिये, वे क्यों बड़े-बूढों से अधिक नीरोग रहते हैं ? बीमार होने पर वे बड़ों की अपेक्षा क्यों शीघ्र स्वस्थ हो जाते हैं ? क्योंकि वे कूदते-फॉदते रहते हैं, उनका तेज-तत्त्व उद्दीप्त रहता है। इसीलिये शरीर रक्षा के लिए व्यायाम

एक मुख्य साधन है। इससे आयु भी बढ़ती है और शरीर भ
नीरोग रहता है। बल और शक्ति की उपलब्धि होकर शरीर :
कठिन-कठिन कार्य करने की क्षमता आजाती है। उत्साह औ
स्फूर्ति की अधिकता हो जाती है और जीवन सुखमय बन जाता है

परमात्मा ने दिन कार्य करने के लिये, कर्तव्य-पालन कर
के लिये, स्वार्थ और पदार्थ की पूर्ति के लिये बनाया है और रा:
दिन-भर के थके-मांदे शरीर के लिये आराम करने के लिये बना:
है, परन्तु यह स्वेच्छाचारी मनुष्य रात को जागने और दिन क
सोने मे भी कुछ शान समझता है। पर उसे यह नहीं पता कि उसक
यह कार्य स्वास्थ्य की जड़ पर कुठार है। इससे सदा बचन
चाहिये। इसी प्रकार कम सोना और अधिक सोना भी स्वास्थ्य क
नाशक हैं। क्या हम ठीक समय पर सोने और जागने वाले पशु
पक्षियों से शिक्षा न ग्रहण करेंगे ?

नशीली वस्तुएं शरीर का स्वास्थ्य बिगाड़ देती हैं। देखने को
तो मनुष्य शराब पीकर लाल से हो जाते हैं, और बहुत से तो
इसीलिये शराब पीते है, परन्तु उनका भीतर क्षीण और भस्म सा
हुआ जाता है। जहां नशा उतरा कि काया बुझे हुए कोयले सी
काली और राख सी फुस हो जाती है। अफ़ीम, गांजा भाँग,
सिगरेट, हुक्का आदि सब अपने गुणों—दुर्गुणों के अनुसार स्वास्थ्य
के लिये हानिकर ही हैं। चाय-कहवा आदि वस्तुएं उसी काल के
लिये कुछ जोश देती हैं, पीछे वे भी शरीर को बहुत शिथिल कर
देतीं हैं। खून को सुखाने के तो ये पूरे साधन हैं। इन दिनों चाय
और तमाखू का सेवन एक साधारण बात हो गई है, परन्तु इनका
प्रयोग करने वाले भी कभी-कभी इससे बहुत तंग आ जाते हैं,
आदत की मजबूरी से छोड़ भले ही न सकें। यदि सच्चाई से विचार
किया जाय तो पता चलता है कि इन वस्तुओं से हमारे शरीरों को

कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता।

खाने पीने का स्वास्थ्य से जितना सम्बन्ध है, आचरण का उससे कम नहीं। सदाचार से स्वास्थ्यरक्षा में पूरी सहायता मिलती है और दुराचार से स्वास्थ्य की हानि होती है। सदाचार को इन्द्रियनिग्रह कहा जा सकता है। जो अपनी इन्द्रियों के वश में पड़ कर मिथ्या आहार-व्यवहार में फँस जाते हैं वे स्वास्थ्य खो बैठते हैं। वज्र जैसा भी उनका शरीर कुछ दिनों में क्षीण और दुर्बल हो जाता है। वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य का शरीर से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। अब्रह्मचारी मनुष्य मे रोग इस प्रकार आ बैठते है जैसे मीठे पर मक्खियां। ब्रह्मचर्य और रोग दो वाते बिलकुल विरुद्ध हैं। शरीर-विद्या-विशारदों का कथन है कि ब्रह्मचर्याभाव से ही तपदिक आदि राजरोग होते हैं।

ये सव मानसिक विकार के परिणाम हैं! मन को पवित्र रखना ही ब्रह्मचर्य-रक्षा का एकमात्र उपाय हैं। इसके लिये अच्छों की संगति, उत्तम पुस्तकों का स्वाध्याय, विचारों की शुद्धि उत्तेजक पदार्थों का त्याग, बुरी संगति तथा निकृष्ट साहित्य से परहेज, प्राणायाम, अध्यात्म-चिन्तन और ईश-उपासना करनी होती है। सिनेमा आदि भी एक बुरी संगति के उत्कृष्ट रूप हैं। गन्दे चित्रपटों को कभी न देखना चाहिये। मनु महाराज का कथन है कि शरीर पानी से शुद्ध होता है, मन सत्य से साफ होता है, आत्मा विद्या और तप से पवित्र होती है और बुद्धि ज्ञान से निर्मल होती है। स्वास्थ्य की साधना के लिये मन की साधना करनी ही होगी। नहीं तो जीवन दुःखपूर्ण हो जायगा।

रोगों के सम्बन्ध मे भी कुछ कह देना अनुचित न होगा। स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का ध्यान न रखा जाय, तो शरीर रुग्ण हो ही जाता है। रोगी होने पर घबराना नहीं चाहिये। मनुष्य

अच्छे वैद्य की सम्मति के अनुसार औषध-सेवन करके शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है। रोग की उपेक्षा कभी न करो; पर रोग के पीछे हाथ धोकर भी न पड़ जाओ, इतने उतावले न हो जाओ कि उसी क्षण उसको मिटाने की धुन मे शरीर को ही हानि पहुँचा बैठो। जब बुखार आता है, शरीर के कल-पुर्जे बिगड़ने से ही तो आता है, पता नहीं कितने काल से वे पुर्जे बिगड़ रहे है, एक दिन में कैसे आराम हो जाय! लोग रोग से तंग आ कर वैद्यों डाक्टरों को जल्दी जल्दी बदला करते है; कभी इसे दिखा और कभी उसे बुला। इस प्रकार रोग बढ़ जाया करता है। हां, यदि पहला डाक्टर योग्य न हो तो किसी योग्य वैद्य को बुला लो। रोगी को आत्म-विश्वास रखना चाहिये, दिल नहीं छोड़ना चाहिये। छूत के रोगों से बचना स्वास्थ्यरक्षा के लिए बहुत आवश्यक है। कई रोग छूत से उत्पन्न हो जाते है। छूत के रोगों से ग्रस्त लोगों के हाथ से खाने-पीने की वस्तु नहीं लेनी चाहिये। महामारियों मे भी यदि आत्मविश्वास और पूर्णपरिचर्या से काम लिया जाय तो मनुष्य स्वस्थ हो जाता है, चाहे कुछ देर लगे। रोग से मुक्त होने के बाद पूरा पथ्य रखना चाहिए। पथ्य न रखने से फिर शीघ्र ही मनुष्य बीमार हो जाता है। बीमारी से उठे व्यक्ति को स्नान, व्यायाम आदि भी नही करना चाहिये।

देह को अनित्य कह कर उसकी कुछ भी देख-भाल न करने वाले लोगों का ज्ञान अधूरा है। शरीर को सुखा कर भी कहीं कोई स्वार्थ वा परमार्थ सिद्ध हुआ है? माना कि हठ-योगियों का शरीर-साधन उनका अपना एक अलग मार्ग है, परन्तु सर्वसाधारण को इससे कोई लाभ नहीं, अपितु हानि है। शरीर की देख-रेख उतनी ही आवश्यक है जितनी कि आत्मा की।

जितनी ही उन्नत देह होगी, उतनी ही ऊँची उसमे आत्मा निवास करेगी। आध्यात्मिक उन्नति शारीरिक उन्नति के बिना हो ही नही सकती। राम, कृष्ण, अर्जुन, बुद्ध, दयानन्द आदि महापुरुषों का यही मन्तव्य था। वे खूब स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट थे, उनकी आत्मा की उच्चता असीम थी।

स्वास्थ्य के बिना जीना मृत्यु के तुल्य है। पड़े पड़े सड़ते रहने से क्या लाभ ? नियमित आहार-व्यवहार से और नियमित जीवन से जिन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की है वे धन्य हैं।

स्वास्थ्य होने से जीवन आनन्द और उल्लास के प्रवाह मे बहा करता है। दुःखमय जीवन किस काम का ? स्वास्थ्य के विना सब सुख-सामग्री निष्फल है। करोड़ों रुपया बैंक मे जमा है, अरबों रुपये का व्यवहार हैं; परन्तु खाने के लिये कठिनता से एक फुलका ही नसीब होता है! यह भी कोई जीवन है? तभी तो कहते हैं कि एक स्वास्थ्य पर लाखों सुख न्यौछावर कर दिये जा सकते हैं। वैसे तो स्वास्थ्य-प्राप्ति की लोगों मे बहुत चाह है, पर लोग प्रायः स्वास्थ्य के नियमों पर नहीं चलते। इसीलिये रोगों और वैद्य-डाक्टरों की एक जैसी वृद्धि हो जाती है। स्वस्थ शरीर से ही सब धर्माचरण हो सकते हैं, नीरोग व्यक्ति ही सब प्रकार की उन्नति कर पाते हैं। लोक-व्यवहार के छोटे से छोटे काम के लिये भी स्वास्थ्य की आवश्यकता है। अस्वस्थ मनुष्य पग-पग पर ठोकरें खाता है और अपमानित होता है। जिन जातियों के लोग स्वास्थ्यरक्षा का ध्यान नहीं रखते और शरीर की ओर से विमुख रहते हैं, वे जातियाँ देर तक स्वतन्त्र नही रहने पातीं। स्वास्थ्य अमूल्य निधि है। इसकी रक्षा बड़े यत्न से करनी चाहिये।

—गोपालचन्द्र देव

(१९)

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये आत्मसंयम अत्यन्त आवश्यक है

प्रत्येक व्यक्ति मे अपने जीवन को सफल बनाने की प्रबल आकांक्षा होती है। मनुष्य का प्रत्येक काम इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ करता है। एक शिशु का जन्म होता है। धीरे धीरे वह बढ़ने लगता है। उसके साथ ही साथ माता-पिता की महत्त्वाकांक्षाएं विस्तृत होती जाती हैं। वे सोचते है कि हम इसका भली-भाँति पालन-पोषण कर इसे इतना योग्य बनाएंगे, यह इस प्रकार अपने जीवन को सफल बनाएगा और इसी मे हमारे यश तथा हमारी प्रतिष्ठा की कुञ्जी निहित है। इधर जैसे ही बालक ने होश सम्भाली कि अपने जीवन की सफलता को लक्ष्य बनाना आरम्भ किया। यह बात और है कि किसी ने अपने जीवन की सफलता किसी एक बात मे मान ली हो, पर उसके सम्पूर्ण प्रयत्न अपने कार्य की सिद्धि मे ही लग जाते हैं। एक ग्रामीण कृषि आदि की देख-भाल के लिये पूर्ण योग्य होने मे ही जीवन की सफलता देखता है। एक नागरिक साधारण शिक्षा प्राप्त कर क्लर्क का जीवन बिताने में ही अपने जन्म का साफल्य समझता है! कुछ लोग अपने जीवन को राम और कृष्ण के आदर्श-जीवनों के अनुरूप किये विना जीवन की सफलता नहीं मानते; उद्देश्य सब का एक ही है और वह है अपने जीवन मे सफलता प्राप्त करना। पर बहुधा देखने मे आता है कि अधिकांश मनुष्य अपने जीवन में सफल नही हो पाते। इसका क्या कारण है? आत्मसंयम का अभाव। ऐसे लोगों को या तो आत्मसंयम

का पथ ही नहीं दिखाया गया होता, उसके गुण नहीं समझाए गए होते, अथवा वे स्वयं जान बूझकर आत्मसंयम से मुंह मोड़ते हैं। वास्तव मे जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए आत्मसंयम अत्यन्त आवश्यक है।

अध्यापक ने शिष्य से कहा कि देखो कल इतना पाठ अवश्य स्मरण कर लाना। शिष्य याद करने बैठा। इतने मे उसे दूसरे बालकों का कौतुहल-पूर्ण शब्द सुनाई दिया। उस समय यदि वह आत्मसंयम करके पढ़ने मे ही मन को लगाता है तब तो वह सफल है, और यदि पुस्तकें वहीं छोड उन्हीं मे जा मिलता है तो उसकी सफलता असम्भव हो जाती है। रोगी पन्द्रह दिवस के अनन्तर नीरोग हुआ। कुछ चटपटी वस्तु बिकती देख कर ललचा गया। बस अपथ्य कर बैठा और फिर रोग-शय्या पर जा विराजा। यदि वह आत्मसंयम से काम लेता तो कष्ट क्यों उठाता?

काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकार मनुष्य के मन पर सदा से अधिकार रखते हैं और अवसर पाते ही अपना प्रभाव दिखाने से नहीं चूकते। ये ही नदी के प्रवाह की भाँति बहते हुए मनुष्य जीवन में अनेक बाधाएं डालकर उसे मलिन और निराशापूर्ण बनाया करते हैं। इनकी प्रतिद्वन्द्विता मे यदि आत्मसंयम का सहारा ले लिया जाय तो मनुष्य-जीवन की सफलता मे सन्देह नहीं रहता। सचमुच इन पर काबू पाना—अपने को वश मे रखना—जगत् को विजय कर लेना है।

साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, बड़े बड़े सम्राट् भी जब काम के आधीन होकर आत्मसंयम को तिलाञ्जलि दे डालते हैं तब वे जीवन की असफलता की कीच मे अवश्यमेव फँस जाते हैं। बहुधा उन्हें अपने जीवन तक से हाथ धोना पड़ता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। अनेक राज्यों और बहुत से

राजाओं का नाश और संहार इसी आत्मसंयम के अभाव के कारण हुआ। पर जिसने आत्मसंयम को अपना साथी बना लिया उसने कभी भी असफलता का मुंह नहीं देखा। असफलता तो एक ओर रही उसे आशातीत और विस्मयोत्पादक सफलता ही सफलता मिलती चली गई। छत्रपति शिवाजी का ऐतिहासिक महत्त्व किससे छिपा है? कहां तो एक साधारण सी जागीर और कहां उसके स्थान पर इतना बड़ा महाराष्ट्र-राज्य। कहां थोड़े से मावली और कहां बीजापुर के सुलतान का असंख्य दल और औरंगजेब की घन-घटा सी भयावनी मुग़ल सेना! अफजलखां, शाइस्ताखां जैसे दुर्दम्य सेनानियों का सामना करना कोई हँसी-खेल न था। पर वीरवर शिवाजी ने असफलता का कभी नाम भी न सुना। क्यों? क्योंकि उनमे आत्मसंयम कूट-कूट कर भरा हुआ था। दुर्गों पर विजय पाने के अनन्तर उन्होने वैरि-नारियों को कभी संयमहीन दृष्टि से देखा तक नही। यवन-आक्रान्ताओं की भाँति आत्मसंयम का गला घोंटने से उन्हे घृणा थी। जब मरहठों ने कल्याणदुर्ग को जीता तो नीलपन्त ने किले के अध्यक्ष की सुन्दरी कन्या को पकड़कर शिवाजी के सामने भेटरूप मे उपस्थित करके उनका विशेष कृपापात्र बनना चाहा। उस समय पूर्ण-संयमी शिवाजी ने पन्त को बहुत फटकारा और उस कन्या को सुरक्षित उसके पिता के पास पहुँचा दिया। उनकी सफलता के यही तो मुख्य कारण थे।

पति जब क्रोध पर विजय पाकर अपनी पत्नी की चूक को क्षन्तव्य समझ लेता है तब उसके जीवनकाश मे विषाद के मेघ विलीन हो जाते है और प्रत्येक काम मे सफलता शशिकला के समान छिटक कर आनन्द का स्रोत बहा देती है। वह जिस कार्य मे हाथ डालता है, वही काम आपही आप पूर्ण होने

लगता है। चारों ओर उसे अपनी जीत ही जीत दिखाई देती है। सांसारिक विघ्न-बाधाओं का सामना करने के लिये उसमे अपूर्व शक्ति का संचार हो जाता है।

दुकानदार जब लोभ-वश निकृष्ट वस्तु देने अथवा कम देने से अपने आपको नही रोक सकता तो परिणाम क्या निकलता है? उसके ग्राहक धीरे धीरे कम होने लगते है और तब वह व्यापार-मार्ग-का असफल यात्री बन जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को मोह, अहंकार आदि के वश होकर कई प्रकार की हानियां उठानी पडती है और उसे पुन. पुनः असफलता का मुंह देखना पडता है।

जो व्यक्ति इन्द्रियों के दास होते हैं वे संयमी नही बन सकते। इच्छाशक्ति के इंगित पर नाचने मे और संयमी होने मे तम और प्रभाकर का सा अन्तर है। संयमहीन पुरुप सदा उत्साह-शून्य, अधीर और अविवेकी होते हैं, इसीलिये वे अधिकतर असफल रहा करते हैं। आत्मसंयमी व्यक्तियों मे सर्वदा उत्साह, धैर्य और विवेक भरा रहता है, अतएव उन्हे सर्वत्र सफलता ही उपलब्ध होती है।

काम, क्रोध आदि का संघर्ष उपस्थित होने पर आत्मसंयमी होना एक बात है और संघर्ष का अवसर ही न मिलने पर आत्म-संयमित्व के भाव मे भरे रहना और बात है। वैसे तो सभी संयमी होने का दम भर सकते हैं, पर समय पडने पर परीक्षा मे पूरे उतरने वाले थोड़े होते हैं। युवावस्था, सम्पत्ति और प्रभुत्व पाकर आत्मसंयमी होना ही वास्तव मे सच्चा आत्मसंयम है। जीवन का रस चाट कर अन्तिमावस्था मे संयम का ढोंग भरने से क्या? पैसों के अभाव के कारण सिनेमा देखने से वञ्चित रहना अपने पर काबू पाना नही कहा जा सकता। पूञ्जी समाप्त होने पर मद्यपान न करना आत्मसंयम नही। लोभ के कारणों की अनुपस्थिति मे उदारता की भावना से ओत-प्रोत रहने मे क्या बड़ाई? गली गली

के भिखारी का क्या आत्मसंयम और क्या अनात्मसंयम !

कुछ लोगों का आगे पीछे नहीं, समय पड़ने पर, यह भी मत हो जाता है कि आत्मसंयम की कोई उपादेयता नहीं, क्यों न मन माना आनन्द उठाया जाय ! पर जैसे वे उससे आगे बढ़ते हैं और उन्हें अपने जीवन के नैराश्य और ह्रास का नंगा चित्र दिखाई पडता है, उनकी आँखें खुलती हैं और उन्हे प्रलोभनों की गहरी खाई की वास्तविकता और आत्मसंयम की आवश्यकता का भान हो जाता है। सूर्य की किरणों से चमकती हुई मिट्टी में पड़ी पान की पीक को जब एक मार्ग चलने वाला इसे रत्न समझ कर उठा लेता है तो उसके मन की जो दशा होती है उसे भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं।

आत्मसंयम की कहां आवश्यकता नहीं ? विद्यार्थी जीवन की सफलता आत्मसंयम के बिना स्वप्नमात्र होती है । असंयमी छात्र प्रथम तो कभी सफल ही न होंगे, यदि कुछ हुए भी तो अधम कोटि मे। वे न अपना कुछ बना पाते हैं और न ही माता-पिता, गुरु और देश का नाम उज्ज्वल कर सकने मे समर्थ होते हैं। आकाश-पाताल को मिला देने वाली धारा-प्रवाह वक्तृताओं से श्रोताओं के हृदयों को झंझोट कर उन्हे अपने नेतृत्व की छाया-तले लाने वाले असंयमी नेताओं का प्रभाव चिरस्थायी किसने देखा है ? उन्हे कभी सफलता भी मिली है ? वे तो स्वयं दलदल में फँसे है, दूसरों को क्या उभारेंगे ? जरा आँखों से ओझल हुए कि जनता ने उनकी संयमहीनता को लक्ष्य कर कटाक्ष करना आरम्भ कर दिया । उनका सारा प्रभाव कपूर की तरह उड़ जाता है और वे असफलता के समुद्र में डूब कर विलुप्त हो जाते हैं।

आत्मसंयम के रहते जिस वीर से संसार काँपा करता है, संयम छोड़ने पर उसी व्यक्ति की सत्ता जगत् मे तृणवत हो जाती है। एक भीमकाय पुरुष से सारा नगर थर्राता है, उसकी

बात को टालने की किसी मे हिम्मत नही होती, आवश्यकता पड़ने पर वह अकेला चालीस पचास वीरों का भी सामना कर सकता है; पर वही जब रात को चोरी करने निकलता है तो डर के मारे उसके हृदय की गति तेज हो जाती है, उस समय एक बालक का शब्द भी उसे भगा देने को पर्याप्त होता है, उसकी सारी शक्ति संयमहीनता द्वारा अपहृत हुई होती है। होते होते वही व्यक्ति का पुरुष बन कर असफलताओं का केन्द्र बन जाता है। पीछे उसे पता चलता है कि उसने संयम को खोकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया है, उसका जीवन निष्फल है !

जातियों का उत्थान और पतन व्यक्तियों के आत्मसंयम पर ही अवलम्बित है। ज्यों ज्यों किसी जाति के लोगों मे संयम बढ़ता जाता है, उनमे कर्तव्य-पालन की क्षमता आती जाती है, उन्हे विषय-वासनाएं और प्रलोभन अपने गन्तव्य-पथ से विचलित नही कर सकते, उनके शत्रु उन्हे पतित करने के लिये छटपटाया करते हैं, किन्तु कुछ कर नही पाते। इस प्रकार वे बढते ही चले जाते हैं और एक दिन जाति उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो जाती है। उनका देश स्वतन्त्र, सुखी और समृद्ध हो जाता है। दूसरी ओर जैसे ही किसी जाति के लोगों मे संयमहीनता का समावेश होता है कि उस जाति की गति नाशोन्मुख हो जाती है। दूसरी जातियां उस जाति पर शासन किया करती है। जरा जरा से प्रलोभनों से बड़ी बडी जातियों का पतन इतिहास-वेत्ताओं से छिपा नही। राजपूतों की अवनति का कारण आत्मसंयम का अभाव ही तो था। अपनी शक्ति और सामर्थ्य की मदान्धता में अपनी इच्छाओं के वशीभूत हुए पृथ्वीराज ने जयचन्द्र को अपना शत्रु न बनाया होता तो भारत को पराधीनता का मुख क्यों देखना पड़ता ? दुर्दान्त सुलतानों के पतन का मुख्य कारण संयमाभाव ही

बतलाया जाता है। अकबर, जहांगीर आदि मुगल राजाओं की जड़ खोखली करने में प्रबल हेतु उनकी संयमहीनता ही थी। मुगल सेना की विलासिता ने ही अन्त मे मुगल साम्राज्य को पतन के गढ़े मे ला पटका था। शिवाजी के उत्तराधिकारियों के आत्मसंयमी न होने से इतना सुदृढ़ और शक्तिशाली महरठा-राज्य भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

संयम को छोड़ जब एक भौंरा बार बार मकरंद के लोभ मे नए नए फूल पर जा बैठता है तो उसे उस समय संसार का कुछ पता नहीं होता। वह उस रस मे ही अपने जीवन की सफलता मानता है। पर रस पीते पीते रात्रि के समय जब वह उस फूल मे बन्दी हो जाता है तब उसे अपने असंयम पर बड़ा क्रोध आता है और वह मुक्ति पाने के लिये तड़पा करता है; आत्म-संयम को यों तिलाञ्जलि न देने की प्रतिज्ञा करते करते किसी प्रकार समय बिताया करता है। सौभाग्य से यदि कोई दुर्घटना न हो जाय तो प्रातःकाल अंशुमाली के कर-जाल से विकसित उस फूल से उसे मुक्ति मिल जाती है; पर उसकी रसिकता पूर्ववत् ही रहती है। यों ही एक दिन फूल मे बन्द हुआ वह अभागा किसी मस्त हाथी द्वारा तोड़ कर खाए हुए उसी पुष्प समेत इस जगत् से सदा के लिये मिट जाता है। ठीक यही दशा संयमहीन व्यक्ति की हुआ करती है। सांसारिक प्रलोभनों के वशीभूत होकर जब उसे सङ्कटों और विपत्तियों को सहना पड़ता है तब तो वह पश्चात्ताप करता है और फिर वैसा न करने की प्रतिज्ञा करता है; परन्तु उससे मुक्त होने पर फिर उन्हीं वासनाओं में फँस जाता है तथा अनेकों दुःख सहता हुआ कभी यों ही काल-कवलित हो जाता है।

जब एक मनुष्य पहले पहल झूठ बोलता है तो उसे इस बात

का निश्चय होता है कि उसने जान बूझ कर असत्य कहा है, यदि वह चाहे तो सत्य बोल सकता है और वास्तव मे उस समय उसमें सत्य बोलने की शक्ति होती भी है; परन्तु कुछ काल के पश्चात् झूठ बोलना उसकी प्रकृति का एक अङ्ग बन जाता है, फिर उस व्यक्ति मे इतनी शक्ति नहीं रह जाती कि वह अपने आपको झूठ बोलने से रोक सके। इसी प्रकार सब से पहली बार सुरापान करने वाले को यह भरोसा होता है कि वह चाहे तो मद्य न पीये, किन्तु कुछ दिन बीतने पर सुरा पीना उसके स्वभाव में आ जाता है और तब वह शराब पीने को विवश हो जाता है। अपनी पड़ोसिन की निन्दा करने वाली एक स्त्री जब प्रथमवार निन्दा करती है तो उसे आत्मविश्वास सा होता है कि वह इस बार ही पराई निन्दा कर रही है, भविष्य मे पर-निन्दा से अपने आपको बचा सकेगी, किन्तु जब फिर समय आता है तो वह संयम खो बैठती है और परापवाद किए बिना रह नही सकती। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मसंयम कोई साधारण वस्तु नही है कि कोई जब चाहे उसे उपयोग मे ला सके। यह तो अभ्यास से प्राप्त होता है। छोटी छोटी बातों मे जब आत्मसंयम का अभ्यास किया जाय तब इसकी सिद्धि होती है। चारों ओर से सुनाई पड़ने वाली असफलता और निराशा की ध्वनि का मूल कारण जरा जरा सी बातों मे आत्मसंयम का अभाव ही तो है। मार्ग मे जाती हुई मा बहिनों की ओर ताके बिना न रह सकने वाले प्राणी यदि जीवन मे निराश न हों तो क्या हों? जो अपनी चक्षुरिन्द्रिय को ही वश मे नही रख सकते वे मन पर कैसे प्रभुत्व पा सकेंगे? जिह्वा के स्वाद मे जो विचलित हो उठते हैं उनसे बड़ी बातों में आत्मसंयम की आशा दुराशामात्र है।

आत्मसंयम के लिए अभ्यास किसी विशेष समय पर नहीं

किया जाता। इसके लिए तो सतत ही प्रयत्नशील रहना पड़ता है। आपको भूख लग रही हो, आपका छोटा भाई भी भोजन करने के लिए तत्पर हो; आप उस समय उसे पहले भोजन करने दीजिए, आत्मसंयम का यह 'अ, आ' है। घर के पास कुछ आश्चर्यजनक दर्शनीय वस्तु आई, आपके कानों में उसकी भनक पड़ी; यदि आप उसे देख लें तो कुछ बिगड़ता नहीं; पर उस समय अपने आपको रोकिये, उसे मत देखिये; इससे आपमें आत्मसंयम की एक विशेष शक्ति का संचार होगा। छुट्टी का दिन है, बड़ा सुहावना और मोदकारी। सारे साथी एक मनोरम चित्रपट देखने जा रहे हैं, अपनी आर्थिक दशा भी आज्ञा देती है; ऐसे समय मे चित्रपट देखने के विचारों पर विजय पाओ; देखो आत्मसंयम का कितना आनन्द आता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सिनेमा देखना कोई पाप है। वास्तव में हमें अपने पर अधिकार रखने वाला बनना है। जब हममे शक्ति है तो हम किसी के दास क्यों बनें। मोटर आदि सवारियों के होते हुए भी स्वेच्छा से कभी कभी पैदल चलने वालों को आत्मसंयम का रस पता चल सकेगा।

आत्मसंयम करने पर पहले पहल भावना में उबाल तो आता है, पर धीरे धीरे शान्ति की उपलब्धि होने लगती है, और तब मनुष्य जिस कार्य को हाथ मे लेता है वही सफल होकर रहता है। प्रसिद्ध प्रसिद्ध महात्माओं, वैज्ञानिकों, कलाकारों, व्यापारियों आदि के जीवनों को देखने से विदित होता है कि उनमें आत्म-संयम की कितनी अधिक मात्रा थी? ऐसे ऐसे झोंके आते रहे कि उनकी जीवन-नैया के बचने में सन्देह होने लगता था; किन्तु एक आत्मसंयम के सहारे ही वे सफल हो सके। संयमी पुरुष को अवनति और असफलता का भय इस प्रकार नहीं रहता जैसे भूमि पर खड़े हुए व्यक्ति को गिरने का भय नहीं होता। वह

हिमगिरि की भांति उत्तुङ्ग और जलधिवत् गम्भीर हो जाता है। विपत्तियों के बादल घिर घिर कर आते हैं और उससे टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। असफलताओं के जहाज उसमे ऐसे डूबते हैं कि उनका चिह्न तक अवशेष नहीं रहता। उसे सफलता ही सफलता मिलती चली जाती है।

—गोपालचन्द्र देव

(१९)

नम्रता

सरल, निष्कपट और गर्वरहित व्यवहार को नम्रता कहते हैं। नम्रता और विनय पर्यायवाची शब्द है। नम्र व्यक्ति में आयु, विद्या, पद, धन, शक्ति और अनुभव मे बड़े, छोटे अथवा समान मनुष्य के प्रति ऐंठ छोड़कर आदर और सम्मान का भाव विद्यमान होता है। दूसरों के कर्णविवर मे पहुँच अमृतरस घोलने वाले मधु से मधुर वचन नम्रता की पताका का काम देते हैं। दूसरे शब्दों में इसे झुक कर चलना और मीठा बोलना कहा जा सकता है। नम्रता एक विशेष गुण है। सौन्दर्य, शक्ति और सम्पत्ति के कृपापात्र व्यक्तियों मे नम्रता कम देखने मे आती है। एक सुन्दर पुरुष स्वभावतः गर्व मे भरा रहता है, उसमे नम्रता का अभाव होता है, क्योंकि घमण्ड और नम्रता दो विरोधी बातें हैं। बलवान् मनुष्य मे भी ऐंठ और अकड़ का होना स्वाभाविक ही है। इनके रहते नम्रता की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्पत्तिशाली व्यक्ति भी धन के मद मे दूसरों को तुच्छ समझता है। दूसरों को तुच्छ समझने का भाव नम्रता का सहज शत्रु है। पर उक्त तीनों प्रकार के लोगों मे यदि शिक्षा, सत्सङ्गति और स्वाध्याय आदि से नम्रता समाविष्ट हो जाय तो सोने मे सुगन्ध का काम देती है।

इससे मनुष्य मे चुम्बक सा आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। बालक से लेकर वृद्ध तक विनयी व्यक्ति से मिलने के लिए

उत्सुक रहते हैं। पशु और पक्षी भी नम्र पुरुष के संसर्ग की अभिलाषा किया करते हैं, निर्घृणों को तो देखते ही दूर भाग जाते हैं। कठोर पिता को देखते ही पुत्र छिप जाता है, सामने ठहर भी जाय तो थरथर काँपा करता है। क्रूर शिक्षक का नाम लेते ही छात्र काँप उठता है। निर्दय पति का शब्द सुनते ही स्त्री का दिल बड़े वेग से धड़कने लगता है। इसके विरुद्ध नम्र पिता के दर्शन करते ही बालक का मुख-कमल विकसित हो उठता है। सदय गुरु की चर्चा चलते ही शिष्य के मन मे आनन्द का स्रोत बहने लगता है। विनयशील स्वामी की याद आते ही पत्नी प्रेम-सागर मे निमग्न होने लगती है। यह सब कुछ अविनय और विनय का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

जो प्रचण्ड वायु-वेग विशाल वृक्षों तक को समूल उखाड़ फैंकता है वही नम्र घास को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकता। वायु का वेग आता है, घास झुक जाती है। वेग कम हो जाने पर फिर वैसे ही सीधी खडी हो जाती है। अकड कर खड़े हुए वृक्ष वायुवेग की चपेट को सहते मे समर्थ नहीं होते और जड सहित नष्ट हो जाते है। ठीक यही दशा विनयी और अविनयी लोगों की होती है। घोर सङ्कटों और कठिनताओं की तीव्र आँधी को नम्र लोग झुक कर सह लेते हैं और उसके पश्चात् फिर पूर्ववत् अपनी सत्ता बनाए रखते हैं। पर गर्व और ऐंठ मे भरे हुए अविनयी लोग उन्मूलित तरु की भाँति अपनी-स्थिति को ही गवाँ बैठते हैं। एक सूखी और कठोर टहनी को अल्प शक्ति मनुष्य भी तोड डालता है, किन्तु गीली और नम्र टहनी बड़े बड़े बलिष्ठों से भी नहीं टूट पाती।

जिस समाज के लोग विनयी हैं, उसका सङ्गठन अटूट है। एक दूसरे के साथ विनयशीलता का व्यवहार लोगों को प्रेम और

सहानुभूति की शृङ्खला मे बाँध देता है। व्यक्तियों मे दूसरों के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझने का स्वभाव पड़ जाता है। प्रत्येक मनुष्य विपत्ति-ग्रस्त की सहायता करने मे तत्पर दिखाई देता है। लोग पर-निन्दा से बचते हैं और आपस में मनोमालिन्य उत्पन्न होने का अवसर ही नहीं देते। ऐसे समाज के सारे कार्य उन्नति की ओर ले जाने वाले हुआ करते है। पर जो समाज अविनयी लोगों से भरा पड़ा है, उस समाज की एकता कृत्रिम और कच्ची समझो। उसमे सहानुभूति का नाम भी नहीं होता ! अविनय के कारण आपस में वैर-विरोध, कलह और ईर्ष्या-द्वेष की अधिकता से प्रेम-सूत्र टूक टूक हो जाता है। एक की बात दूसरा नहीं मानता। छोटे बड़ों का अपमान करते हैं। बड़ों के हृदय मे छोटों के प्रति स्नेह नहीं। चारों ओर मनमाने-पन और अशान्ति का कोलाहल सुनाई पड़ता है। इस प्रकार उन्नति एक कोरी कल्पना रह जाती है और समाज अधोगति के गर्त्त में गिर पड़ता है।

उस घर के अहोभाग्य हैं जिसमे गृह-स्वामी नम्र, गृहणी विनय शील और सन्तान विनयी है। सम्पत्ति, स्वास्थ्य और सौख्य उस सदन में सदा के लिए आवास बना लेते हैं। सभ्यता और सौजन्य का वहां पूर्ण निवास होता है। अपनी उन्नति के साथ-साथ वह गृहस्थ दूसरों को भी सुख और समृद्धि की ओर ले जाया करता है। पर जिस घर के स्त्री-पुरुष और बाल-बच्चे विनय-शून्य होते है, कलह-प्रियता उनकी एक सवर्तोमुखी विशेषता होती है। वह घर दुःख और दारिद्र्य का अड्डा बन जाता है। रोगों का मानों वही उत्पत्ति-स्थान हो। उदारता और सज्जनता का वहां प्राणान्त हो जाता है। कुटुम्बी, पड़ोसी और मिलने वाले भी ऐसे गृहस्थी से तंग आ जाते हैं। क्या घर और

क्या बाहर सर्वत्र लडाई-झगडा होता रहता है। लोग ऐसे नम्रता रहित गृहस्थी से घृणा करते हैं और उससे बच बच कर रहते हैं।

किसी भी जाति देश या समुदाय के नेता के लिये विनयी होना अनिवार्य है। नम्रता के बिना वह अपने अनुयायियों पर कुछ भी प्रभाव नही डाल सकता। लोगों पर उसके व्याख्यानों और लेखों का उतना असर नही होता जितना कि उसके विनय-पूर्ण स्वभाव का। जनता विनम्र नेता पर तन-मन-धन से न्योछावर हुई रहती है। पर अविनयी नेता को कोई नही पूछता। लोग उद्दण्ड नेता की बात सुनकर नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। उसके उपदेश वायु मे उडा दिये जाते हैं। समीपवर्ती कार्यकर्त्ता उसके द्वेषी बन जाते है।

नम्र स्वामी की बात को कोई सेवक टाल नही सकता। सेवक के लिये भी विनय एक बड़ी खूबी है और अपरिहार्य भी है। इसकी शक्ति से सेवक अपने स्वामी के हृदय पर अधिकार पा लेता है। जो सेवक उद्दण्डता छोड़कर स्वामी की आज्ञा को सदा शिरोधार्य करता हैं उसका स्वामी भी उसे सब प्रकार से सुखी और प्रसन्न रखने के लिये यत्नवान रहता है। इस प्रकार दोनों का निर्वाह भली भाँति होता जाता है।

नम्रता विद्वानों का तो अमूल्य अलङ्कार है। नाना विद्याओं से विभूषित व्यक्ति उतनी शोभा नही पाता जितनी कि नम्रता से। विद्याएं पढकर भी यदि मनुष्य मे विनयशीलता न आई तो उसका पढ़ना व्यर्थ गया। शिक्षा पाकर भी अविनयी रहने से तो अशिक्षित रहना ही उत्तम कहा जा सकता है। सच्ची विद्या नम्रता की उत्पादिका होती है। एक विद्वान् का कथन है कि विद्या से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से व्यक्ति सत्पात्र बन जाता है, पात्र व्यक्ति के पास धन-सम्पत्ति का आगमन होता है और फिर

धर्माचरण करता हुआ वह व्यक्ति सुख से जीवन व्यतीत करता है।

गुरु और छात्र दोनों नम्रता के उपासक होने चाहिये। नम्र गुरु से शिक्षा प्राप्त करने वाला शिष्य उत्साह और भक्ति से पूर्ण रहता है। दुरूह से दुरूह विषय भी उसके लिये अत्यन्त सुबोध और शीघ्रगम्य हो जाते हैं। उधर विद्यार्थी की नम्रता उसे शीघ्र से शीघ्र विद्या प्राप्त करने योग्य बनाती है। विनयी शिष्य को अध्यापक बड़े प्रेम और मनोयोग से शिक्षा देता है, उससे कोई बात छिपा नही रखता। इस प्रकार दोनों ओर से सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। एक ओर भी नम्रता का अभाव हो तो कभी भी पूर्ण सफलता नही मिल सकती।

स्त्री जाति में नम्रता एक स्वाभाविक सा गुण है। विनय की पूर्णता नारियों मे ही दृष्टिगोचर होती है। सन्तान के लालन पालन मे, उसे सुशिक्षित करने में और उत्तम स्वभाव तथा गुणों से युक्त बनाने मे माता का सब से अधिक हाथ होता है। माता मे यदि नम्रता का अभाव हो तो सन्तति कभी भी योग्य नही बन सकती। प्राथमिक संस्कार मनुष्य-जीवन की नीव होते है। माताके अनम्र होने पर बाल्यावस्था मे उत्तम संस्कारों का बीजारोपण नही होने पाता। यों एक प्रकार से उस बालक का जीवन अन्धकार-पूर्ण बना दिया जाता है। कहा जाता है कि माता अपने बालक को जितना एक दिन मे सिखा सकती है उतना उस बालक को बड़े बड़े विद्वान् एक वर्ष मे भी कठिनता से समझा सकते हैं। पर यह तभी हो सकता है जब माता नम्रता की उद्दीप्त प्रतिमा हो। क्रूर और कर्कशा माताओं से सन्तान का सुधरना एक अनहोनी बात है। स्त्री जाति का पत्नीरूप मे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। नम्रनारी के

पति की जीवन-नैया कभी मँझधार मे नहीं फँसती। उच्छृङ्खल और व्यसनी पति को उसकी स्त्री नम्रता से ही सुपथ पर चला सकती है। कठोरता तो जलती मे घी का काम करती है।

सामूहहिक रूप में यह कहा जा सकता है कि यह एक नैतिक गुण है। सचमुच व्यक्तियों और समाज के आचरण का बिगडना या सुधरना इसी पर अवलम्बित है। पर नम्रता और नम्रताभास मे बडा अन्तर है। केवल बाह्य रूप मे नम्रता दिखाने से सच्ची नम्रता के लाभों की प्राप्ति असम्भव है। जब तक मन मे क्रूरता, कुटिलता और कठोरता भरी पडी है तब तक बाहरी विनयशीलता व्यर्थ है।

नीच लोगों से मा-बहिनों का अपमान, अत्याचारियों द्वारा दीनों की दुर्दशा और लुटेरों से धन-सम्पत्ति का अपहरण होते देख जो नम्र बने रहते हैं वे नम्रता को लाञ्छित करते है। इसे विनय नहीं कहा जा सकता, यह तो कायरता है। नम्रता यदि उन्नति का राज-मार्ग है तो कायरता पतन की गहरी खाई। एक स्वर्ग सा सुख देती है, पर दूसरी रौरव नरक की सी यातना। पहली स्वीकार्य है, किन्तु दूसरी त्याज्य।

ऊपर कहा जा चुका है कि नम्रता एक नैतिक गुण है। तो यह स्पष्ट है कि राजनीति मे इसका सीधा प्रवेश नही हैं। राजनीति के कर्णधारों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के लिये तो इसकी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी प्रजा के एक साधारण व्यक्ति के लिये। पर राजनैतिक मामलों मे यह गुण गौण हो जाता है। वहां तो प्रायशः दण्ड और भेद नीतिया ही अवसर और आवश्यकतानुसार प्रधान मानी गई हैं। राजनीति की साम और दाम नीतियां नम्रता की ही प्रतिरूप है। ये दोनों नीतियां वहां अमुख्य रहती हैं। कहा भी है कि दण्ड सारी प्रजा

पर शासन करता है, दण्ड ही प्रजा की रक्षा करता है—उसे दुष्टों से बचाता है, इसलिए शासन-कर्ता दण्ड की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करे। इतना होने पर भी राजनीति मे भी नम्रता को सर्वथा छोड़ा नहीं जा सकता; क्योंकि नम्रता—साम और दाम-युक्त दण्ड और भेद दोहरा प्रभाव रखते है।

प्रयोजन-सिद्धि और नम्रता मे कार्य-कारण का सम्बन्ध है। विनय शीलता का अस्त्र हाथ मे लेकर इस सांसारिक समर में अवतीर्ण होने वाले व्यक्तियों की चारों ओर विजय ही विजय दिखाई देती है। क्यों न हो? इसकी चोट बडी सूक्ष्म और मार्मिक होती है। भभकते हुए अंगारे की भाँति क्रोध से लाल हुए मनुष्यों को विनय का जल तत्काल शीतल कर देता है। विपत्ति के भँवर मे घिरे हुए जीवों के लिये नम्रता जलयान का काम देती है। जीवन की विघ्न बाधाओं से सुरक्षित रखने के लिए यह एक सुदृढ़ ढाल है। यह सफलता, धन प्राप्ति, सुख और शान्ति की अनोखी कुञ्जी है। महात्मा विदुर ने कहा है कि "क्रूर मनुष्य की कमाई लक्ष्मी शीघ्र नष्ट हो जाती है और नम्रता से सञ्चित धन का पुत्र-पौत्र उपभोग करते है।" दूसरों को स्ववश करने का यह मन्त्र है। उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए पक्की सीढ़ी है। एक कवि का कहना है कि मनुष्य की गति नल-जल के तुल्य होती है। जिस प्रकार नलके का पानी मूल स्थान पर ऊंचाई से जितना नीचे की ओर जाता है आगे नलके में जाकर वह उतना ही ऊपर चढ़ता है; इसी प्रकार इस संसार मे मनुष्य जितना नम्र होकर चलता है, उतना ही वह उन्नत होता है।

गोपालचन्द्र देव

(१७)

आनन्द की ओर

अरे ! मिट्टी का मोर तू क्या करेगा ? अवश्य लेगा ! आनन्द आयगा, अच्छा, ले ले । अब भी उसी से खेल रहा है ! तुझे इसके साथ बडा लगाव है, उसका साथ नहीं त्यागता ! ऐ ! उसे भी दूध पिला रहा है ! खूब ! बडी प्रीति है ! यह तो, चूर चूर हो गया न ? पैर अटक गया था। कोई चिन्ता नही, और मिल जायगा ।

लो, देखो, कितना सुन्दर एक और मिट्टी का मोर है । क्यों जी ! देखते ही नहीं उधर कहां ध्यान है ? यह मोर तुम्हारा प्यारा और दुलारा है। इससे तुम्हारे आनन्द का पारावर नहीं रहा करता। वही तो है। न लूंगा ! कुछ नहीं ! मिट्टी का है ! गेन्द-बल्ले में इसकी क्या आवश्यकता । गेन्द-बल्ला ही लूंगा, खेलते हुए बड़ा आनन्द आता है। हा हा ! यह मिट्टी का मोर और मै ! छि! शर्म लगती है !

हैं ! मै भी विचित्र हूँ ! सदा गेंद-बल्ले के ही पीछे पडा रहता था ! तभी चोट लगी है न ! कभी न खेलूंगा ! कभी न हाथ लगाऊंगा। बाजार मे चाट खाने मे बडा मजा आता है । इतना आनन्द ! आ हा ! मन गुदगुदाता है ।

खूब चाट खाई । जरा स्वाद नहीं। पैसे व्यर्थ जाते हैं। शरीर की पुष्टि भी नहीं होती। तभी तो लोग मांस ! चखूं तो सही अरे ! बडा स्वादु है। बहुत आनन्ददायक है।

नहीं नहीं, सब ढोंग है। सब जीभ की करामात है। कहता था 'जरा पीलो' क्या हानि है। अधिक न सही नाममात्र की मात्रा। ऐ! है तो आनन्द की वस्तु। पर मैं तो मांस में बड़ा आनन्द देखता था। अ ह ह! यह कहां छिपी थी? अरे! बड़ी मस्ती आती है! क्या खूब स्फूर्ति मिलती है! जगत् भर का आनन्द एक ओर और यह दूसरी ओर! सचमुच यह विजयी है। आहा! कितना आनन्द मिलता है?

मांस-मद्य क्या हैं इस सिनेमा के सामने? वैसे भी देख लिया है, छोड़ दिये हैं, अब तो बार बार देखने को जी चाहता है। 'और देखता भी हूँ। आनन्द का मानों समुद्र है। वाह! क्या खूब कला है? अब तो कुछ सूझता ही नही सिवाय सिनेमा के। सिनेमा का नागा और आनन्द का भण्डार लुटा देना एक तुल्य है। कभी न होगा, कभी न होगा।

हां! कभी कभी देख लेता हूँ। अजी, इसमें रक्खा ही क्या है? पैसे भी दो और आँखे भी गँवाओ। समय की हत्या भी करो। न यह न होगा। मै नही देखने जाऊँगा। छोड़ो, छोड़ो, मुझे घृणा है। आनन्द जाय भाड़ मे।

कायापलट सी हो गई। कहा ठोकरे खाता रहा। अध्ययन में इतना आनन्द है। यह तो अभी पता चला। मुंह छिपाने तक का नहीं रहा। गणित का एक प्रश्न हल करने मे जितना उल्लास है, उतना इतस्ततः कही न होगा।

पढ़ना-लिखना! हाँ, यह कुछ है। पर सारी बात तो उपाधि की है। जिस समय उपाधि मिलेगी! आहा! आनन्द की पराकाष्ठा होगी! तब आनन्द का अक्षय कोष पूर्ण हो जायगा! मुझसा सुखी दुनिया मे कोई न होगा!

क्यों रे मन! कभी तृप्त भी होगा, या यो ही चक्कर कटवाएगा!

ार उपधियाँ मिली हैं और चार ही प्रमाण-पत्र ! अच्छा, काल कर देखूं तो उसमे कुछ आनन्द है भी या यों ही प्रतारणा ! है ! इन्हे देखकर तो क्रोध आता है ! जलन उठती है ! क्या हे लेकर चाटूं ! कब से काम ढूंढ रहा हूँ, पर कोई काम नहीं ला । उपाधियाँ मिल गई हैं, कोई कार्य भी मिल जाय तो बड़ा ानन्द आए । उस दिन के बाद फिर आनन्द ही आनन्द होगा ।

पर मेरा सोचा तो अयथार्थ निकला । सच्चा आनन्द तो मित्रों है । काम मिल गया है, सौ रुपये तीस दिन के बाद मिल जाते , अच्छा है । पर आनन्द मनाने का भी तो कोई साधन होना ाहिये । तभी तो मित्र बनाए हैं । प्रति दिवस उनके यहाँ जाता । हास-परिहास मे बडा आनन्द आता है ।

यह हास-परिहास ही किया करोगे या कुछ स्थायी आनन्द ा भी सामान जुटाओगे । हां, हा, ले आओ, ले आओ । ताश तो हदानन्द दायक खेल है ।

मित्र ! भई ! ताश बच्चों का खेल है ! शतरञ्ज चौपट आदि छ आरम्भ करो, भली भाँति दिल भी बहले । वाह वाह ! ातरञ्ज वास्तव मे शाही खेल है ! बड़ा आनन्द आता है । भोजन हर कर करूंगा । एक बाजी हो ले । मत बुला, फर्जी पिट रहा । लो भई, शह ।

न न, कुछ नहीं । लड़ाई-झगडा हो जाता है । भ्रमण मे दय बहुत आनन्दमग्न रहता है । कभी इस पर्वत पर और कभी स चोटी पर जाकर जब चारों ओर दृष्टि दौडाई जाय चित्त मे ानन्द का उद्रेक उत्पन्न हो जाता है । क्या ही बहार है ? हरी री अधित्यका और उपत्यका मानों आनन्द रस की दो रिताएं हैं ।

पर तैरने मे बड़ा आनन्द है ! सम्भवतः सबसे अधिक

व्यायाम भी होता है और मन प्रसन्न भी रहता है। मै कहां कहां घूमा फिरा पर आनन्द-स्रोत अब मिला है ! जन्म पाना सफल हो गया।

अब तो उकता गया हूँ। कभी वर्ष मे एक दो बार तैरता हूँ ! अजी, डूबने का बडा डर रहता है, कोई बहाना नही बना रहा। आखेट मे इतना आनन्द होगा यह तो अब पता चला है। मै तो मांस नहीं खाता ! पर शिकार खेलने के आनन्द को भी नहीं छोड सकता।

जान बची लाखों पाए ! भाड़ मे जाए यह आखेट प्रियता, एक पल की भी देर होती तो मै न रहा हो जाता और केहरि महाराज जीभ चाट चाट आनन्द लेते होते। बाल-बाल बचा हूँ। ऐसे आनन्द को तो दूर से ही प्रणाम है !

अब तक छिपा रखा था, पर अब असम्भव है ! गुप्त न रख सकूँगा। तभी ! मैने भी कहा सच्चा आनन्द क्यों नही प्राप्त होता ! आनन्द का केन्द्र-स्थान तो यही है। किसी युवती से प्रेम हो जाय तो बस है। मै तो प्रेम करता हूँ, पर उत्तर कही से नहीं मिलता ! अनेक हाथ-पैर मारे हैं, जगह जगह भटका हूं। पर कोई नहीं पूछता, सब सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कोई कोई भीतर ही भीतर घृणा भी करने लगे हैं। मुझे पता है। तो क्या यह जीवन दुःखमय है ? नही।

आदर्श-विवाह से जीवन मे आनन्द सागर उमड़ आता है ! विवाह, विवाह ! सती-साध्वी कन्या मिलेगी। आनन्द मे नहा जाऊँगा, आनन्दरसपान करूँगा, आनन्द खाऊँगा, आनन्द पहनूँगा, आनन्द देखूँगा, आनन्द सुनूँगा, मै हूँगा, मेरी पत्नी होगी और होगा आनन्द। दस दिन भी नही बीते कि मन-मुटाव होने लगा है ! अब वह रस नही रहा। उसका दोप हो न हो

मेरा तो अवश्य है। अच्छा आनन्द को फिर से पुकारता हूँ। पर कहां? अब वह आनन्द नही! हा! आनन्द! अच्छा, कर्तव्य पालन ही सही।

घर अपना हो तो बडी चिन्ता मिटे। पर यह कैसे सम्भव होगा? इस अल्प वेतन से तो दो जन्म मे भी सम्भव होने का नहीं। सट्टा! क्या विचित्र नाम है? कहते हैं इससे लाखों लखपति बन गए। ठीक है, यही सही। जब एक चोखी राशि आयगी तब कितना आनन्द और कितना सुख मिलेगा!

वाह वाह! हँसो हँसो, खूब आनन्द लूटो! पूरा बीस हजार कमाया है! अब किसी की कुछ खुशामद नही। दासवृत्ति तो श्वानों का काम है! आज ही त्याग-पत्र देता हूँ।

अतीव आनन्द होगा। पर, क्या? इस बार तो पन्द्रह हजार देने पड़े! कोई बात नही, अब के सही। खूब खूब! बढ़ रहे है। दस-बीस-तीस-चालीस! पूरा एक लाख! ऐ! मै लखपति हूँ क्या है? कोई है रे?

घर बनवा रहा हूँ। यह बन जाय तो आनन्द का साँस लूं। कमाए का कुछ लाभ भी हो। बन रहा है। एक मास तक पूरा हो जायगा तब, हा तब, रहेंगे, खाएंगे, पीएंगे, प्रभुत्व जमाएंगे आनन्द का सच्चा उपभोग होगा!

अब केवल सवारी की कमी रही। तांगा ले लिया जाय। यह घोडा अच्छा है। सैर मे बडा आनन्द आयगा। अरे! दो ही दिन मे पेट भर गया, तृप्ति हो गई। लोग मोटरों मे मौज लूटें, हम इस तांगे मे, पुरानी सृष्टि के यान मे, थू! यह न होगा। वेग भी तो बहुत कम है। पीछे से आते हैं और फर्रर से आगे निकल जाते है! यह क्या? घच पच, घच पच! इससे समय का नाश और उसमे समय की बचत। वही ठीक है। यह मोटर

उत्तम रहेगी ।

ऊँहुक् ! यह कुछ नहीं चलती । दूसरी ले आओ । ले आए हो, ठीक । अब आनन्द रहेगा । सैर पर सैर होगी । कभी यहां और कभी वहां ।

पर कुछ उदासी है । दोनों व्यक्ति अकेले हैं । एक कूदता-फाँदता खिलौना चाहिये । दस बसन्त बीत गए, पुत्र का मुंह न देखा । दिन पर दिन बीत रहे है खलबली मची है, दिल बैठा जा रहा है । सब सुख तुच्छ है । कदाचित सारा आनन्द उसी मे निहित है ।

इस दुष्ट से बहुत तंग आगए हैं । प्रतिदिवस लोगों की बातें सुननी पड़ती हैं । धूर्त कहीं का, मानता ही नही । इसके मारे लोगों के नाक मे दम है । किसी गुरु को सौंपते हैं ।

पुत्र ही पुत्र होते जाते हैं ! सुलक्षणा कन्या की चाह है । कन्याएं सुशील और आज्ञाकारिणी होती हैं । उसके विवाह से नाम भी होगा । खूब खर्च करेंगे ।

अब तो अच्छे फँसे हैं । इस बार यदि सफलता न हुई तो हम तो इस सट्टे की बलि चढ़ गए ! ऐं ! असफलता ! हा ! सब चौपट हो गया ! मन की मन मे रह गई ! दारिद्र्य और दुःख ! अरे ! इससे तो वह नौकरी ही अच्छी थी । न किसी का लेना और न किसी का देना । दीवाला ! उफ् ! लज्जा ! घृणा ! सङ्कट ! सब एक साथ । आनन्द के पीछे दुःखातिरेक लाद लिया । अब कमर टूट जायगी । कही मुंह दिखाने योग्य नहीं रहा ! आत्म-हत्या कर लूँ ! न न यह ठीक नहीं ।

बहुत दौड़ चुका । सब आनन्द-पथ पर सवेग दौड़ रहे हैं । और मै दुःख की कन्दरा मे आ घुसा हूं ! लौटूं पीछे को ! अरे दौडने वालो ज़रा ठहरना । बताओ तो मै क्या करूँ । हाय !

कोई भी नहीं सुनता। अजी, तुम्ही जरा··· ! मरा रे ! निर्दय ने कितना जोर का धक्का मारा है ? भीड की भीड दौड़ रही है ! इनमे जाना ठीक नही। किसी प्रकार साथ साथ दौड़ूं।

जीवन की दौड भी अनोखी है ! फिर दौड़ने लगा हूँ ! अकेला नहीं, सब के साथ। बहुतों से पूछता हूँ, किधर जा रहे हो? कहाँ पहुँचना है ? पर कोई उत्तर नही देता। सुनूं, कुछ शब्द हो रहा है ! 'आनन्द की ओर' की एक क्षीण सी ध्वनि सुनाई पड़ रही है ! तो क्या सब आनन्द चाहते हैं ? ऐसा क्यों है ? किसी को भी अभी तक आनन्द प्राप्त नहीं हुआ क्या ?

क्यों जी ! तुम तो लडके हो। मेरे साथ कब के दौड़ रहे हो ! साथी का कुछ तो लिहाज करो ! बताओ तो सही, तुम क्यों दौड रहे हो ? कहते हो साइकल की आवश्यकता है, साइकल मे बडा आनन्द है ? हो सकता है ! और आप ! अजी ! ओजी ! बता दो न ! ठहरना तो नही पडता ! मै भी दौड रहा हूँ ! दौड़ते दौड़ते ही बता दो ! क्या ? साइकल से बीमारी हो गई है, तंग आ गए हो, मोटर की इच्छा है ! खूब ! पूरा मुकाबिला है ! औरों से भी पूछता हूँ। आप कुछ बताएंगे ? "मै राजा हूँ, राज्य से तंग आ गया हूँ, इसमे कुछ भी आनन्द नही, वन की ओर जा रहा हूँ।" श्रीमान् जी ! आप कहां जा रहे हैं ? 'इस देश को जीत कर राजा बनना है, राजा को पूरा आनन्द मिलता है'। ठीक !

किस किस से पूछूं और क्या क्या सुनूं ! अब तो नही दौड़ा जाता। ठहर जाता हूँ। ऐ ! यह कौन बैठा है। बड़ा विचित्र जीव है। ऐसा तो कभी नहीं देखा। पास जाकर देखता हूँ। अरे ! यह तो कोई उल्टा लटका हुआ है। महात्मा जी तो नही ? महात्मा जी प्रणाम। सुन तो लिया है। आने लगे हैं।

'आओ बच्चा बैठो। तुम ठीक पात्र हो। छोड़ो सब झंझटों

को, उनमे क्या रक्खा है ? दुःख ही दुःख । इस ओर आकर सच्चा आनन्द लो । बहुत अच्छा गुरु जी ! आपका कहा सिर-माथे पर ।

छिः ! इस तरह शरीर को सुखाने से क्या लाभ ? आनन्द मिला ही नहीं ! इच्छाएं तो वैसी ही हैं ! गुरुजी भी आनन्द की प्रतीक्षा मे हैं ! क्या उन्हे भी कुछ नहीं मिला ! विचित्र समस्या है।

पर यह सब झंझट क्यों ? क्यों आनन्द की ओर जाएं ? हम तो नहीं जाते ! इसके पीछे घूमते घूमते यह दशा हो गई ? भाड़ मे जाय 'आनन्द'। तो क्या आनन्दाभाव का उपभोग करना होगा ? यह तो असम्भव है।

समझ में नहीं आता आनन्द की क्यों इच्छा है ! तृषित-जन जैसे पानी की ओर दौडते हैं, वैसे ही हम इस आनन्द की ओर दौडते हैं, वैसे ही हम इस आनन्द की ओर झपटते हैं। यह प्यास क्यों है ? क्या सचमुच मुझे आनन्द चाहिए ? मै कौन हूँ ? क्या ये वस्त्र ! नही; क्या यह शरीर ? नहीं, क्या ये इन्द्रियां ? नहीं। यह आँख, नाक, कान, मुंह, हाथ, सिर, पैर, कुछ भी नहीं तो कोई "मै" का सिर-पैर भी है ? हां, ध्यान आया, यह मन ही 'मै' है । नहीं ! यह मन तो 'मै' का हैं, जैसे—मेरा मन नही मानता, मेरे मन मे। तब तो बुद्धि और मस्तिष्क भी न होंगे ! अच्छा, अच्छा एक नियत और चेतन भोक्ता 'मैं' और ही है। साधु, साधु। तो यह आनन्द की ओर क्यों भागता है ? क्या इसके पास आनन्द नही ?

ठीक, अब समझा । यह केवल सचित् है । इसके पास आनन्द नहीं। तभी तो आनन्द की खोज-खबर में रहता है, उसके पीछे मारा मारा फिरता है। जो वस्तु जिसके पास न हो उसी की उसकी चाह होती है। तो फिर इसे वह आनन्द बाहर

से भी तो नहीं मिलता? 'कैसे मिले? यह तो प्रकृति से मांग रहा है! जिसके पास नाम मात्र को भी नहीं! वह बिचारी तो केवल सत् है—नित्य है! चेतन भी नही, जड है! आनन्द कहां से दे? आनन्द तो परमात्मा मे है। वह सत् भी है, चेतन भी है और आनन्द भी है। आनन्द वहां मिलेगा।

अब आँखे खुली है। अन्धकार हट रहा है। प्रकाश दिखाई दे रहा है। मनुष्य स्वभाव से ही आनन्द-प्रिय प्राणी है, यह ठीक है। उसके पास आनन्द नही यह ठीक है। यह और भी ठीक है कि प्रकृति केवल सत् है, उसके पास आनन्द कहां? आनन्द का भण्डार तो 'वही' है। जीवन-यात्रा को उचित रीति से चलाने के लिए सांसारिक कर्तव्य-पालन आवश्यक है जिससे कोई बाधा न आए। पर कर्तव्य-अकर्तव्य को जाँचना जरूरी है। और उस आनन्द की प्राप्ति तो वहीं से, उस सच्चिदानन्द से ही होगी। दूसरी ओर यों ही दौड रहे हो। आओ 'आनन्द की ओर' भागे।

गोपालचन्द्र देव

(१८)

मितव्ययिता

मितव्ययिता का अर्थ है आय की अपेक्षा थोड़ा व्यय करना। मनुष्यों की आय एक सी नहीं और न ही वह निश्चित रूप से होती रहती है। आज कोई सौ कमाता है तो कल उसे दस की भी उपलब्धि नही होती। कोई मास-भर मे सहस्रों के वारे न्यारे कर लेता है; किसी को चालीस-पचास भी कठिनता से प्राप्त होते हैं। राजकीय नौकरियाँ भी एक निश्चित अवधि तक ही होती हैं। साधारण नौकरियों का तो कुछ निश्चय ही नही। लगी रहे तो पचासों वर्ष बीत जाएं; नही तो कल ही जवाब। कृषकों और जमीदारों की आय भी एक प्रकार से अनिश्चित ही होती है। कारीगर क्या जानता है कि कल भी पर्याप्त काम मिल जायगा। दिन भर बोझा ढोकर या कोई और परिश्रम करके मजदूरी पाने वाले की आय भी स्थायी नही। और तो और भीख माँगने वाले भी निश्चित रूप से भिक्षा नही पा सकते। इतना होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह व्यापार करता हो चाहे कृषि, कारीगर हो मजदूर अथवा भिखारी ही क्यों न हो अपनी आय का अनुमान लगा ही सकता है। नौकरी करने वालों का वेतन तो निश्चित ही होता है। उस अनुमानित या निश्चित अपनी आय मे से भविष्य के लिये कुछ सुरक्षित रख कर खर्च करना बुद्धिमत्ता है। कौन जानता है कि सर्वदा यही आय रहे, या इस बार भी खूब खेती हो अथवा नौकरी लगी ही रहे ? आय निश्चित भी हो तब भी उस मे से

कुछ न कुछ अवश्य बचाना चाहिये। जीवन मे अनेक ऐसे अवसर आ पड़ते है, कि आकस्मिक दुर्घटनाएं हो जाती है, बहुत बार रोग और अन्य शारीरिक आपत्तियां आ घेरती हैं; यदि पहले से मितव्ययिता का आश्रय न लिया जाय तो मानापमान का कुछ ध्यान न कर इधर-उधर हाथ फैलाने पडते है। उस समय सहायता मिलनी कठिन हो जाती है। मिल भी जाय तो मनुष्य ऋण के बन्धन मे ऐसा जकड़ा जाता है कि आयु-पर्यन्त अथवा पर्याप्त काल के लिये उस से मुक्त होने मे नही आता। जो मित-व्ययी नहीं है, वे प्राय: दूसरों के कर्जदार रहते हैं। ऋण से बढ़ कर कोई दु:ख और संकट नही है।

जिन्हे अपव्यय करने का स्वभाव पड़ जाता है वे सहस्रों और लाखों रुपयों को अल्पकाल मे ही स्वाहा कर देते हैं; पूर्वजों की गाढ़े पसीने की कमाई को यों ही गंवा बैठते है। अक्षय सम्पत्ति भी फिजूलखर्च लोगों की फिजूलखर्ची को सदा नही निभा सकती। आज तक सहस्रों की जीविका जिनके आश्रित थी वे ही अपव्यय के कारण कल दूसरों के सामने झोली फैलाए खड़े होंगे। द्वार-द्वार से धक्के और ठोकरे खाकर घृणा के पात्र वन जाएंगे। जीवन दूभर हो जायगा। जब लक्ष्मी-पुत्रों की भी यह अवस्था हो जाती है तो निर्धनों तथा थोडी पूञ्जी वालों के लिये अपव्ययी होना तो मानो स्वयं अपना शत्रु वनना, अपने पांव पर आपही कुल्हाड़ी मारना हैं। गरीबों को तो अपव्यय का स्वप्न भी नही देखना चाहिये, नही तो शीघ्र ही भूखे मरना होगा। इन्द्रियों के स्वाद की पूर्ति के पीछे उनका सर्वनाश हो जायगा। दरिद्र का जीवन एक तपस्या का जीवन है। वे ही समझ-बूझ कर खर्च न करें तो और कौन करेगा?

अपव्यय के मुख्य चार प्रकार हैं। एक व्यसनों के अधीन

होकर, दूसरा स्वार्थ के लिये या नाम कमाने के लिये, तीसरा ईर्ष्या-द्वेप से और चौथा साधारणतया । मद्य, अफ़ीम, भंग, गांजा, चरस, तमाखू आदि के सेवन मे; रेस, सट्टे आदि जूए तथा साधारण जूए मे और वेश्यागमन आदि दुराचारों मे लाखों रुपयों की प्रतिदिन फिजूलखर्ची होती है । स्वार्थ पूरा करने के लिये घूस का बाजार खूब गर्म है । इस उत्कोच ने लोगों को कहीं का नहीं रखा । नाम के पीछे, अथवा, नाक न कट जाय, इस डर से सामाजिक अपव्यय अत्यन्त भयङ्कर है, विवाहों मे जिस प्रकार का अपव्यय होता है, वह किसी से छिपा नही, समाज की अन्य अच्छी या बुरी प्रथाओं में मितव्ययिता की जैसी कमर तोडी जाती है उसे दीपक लेकर ढूढने की आवश्यकता नही। व्यापारिक दृष्टि को जाने दीजिये, शान दिखाने के लिये बडी बड़ी अट्टालिकाएं बनाने वाले फिजूल खर्च नहीं तो और क्या है ? कहावत भी प्रसिद्ध है कि 'बनिये की कमाई, व्याह और मकान ने खाई' । ऐसे बहुत से अपव्ययियों का हमने थोड़े ही समय के पश्चात दीवाला पिटते देखा है । दिखावे और शान के लिए वस्त्रों पर भी कुछ कम अपव्यय नही होता । अति हो जाने पर आभूषण भी फिजूलखर्ची के अन्तर्गत आ जाते हैं। म्यूनिसिपल चुनाव मे, आपस की ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता मे सहस्रों रुपयों पर पानी फेर देने वालों की संख्या आज कम नहीं है । द्वेष की तो कुछ पूछो ही मत । द्वेष के पीछे यदि अपव्यय न हो तो न्यायालयों की गिनती थोडी हो जाय । आज अदालतें ठसाठस भरी रहती हैं । मुकदमेबाजी मे जितनी फिजूलखर्ची होती है उतनी कदाचित और कहीं न होती होगी । किसानों और जमीदारों मे तो इस रोग के कीटाणु बड़ी भयंकरता से फैले हैं। उनकी दरिद्रता का यह अदालती-अपव्यय भी एक मुख्य कारण

है। भूमि बंधक रखकर और स्त्रियों के आभूषण बेच बेच कर वे कँगले हुए जाते हैं । ऋण और ब्याज से उनकी कमर टूट रही है। उन्हे ऋण से मुक्ति दिलाने के लिये प्रतिदिन नए नए कानून और नियम बन रहे हैं, पर उनकी दरिद्रता के वास्तविक कारणों की ओर किसी का भी ध्यान नही जाता। व्यापारी लोग भी इस रोग से बचे हुए नही । आपस की मुकदमेबाजी से उनका भी घोर आर्थिक पतन हो रहा है। हमे एक ऐसे व्यापारी का पता है कि जिसने किसी से दो हजार वसूल करने के लिये चार हजार रुपये ऊपर खर्च कर दिये। अपव्यय का चौथा 'साधारण' प्रकार अधिकांश लोगों मे विद्यमान है । भूख न होने पर भी कुछ अच्छी वस्तु बिकती देखकर मोल ले लेना, क्रय-विक्रय का स्वभाव पड जाने पर अथवा वस्तु सस्ती बिकती देख कर अनावश्यक वस्तुओं को खरीदते फिरना, पास ही जाना हो तब भी ताँगे या मोटर के पैसे खर्चना आदि अपव्यय इसी के अन्तर्भूत हैं। इसे फुटकर फिजूलखर्ची कहा जा सकता है। यह 'साधारण' अपव्यय असाधारण है। इसमे प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया भस्मसात् हो जाता है।

अपव्ययी को घर फूँक तमाशा देखने वाले की उपाधि दी जा सकती है । जिसकी आयु दस रुपये और खर्च नौ रुपये पन्द्रह आने है वह धनी है और जिसकी आमदनी एक हजार रुपये और खर्च एक हजार रुपये एक आना है उस-सा निर्धन और कोई न होगा । अपनी आय का कुछ न कुछ अंश बचाने वाला कभी परवश नही होता और जो अपनी आय का शतांश भी नहीं सुरक्षित रखते वे अपने बन्धन के लिये सुदृढ शृङ्खलाओं का निर्माण कर रहे हैं । जीवन की इस भीड़ भाड मे जिन्होंने मितव्ययिता की उंगली पकड़ी है वे कभी भी मार्ग नही भूले और जो इसे छोड़ बैठे हैं वे भटक रहे हैं।

यदि लोग अपव्यय की भयंकरता से पूर्णतया परिचित हो जाएं और उन्हें मितव्ययिता के लाभ पता चल जाएं तो वे अपव्यय से बचकर मितव्ययी बन सकते हैं। बालकपन मे नियमित और नियन्त्रित जीवन होने से 'व्यसनों मे अपव्यय' और 'साधारण अपव्यय' से मुक्ति मिल सकती है। कृषकों और जमींदारों मे सुशिक्षा का प्रचार करने से उनकी अदालती फिजूल-खर्ची का बहुत कुछ अन्त हो सकता है। आश्चर्य है कि सुशिक्षित लोग क्यों अपव्यय के पंजे मे स्वत. ही फँसते है ? इन सुशिक्षितों मे भी फिजूलखर्ची का रोग नष्ट हो सकता है यदि इनका रहन-सहन सादा और जीवनचर्या नियमित हो जाय। सामाजिक अपव्ययों को भी नियन्त्रण से दूर किया जा सकता है। पुरानी सभ्यता को कोसने से काम नहीं चलेगा। यह टी-पार्टियों का अपव्यय तो उन पुरानी प्रथाओं की फिजूलखर्ची को भी मात करता है। वास्तव मे जब तक आपा-धापी और निरंकुशता के सिर को न कुचल दिया जाय तब तक ऐसी व्याधियों का सर्वनाश वैसा ही असम्भव है जैसा कि सूर्योदय के विना रात्रि का अवसान। और इसके लिये कोई ऊपर से शक्ति न गिरेगी, स्वयं ही समाज के अङ्गरूप प्रत्येक व्यक्ति को अपना सुधार करना चाहिये।

व्यय करते समय जिसे कार्य की आवश्यकता और अना-वश्यकता का पूरा ध्यान रहता है वह अपना धन यों ही नही जाने देता। अपनी गाँठ को जो पक्का रखते है वे कभी विपत्ति मे नहीं फँसते। यह आय, इतनी सम्पत्ति, ऐसी नौकरी, यह आयु सदा नही रहेगी; अन्त समय, मितव्ययिता से बचाया हुआ धन ही साथी होगा, सहायक होगा, मित्र होगा। 'जो कमाया सो खाया और ऊपर से ऋण भी चढ़ाया' की आवृत्ति से जहाँ अपना भविष्य अन्धकारपूर्ण होगा वहाँ अपनी सन्तान भी

आपत्तियों के गहन-कानन में जा फँसेगी। अपने लिये, अपनी स्त्री के लिये, अपने बाल-बच्चों और कुटुम्ब के लाभ और सुख के लिये मितव्ययिता का आश्रय अत्यन्त आवश्यक है।

दान देना अपव्यय नहीं है। सत्पात्र को अपनी कमाई में से कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिये। इससे कई अच्छे कार्य सुधरते हैं और निर्धनों का पालन-पोषण होता है। अच्छे कार्य से सर्व-साधारण को लाभ पहुँचता है। दोनों की अन्तरात्मा की आशीष से दानी को लाभ ही लाभ है। पर कुपात्रों को दिया हुआ दान दान नही कहला सकता। उसे तो अपव्यय ही कहना ठीक होगा, क्योंकि उससे धर्म के स्थान पर पाप, सत्य की जगह असत्य, सदाचार के बदले दुराचार और व्यसनों की वृद्धि होती है। कमा सकने की शक्ति रखने पर भी न कमाने वाले को, दुराचारी को, हिंसक को, असत्यवादी को, पर-द्रव्य और स्त्री के अपहरण-कर्ता को, नृशंस को, देश-द्वेषी और व्यसनी आदि को जो द्रव्य दिया जाता है वह अपव्यय है। सुपात्र को दान देने से धन की फिजूलखर्ची नही होती, परन्तु अपनी शक्ति और सामर्थ्य को विचारना और परखना अतीव आवश्यक है। तात्कालिक प्रतिष्ठा और नाम के पीछे अपनी स्थिति को बिगाड लेना महा मूर्खता है। उस समय दानी कहाने की धुन मे पीछे जहाँ-तहाँ भटकना किसी प्रकार भी अच्छा नही कहा जा सकता। बाद मे अपमानित जीवन व्यतीत करने मे कुछ धर्म नही।

मितव्ययिता और कृपणता मे बड़ा अन्तर है। मितव्ययिता अनावश्यक वस्तुओं और परिहार्य स्थानों पर तथा त्याज्य बातों मे धन खर्च करने से रोकती है, और कृपणता आवश्यक वस्तुओं और स्थानों पर भी द्रव्य नही लगाने देती। एक से मनुष्य को सुख और आह्लाद मिलता है, दूसरी लोभ और ईर्ष्या को बढ़ाती

है। मितव्ययी मनुष्य भले कामों पर अपनी शक्ति के अनुसार खर्च करता है, पर कृपण व्यक्ति, भले और बुरे, दोनों मे से किसी पर भी व्यय नही करना चाहता। मितव्ययिता से जीवन की गाड़ी ठीक रीति से चलती है, कंजूसी से खीचतान कर। कंजूस व्यक्ति से तो फिजूलखर्च ही अच्छा है जो कभी भले काम पर तो दिल खोल कर व्यय कर देता है। मितव्ययी पुरुष तो नियम से अपना खर्च करता है, पर कृपण व्यक्ति नियम-अनियम को कुछ नहीं समझता। उसे तो केवल तिजोरी की पूर्णता पर ध्यान है। उसे अपना भी कुछ ध्यान नहीं। न ठीक खाता है, न पहनता है। इसी लोभ के मारे वह कभी कभी सारी की सारी पूंजी से हाथ धो बैठता है। नहीं तो उसके बाद उसकी सञ्चित धनराशि का इतर लोग उपभोग किया ही करते है। अतः मितव्ययिता स्वीकार्य है और कृपणता हेय।

क्या हँसी हँसी मे वस्तुओं को नष्ट कर देने वाले नवयुवकों के मन में अपव्यय की टीस उठती है ? माता-पिता की कमाई को फिजूल-खर्ची मे उड़ाकर स्वेच्छाचारिता का जीवन बिताने वाले विद्यार्थियों के दिलों मे कुछ तो दर्द होना चाहिये ! अपनी शान और दिखावे की मस्ती मे सारे समाज को अपव्ययी बनने का पाठ पढ़ाने वाले लक्ष्मी के दासों को कुछ तो सोचना चाहिये। पारस्परिक मन-मुटाव को यों ही न मिटा कर अपने को स्वाहा कर न्यायालयों का द्वार खटखटाने वाले कृषक-समुदाय के कानों पर जरा भी जूँ रेंगे तो क्या ही अच्छा हो ! विवाह आदि अवसरों की प्रथाधीन फिजूलखर्चियां समाज को अब और कहां तक ले जाएंगी ? इन सब अपव्ययों को शीघ्रातिशीघ्र दूर करके लोगों को सच्चे सुखी बनने का प्रयत्न करना होगा। मितव्ययिता से जीवन बिताने मे ही सब का कल्याण है।

—गोपालचन्द्र देव

(१९)

राष्ट्रभाषा हिन्दी कैसी होनी चाहिये

हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करवाने के लिये अब तक बहुत आन्दोलन हुआ है और हो रहा है। जो लोग देश की वास्तविक स्थिति से परिचित है और जिनमें भारत को उन्नत देखने की उत्कण्ठा है वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष मे हैं। प्रान्तों के विचार से संयुक्त प्रांत, आगरा और अवध, पञ्जाब प्रांत, विहार प्रात, महाराष्ट्र और मध्य प्रान्त पूर्णतः हिन्दी के समर्थक हैं। मद्रास मे इन थोड़े से वर्षों मे हिन्दी का जितना प्रचार हुआ है उसे देख कर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। गुजरात और बंगाल भी इस ओर प्रवृत्त हो रहे है। हिन्दू रियासतों मे भी हिन्दी का प्रचार दिनोंदिन उन्नति पर है। हिन्दी की ऐसी उन्नति देखकर इसके विरोधी भी बाधाएं डालने के लिये जी-तोड परिश्रम कर रहे है। कभी सर्क्यूलर निकलते है तो कभी विशेष नियम बनते हैं। बुद्धिमान् और दूरदर्शी मुसलमान हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लेने के पक्ष मे हैं, परन्तु ऐसे सज्जनों की संख्या थोडी है। आगे शीघ्र ही मुसलमानों की बहुसंख्या इसकी समर्थक हो जायगी, यह बात पूर्ण निश्चय से नहीं कही जा सकती। इस समय तो फारसी, अरबी और उर्दू के उपासक मुसलमान अधिक है। वे बोली उर्दू और लिपि फारसी को राष्ट्रभाषा बनाने की चिन्ता मे हैं। महाराष्ट्र की नागरी लिपि के तथा अन्यान्य प्रान्तों की नागरी-लिपि-सदृश लिपियों के चलन को एकदम बन्द कर के अपनी धींगामुश्ती

चलाना चाहते हैं। यह अनुचित है। हमें ऐसे गुजराती मुसलमानों का पता है जो सहज में ही हिन्दी के पत्रों को पढ़ लेते हैं, पर उर्दू उनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। कुछ भी हो, इस खींचातानी में भी हिन्दी दिनों दिन लोगों के हृदयों पर प्रभाव जमाती जा रही है; और राष्ट्रभाषा के सिंहासन की ओर अग्रसर हो रही है। रोमन लिपि और हिन्दुस्तानी बोली के समर्थकों को भी अपने मत के अधिक समर्थक नहीं मिल रहे, क्योंकि प्रान्तों की चालू लिपियां नागरी के बिगड़े स्वरूप ही हैं और उन उन प्रान्तों के लोग रोमन की अपेक्षा नागरी को विशेषता देने को तैयार हैं।

इस राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्वरूप कैसा होना चाहिये ? इस विषय में दो मत हैं। राष्ट्रीय व्यक्तियों का और बहुत से विद्वानों का यह सिद्धान्त है कि हिन्दी बहुत सरल अर्थात रोज की बोलचाल की होनी चाहिये, तभी इसे राष्ट्रभापा कहा जा सकता है। संस्कृत के शब्दों की भरमार करके उसे कठिन बना देने से उसका सार्वजनिक होने का गुण जाता रहेगा। उनकी दृष्टि मे भाषा के सम्बन्ध मे मुसलमानों को अपने साथ मिलाने का यही एक साधन है। दूसरे महानुभावों का यह मत है कि भाषा को खिचड़ी बनाने से कोई लाभ नहीं। फारसी और अरबी शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्दों की अधिकता श्रेयस्कर है।

पहले मत के पोपक कहते हैं कि 'भारतवर्ष' के स्थान पर 'हिन्दुस्तान' 'विशेष' की जगह 'खास', 'परिणाम' के बदले 'नतीजा' आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। 'इसमे कोई सन्देह नहीं कि देश की एक साधारण भाषा होने से देश की एकता मे बडी सहायता पहुँचेगी' इसको 'इसमे कोई शक नहीं कि देश की एक आम

भाषा होने से देश की एकता मे बड़ी मदद पहुँचेगी' यों लिखना चाहिये। उनकी भाषा के दो नमूने और देखिये—"अफ़सोस की बात है कि कुछ लोग अलग-अलग सूबों मे जबान के मुताबिक यूनिवर्सिटियां कायम करना चाहते हैं।" "एक आम भाषा से हम लोग एक-दूसरों के तरीके सीख सकते हैं, अपना तजुरबा बढ़ा सकते हैं और जिन्दगी के दायरे को चौडा कर सकते हैं। उसके जरिये से हम लोगों मे एक दूसरे के लिये हमदर्दी पैदा होगी।"

दूसरी कोटि मे दो प्रकार के लोग हैं। एक तो संस्कृत शब्दों की पुट से तैयार हुई सरल हिन्दी के पक्षपाती और दूसरे संस्कृत के कठिन से कठिन शब्द ठूंसने के समर्थक। पहले लोगों की भाषा इस प्रकार हो सकती है—'बर्फ से ढकी हुई आकाश तक ऊँची तथा मस्तक उठाए पर्वत की चोटियाँ', इसी को दूसरे लोग यो लिखेगे—'हिम-मुकुट-विभूषित, आकाश-चुम्बित तथा उन्नत-मस्तक गिरि-शृङ्ग'। अभिप्राय यह कि दूसरे प्रकार के लोग कठिन और सामासिक शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के लेखकों का साहित्य-संसार मे मान भी होता है। पर अब ऐसे लेखकों को अधिक गौरव नहीं मिलता और लेखकों का क्लिष्ट भाषा लिखने का विचार धीरे धीरे कम हो रहा है। दूसरी कोटि के दोनों प्रकार के लेखक एकमत होने लगे हैं।

इतना होने पर भी मुख्य दो मतों मे अभी तक मेल नही हो पाया। उर्दू-मिश्रित हिन्दी के पक्षपातियों और संस्कृत-गर्भित हिन्दी के समर्थकों के दृष्टिकोण अभी एक स्थान पर केन्द्रित नहीं हो सके। यह बिलकुल स्पष्ट है। यद्यपि उर्दू और हिन्दी का भेद एक प्रकार से केवल लिपि का भेद है, भाषा का भेद नहीं—हिन्दुस्तानी भाषा फारसी लिपि मे लिखी जाय तो उर्दू और नागरी लिपि मे लिखी जाय तो हिन्दी कहलाती है—ऐसा

विद्वानों का मत है; फिर भी इनमे जो स्पष्ट भिन्नता है वह किसी से छिपी नहीं।

पहले मत वालों की भाषा के उदाहरणस्वरूप उक्त उद्धरणों मे 'शक, आम, मदद, अफ़सोस, सूबा, जबान, मुताबिक, कायम, तरीका, तजुरबा, जिन्दगी, दायरा, ज़रिया, हमदर्दी' ये शब्द हिन्दी के 'सन्देह, साधारण, सहायता, खेद, प्रान्त, भाषा, अनुसार, स्थापित, ढंग, अनुभव, जीवन, चक्र, द्वारा (उपाय), सहानुभूति' इन शब्दों के स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उच्चासन पर बिठलाने वालों और देश के सूत्रधारों को चाहिये कि वे एक एक शब्द को लेकर देखें कि देश में किस किस शब्द को समझने वाले लोगों की अधिकता है। कौन सा शब्द थोड़े ही लोग समझते हैं । इस प्रकार तुलना करके शब्दों के प्रचलन और त्याग पर जोर डाला जा सकता है।

भारतवर्ष मे शहरों की अपेक्षा गांव अधिक हैं। शहरों मे तो जहां तहां उर्दू शब्दों का प्रयोग होता भी है, पर गांवों मे बहुत ही कम होता है । उनमे तो प्रान्तीय भाषाएं संस्कृत और प्राकृत के अपभ्रंश शब्दों से भरी पड़ी हैं। पञ्जाब की भी यही दशा है । उक्त शब्दों को यदि भारतवर्ष भर मे फिराया जाय तो 'शक, आम, जिन्दगी' की अपेक्षा 'सन्देह, साधारण, जीवन' शब्दों को समझने वाले बहुत मिलेंगे। बंगाल 'जरिया, दायरा, तजुरबा' आदि शब्दों को समझ सके, असम्भव है। वहां के अनपढ मुसलमान भी इन शब्दों को न समझ सकेंगे। बिहार, महाराष्ट्र गुजरात, मद्रास ट्रावनकोर के निवासी 'कायम, मुताबिक, तरीका' आदि शब्दों का अर्थ लगा सकेंगे इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती। लखनऊ, इलाहाबाद, देहली आदि नगरों के निवासी चाहे इनसे भी कठिन कठिन शब्दों को सरलता से

प्रयुक्त कर सकें। पर इधर उधर, गावों के लोगों के लिये ऐसे शब्दों का समझना कठिन है।

जब ऐसी दशा है तो बलात् विदेशी शब्दों को ठूँसना बुद्धिमत्ता का काम नही। विदेशी भाषाओं के—चाहे अंग्रेजी के ही हों— हिन्दी मे प्रचलित शब्दों को हम विदेशी नही कह सकते और उनके स्थान पर ढूंढ ढूंढ कर और काट-छील कर संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता, पर जो संस्कृत शब्द प्रचलित है और जिन्हें युक्तप्रान्त तथा पञ्जाब के शहरों को छोड़ कर देश भर के प्रत्येक गांव और नगर में समझा जा सकता है, उनके स्थान पर उर्दू शब्दों के प्रयोग का किसी प्रकार भी समर्थन नयी किया जा सकता। और हिन्दी का शब्द-कोष अभी भरा भी नहीं। उसे अभी और भाषाओं से बहुत कुछ लेना है। आवश्यकता पडने पर संस्कृत को छोड़ अन्य भाषाओं का द्वार खटखटाने से क्या लाभ ? यह तो 'अपना लाल गॅवाय के दर दर मांगे भीख' वाली बात हुई।

बम्बई मे जाकर 'रैस्टोरैन्ट' के लिये 'विश्रान्ति-गृह' लिखा देखकर संस्कृत शब्दों की व्यापकता का पता चल जाता है। उसकी जगह 'आरामगाह' या ऐसा ही कोई और शब्द बम्बई, बंगाल, मद्रास, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों मे आदर पा सकेगा, इसमे सन्देह है।

उर्दू की पुट के समर्थकों का कहा मान लिया जाय तब तो हिन्दी का इतने वर्षो का उन्नति-क्रम निष्फल गया, उसे फिर पीछे की ओर लौटना पड़ेगा। लैजिस्लेटिव एसेम्बली, होम मेम्बर, एग्जेक्टिव कौन्सिल आदि शब्दों के स्थान पर व्यवस्थापिका सभा, गृह सदस्य, कार्यकारिणी सभा आदि शब्दों की रचना और उनका प्रचार व्यर्थ गया। उनके स्थान पर

उर्दू मे सम्भवतः अभी तक कोई शब्द प्रचलित नहीं हैं। शब्द बंगाल, महाराष्ट्र, मद्रास, गुजरात आदि प्रान्तों में ज्यों के प्रयुक्त होते है। यदि यह कहा जाय कि अंग्रेजी के शब्द कर लिये जायंगे, तो क्या लैजिस्लेटिव एसेम्बली आदि 'आमफहम' हैं। 'जो हिन्दी मे प्रचलित हो चुके हैं वे रहें,' यह कहा जाय तो प्रचलित तो सब ही हो चुके है। जो प्रयुक्त है वे प्रचलित ही है। हां, अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग ि भी मान्य नही। वैज्ञानिक पुस्तकों मे किस प्रकार के श। काम चल सकेगा, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। यदि स।व लेखों मे संस्कृत का बिलकुल त्याग कर दिया गया वैज्ञानिक पुस्तकों मे संस्कृत शब्दों से, जिनके बिना निर्माण असम्भव होगा, काम लिया गया तो साधारण के लिये वैज्ञानिक पुस्तकों की भाषा अत्यन्त दुरूह हो ज इस दुरंगी चाल से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी।

हिन्दी भाषा मे संस्कृत के शब्दों की अधिकाधिक भर्ती है, लम्बे लम्बे समस्त शब्दों का प्रयोग हानिकर है, भाषाओं के शब्दों का त्याग घातक है; किन्तु अपनी माता छोड़ औरों से भीख मांगना, अपनी जननी का निरादर परायों को मस्तक पर चढ़ाना और भी नाशकारी है। की बोलियों मे अधिकाधिक प्रयुक्त होने वाले संस्कृत के शब्द प्रयोग हिन्दी के गौरव और प्रचार को बढ़ाएगा। हिन्दी को युक्तप्रान्त के और पंजाब के नगरों की ही भाषा नहीं चाहिये। भाषा को सरल से सरल बनाना भाषा की को बढ़ाना है, परन्तु उसे भाषाओं की खिचड़ी बना कुछ भी बड़ाई नहीं।

—...।लचन

(२०)

मनुष्यत्व और पशुत्व

इन दोनों मे बड़ा अन्तर है। इनका विवेक करना अनिवार्य है। मनुष्य के लिये एक उपयोगी है, दूसरा अनावश्यक। मनुष्य के कर्तव्य को मनुष्यत्व कहते है, पशु के या पशु जैसे कामों को पशुत्व कहा जाता है। परमार्थ और स्वार्थ के कार्य मनुष्यत्व हैं; केवल स्वार्थ के कार्य पशुत्व हैं। आपत्तियों मे धीरता मनुष्यत्व है और अधीरता पशुत्व है। सहिष्णुता और उदारता का भाव मनुष्यता मे गिना जाता है, अक्षमा और अनुदारता पशुत्व मे। आत्माभिमान तथा आत्मगौरव मनुष्यत्व के अङ्ग हैं, इनके विरुद्ध पशुकोटि है। कहा भी है—"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है, वह नर नहीं नर-पशु निरा है और मृतक समान है।" स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन मनुष्यता है और पराधीनता तथा दूसरों के आश्रित रहना पशुता है। चोरी और घूसखोरी से बचने वाले मनुष्य हैं, चोर और घूसखोर पशु हैं। स्वच्छता मनुष्यत्व है, अपवित्रता पशुत्व। संयम और अनासक्ति मनुष्य का काम है, इन्द्रिय-निग्रह का अभाव और लम्पटता पशु के काम है। विवेक और प्रज्ञा का आश्रय मनुष्यत्व है; अविवेक और मूर्खता का सहारा पशुत्व है। क्या परा और क्या अपरा—दोनों विद्याएं और सुशिक्षा मनुष्यत्व है; अविद्या और कुशिक्षा पशुत्व हैं। यथार्थ कथन और सत्य मनुष्यता है; झूठ और छल-कपट पशुता है। क्रोध का रोकना मनुष्यत्व है और क्रोधा-

धीन होना पशुत्व। दूध, अन्नादि का सेवन मनुष्यता है और घासाहार तथा मांसाहार पशुत्व। कृतज्ञता मनुष्यता है और कृतघ्नता पशुत्व। मनुष्यत्व ग्राह्य है और पशुत्व त्याज्य। पहला प्रकाश है और दूसरा अन्धकार।

खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना, सुख-दुख का अनुभव करना आदि कार्य मनुष्य और पशु के एक जैसे हैं। विवेक-पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन ही मनुष्य को पशु-श्रेणी से पृथक् करता है। जिनमे यह बात नहीं उनके पशु होने मे क्या सन्देह है? केवल अपने शरीर के ढाँचे की भिन्नता सोच सोच कर पशु से अपने को भिन्न मानना कहाँ तक उचित है? यह सोचने की बात है।

फिसल कर गिरे हुए को सहारा देकर उठाना मनुष्यत्व है एक ओर खड़े खड़े उसकी हँसी उडाना पशुत्व है। दीनदुःखी को कुछ सहायता पहुँचाना मनुष्यता है और उसकी ओर कुछ भी ध्यान न देना या उससे घृणा करना पशुता। दानी पुरुष को कौन मनुष्य न कहेगा? कृपण व्यक्ति क्या पशुत्व की ओर अग्रसर नहीं हो रहा? घर का और कुटुम्ब का पालन-पोषण मनुष्यत्व का अङ्ग है और इनकी उपेक्षा पशुत्व का। भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना मनुष्यत्व है और उसे अर्ध-चन्द्र-गल-हस्त देना पशुत्व। अतिथि-सत्कार मनुष्यत्व-विभाग का कार्य है और अतिथि सेवा का अभाव पशुत्व-विभाग का। गौ आदि पशुओं की रक्षा और उनकी पालना मनुष्यत्व है और उनका त्याग पशुत्व। देश के कामों मे रुपया देना, देशी वस्तुओं का प्रयोग और देशी व्यापार मनुष्यत्व के पोषक हैं; देश के कार्यों में ध्यान न देना, विदेशी चीजों को प्रयुक्त करना और विदेशी वस्तुओं का व्यापार करना पशुत्व का समर्थन करना है।

युद्ध का नाम सुनते ही वीरता के भावों से भरपूर हो जाना मनुष्यत्व है और कायर बन कर छिप जाना पशुत्व। सेनापति को मरते या घायल होते देख कर भी रण मे डटे रहना मनुष्यता है और वहाँ से लोमड़ी की भाँति भाग जाना पशुता। देश-प्रेम से देश पर बलिदान होने वाले वास्तव मे मनुष्य है और देश-द्रोही तथा आक्रान्ता से मिल जाने वाले पशु से भी गये गुजरे। मनुष्यत्व के इच्छुक अपने देश मे अपना ही राज्य रखते हैं और पशुत्व के प्रेमी दूसरों के अधीन होकर भी रंगरलियां मनाते है। शत्रु की भयंकर सेना का सामना करना, तिल तिल कटाने के लिये तैयार हो जाना मनुष्यता है और इस ओर से उदासीन रहना पशुता। अपनी स्वतन्त्रता बचाने के लिये उद्यत होना मनुष्यत्व है और दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करना तथा उसके लिये बन्दूकों, तोपों, हवाई-जहाजों, गैसों, कूटनीतियों और अत्याचारों का प्रयोग करना, पशुत्व है। मिलकर चलना, मिलकर बोलना, एक हृदय होकर रहना, मिलकर खाना, इकट्ठे खेलना, शत्रु से एक साथ युद्ध करना, एक जैसे वस्त्र पहरना मनुष्यता है और इनके विरुद्ध आचरण करना पशुता है। फूट के कीटाणुओं से अपनी रक्षा करना मनुष्यत्व है और फूट से प्रेम पशुत्व।

ब्रह्मचर्य, पातिव्रत्य और पत्नीव्रत मय जीवन मनुष्य-जीवन है। जीवन की बाधाओं का दृढतापूर्वक सामना करना ही मनुष्यत्व कहा जा सकता है। विषय-वासनाओं में लिप्त जीवन पशु-जीवन है। जीवन की विघ्न-बाधाओं से घबरा कर गृहस्थ के कर्तव्य से विमुख होना मनुष्यत्व नहीं कहा जा सकता।

पशु को बांध कर रखना पड़ता है; क्योंकि वह निरंकुश है, चाहे जहां-तहां चला जाता है, इधर-उधर मुंह मार देता है। मनुष्य को भी क्या इस प्रकार निरंकुश वनकर दूसरों का वन्धन

स्वीकार करना चाहिये ? इससे क्या उसका मनुष्यत्व रह जायगा ? पशु के गले की रज्जु को एक हाथ मे पकड़ कर और दूसरे हाथ मे एक लकड़ी लेकर उसे जहां चाहे हांक कर ले जाओ। जिन लोगों का इसी प्रकार हाँके जाने का स्वभाव पड़ गया है, जिन्हे कोई भी जिधर चाहे ले जा सकता है—लगा सकता है, उन्हें भी पशु ही कहा जायगा। पशु को चाहे जितना मारो, चाहे जितना उसका अपमान करो, पीछे खाने को दे दो, वह पूँछ और कान हिलाने लगेगा। ऐसे नर-पशु भी बहुत से मिलेगे जो कुचले जाने और अपमानित होने पर भी जरा सी वस्तु मिलने पर चट सन्तुष्ट और प्रसन्न हो जाते है। कुत्ते को कितनी ही ताड़ना देने के बाद उसके सामने एक टुकड़ा डाल दो, वह झट से मार-पीट को भूलकर उसे खाने लगेगा। यदि हम भी ऐसे ही हैं तो हम कौन हैं, इसे स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं। पशुओं मे भी कई पशु मार-पीट और अपमान को नही सहते। वे कई दिन तक निराहार रहते हैं। कई पशुओं ने तो प्राण तक त्याग दिये, ऐसा सुना जाता है। पर इस प्रकार के पशु मनुष्य-कोटि के है। उनमे मनुष्यत्व का समावेश है, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जापान वाले भी बड़े चतुर हैं। चुङ्गी के भय से वे कपड़े के टुकड़े बना बना कर भेजते है। आजकल 'कटपीस' के क्रय-विक्रय का बड़ा जोर है। सैकड़ों दुकाने इसी जापानी 'कटपीस' के व्यापार के लिये खुल गई है। सहस्रों फेरी वाले कपड़ा घर घर पहुँचा आते हैं। स्त्रियों ने बड़ी 'बुद्धिमत्ता' से ऐसी सस्ती वस्तु का पता पा लिया है। एक-दूसरी को ऐसे ऐसे 'फैन्सी' वस्त्र पहने देख उससे भी अधिक 'फैन्सी' कपड़े को ढूँढ ही लाती हैं। पुरुष भी किसी से पीछे नही। पर यह सब क्या है ? भेडाचाल—पशुत्व का जीता जागता चित्र, मनुष्यत्व के संहार की पराकाष्ठा। 'एक

पड़ा जेहि 'खड्ड' मे सबै जाहि तेहि बाट' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। सोच-समझ कर, हानि-लाभ देखकर, उपयोगिता अनुपयोगिता का विचार कर जो काम किया जायगा वह मनुष्यत्व कहलायगा; इसके अभाव मे पशुत्व से कम नही।

पशु जहाँ स्थान मिला वही बैठ जाते हैं, जिस पशु का साथ हुआ उसी के सङ्ग हो लेते हैं। कूडा-करकट, गोबर कीच आदि की उन्हे कुछ परवाह नही होती, भले-बुरे स्वभाव का उन्हे कुछ ध्यान नही होता पशुओं की भाँति स्थानास्थान, पवित्रता-अपवित्रता का ध्यान रखने वाले लोग मनुष्यत्व से कोसों दूर हैं। मनुष्य सत्सङ्गति से मनुष्य और कुसङ्गति से पशु बन जाता है।

अन्तर्दृष्टि का मनुष्यत्व से गहरा सम्बन्ध है। अध्यात्म-चिन्तन से मनुष्य पशुत्व से हटकर मनुष्यत्व की ओर प्रवृत्त होता है। केवल माया और प्रकृति का उपासक पशुत्व को हृदय से चिपटाये हुए है। ऐसे व्यक्ति के पास दोषों से बचने का कोई मार्ग नही होता। उसे झूठे आकर्षणों से सुरक्षित रहने के लिये कोई उपाय नही सूझता। पशुत्व-प्रधान व्यक्ति भी यदि प्रतिदिन थोड़ा सा समय अपने कृत्यों पर दृष्टिपात करने मे व्यतीत करे तो उसकी पशुत्व की कालिमा धीरे धीरे धुलने लगेगी।

मनुष्यत्व और पशुत्व का बडा भारी संघर्ष है। इनका द्वन्द्वयुद्ध दिन रात होता रहता है। कभी यह जीतता हुआ दिखाई देता है और कभी वह। मनुष्यत्व के प्रबल होने पर उत्तमोत्तम कार्य होने लगते हैं और पशुत्व के शक्तिशाली होने पर निकृष्ट कार्य।

मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है। पशु का धर्म पशुत्व है। अपना धर्म छोड़ पराए निकृष्ट धर्म को अपनाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। मनुष्यत्व से जीवन-निर्वाह की योग्यता

उत्पन्न होती है; व्यक्तित्व बढ़ता है और सुख तथा समृद्धि की प्राप्ति होती है। शान्ति और स्वतन्त्रता कभी साथ नहीं छोड़ती। पशुपन स्वीकार करने से जीवनचर्या चरितार्थ नहीं हो पाती; व्यक्तित्व उत्पन्न ही नहीं होता, जो कुछ पहले से होता है वह भी नष्ट हो जाता है और दुख तथा दरिद्रता का एकच्छत्र राज्य हो जाता है। अशान्ति पशुत्व का प्रसाद है। मनुष्यत्व-रहित लोग शीघ्र परतन्त्र हो जाते हैं। इसलिए मनुष्य को मनुष्यत्व का—अपने धर्म का—ही आश्रय लेना चाहिए, पशुत्व का नहीं।

—गोपालचन्द्र देव

———

(२१)

रस

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय—पदार्थों मे ये छः रस होते है। जिनका आस्वादन रसना का विषय है। रस पानी को भी कहते हैं। रस एक औषधि भी है। गन्नेका रस बडा स्वादिष्ट होता है। पर इस लेख मे उस रस से प्रयोजन है जिसका आधार मन है, जो भाव के आश्रित है। किसी वाक्य को सुनकर या अभिनय को देखकर हृदय मे जो अकथनीय आनन्द उत्पन्न होता है उसे रस कहते है। रस काव्य की आत्मा है।

कवि अपनी बुद्धि से, कल्पना से अनुरक्ति से काव्य की सृष्टि करता है। बुद्धि, कल्पना, अनुराग ये तीन तत्त्व काव्य के प्राण है। ये तीनों तत्त्व इतने मिले-जुले होते है किइ नका विभाग करना असम्भव सा है। प्रतिदिन भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखने से मन मे विचारों का एक कोश इकट्ठा हो जाता है और बुद्धि परिपक्व हो जाती है। उसे जब एक कवि अपनी चातुरी से प्रकट करता है तो काव्य की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त जो बाते कही दिखाई नही देती, कवि का हृदय उनकी कल्पना करके काव्य का निर्माण करता है। इसके भी अतिरिक्त भावों की प्रधानता से भी काव्य की रचना होती है।

भाव चार प्रकार के होते है। स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव। जो भाव मनुष्य के मन मे सदा विद्यमान हैं उन्हे स्थायीभाव कहते हैं। जैसे—हँसी, क्रोध। जिसके सहारे भाव प्रकट होता है उसे आलम्बन विभाव और जिसके सहारे उद्दीप्त होता है उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। विभाव के द्वारा

मन मे उत्पन्न हुए विकार से शरीर पर जो प्रभाव पडता है उसे अनुभाव कहते हैं, जैसे—स्वरभंग, कम्प आदि। जिन भावों से स्थायीभावों की पुष्टि होती है उन्हे सञ्चारीभाव कहते है, जैसे—निर्वेद, ग्लानि आदि। ये चारों भाव मिलकर रस को प्रकट करते है।

कुछ विद्वानों का सिद्धान्त है कि रस उत्पन्न होता है। अनेक आचार्य रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, उत्पत्ति नही। पर स्थायी भाव की नित्यता को सभी स्वीकार करते हैं। रस की चाहे अभिव्यक्ति कहो चाहे उत्पत्ति, उसका मूल तो पहले ही विद्यमान है। एक विद्वान् का कथन है कि—

"स्थायी भाव, विभाव के सहारे उत्पन्न और पोषित हो कर अनुभाव रूपी वृक्ष बनता है। फिर संचारी फूल के समान क्षण क्षण फूल कर इन सब के संयोग से मकरन्द रूप रस बनता है। जो कि मधुप रूपी कवियों का जीवनाधार होता है।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्थायी भाव का परिपाक ही रस है। इतना ध्यान रखना चाहिये कि अभिनय करने वाले को और काव्य निर्माण-कर्ता को चाहे रस का अनुभव हो या न हो, दर्शक और श्रोता या पाठक का हृदय ही रस की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति का मुख्य स्थान है।

साहित्य के आचार्यों ने नौ रस माने है—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनके क्रमशः नौ ही स्थायी भाव माने है—रति, हँसी, शोक, क्रोध, उत्साह भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद। 'नाट्यशास्त्र' मे केवल आठ ही रस है, शान्तरस नही, क्योंकि नट—अभिनय-कर्ता मे वैराग्य का अभाव होता है, ऐसा भी एक मत है। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि नट मे रस की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति मानने से कुछ लाभ नहीं। रस का ठीक अनुभव तो दर्शक को होता

है। दूसरी बात यह है कि जब क्रोध आदि के अभाव मे भी अभिनयकर्ता क्रोध का प्रदर्शन कर सकता है तो शान्त रस को क्यों न दर्शा सकेगा ?

कुछ विद्वानों ने स्नेह स्थायी भाव मान कर वत्सल नामक रस माना है। अनेक पण्डित अनुराग को स्थायीभाव मान कर भक्ति को भी एक रस मानते है। पर कट्टरवादी विद्वान् 'स्नेह' और 'अनुराग' को 'रति' के अन्तर्गत मान कर इन दोनों रसों का निराकरण करते है। उनके मत मे 'रति' की प्रतिद्वन्द्विता मे 'स्नेह' और 'अनुराग' कोई विशेष सत्ता नही रखते।

यदि इन दोनों रसों की पृथक सत्ता स्वीकार कर ली जाती तो कुछ हानि न थी, पर अपने-अपने विचार ही तो है। जो भी हो इन दोनों को रसों मे कोई स्थान नही मिला। और नवरस ही मान्य है।

जो पदार्थ भावों को उत्पन्न और पोषित करते हैं उन्हे विभाव कहते है। विभाव दो प्रकार के है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव के सहारे भाव उत्पन्न होता है या प्रकट होता है, जैसे लकडी के सहारे आग प्रकट होती है। उद्दीपन विभाव से भाव भड़क उठता है, जैसे घृत आदि से अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

अनुभाव भावों के एक प्रकार के बाह्य रूप है। हृदयगत भावों के चित्र हैं। स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, विवर्ण, कम्प आदि अनुभाव के प्रकार है। संचारीभाव नदी की तरंगों के समान प्रकट होते हैं। इन्हे व्यभिचारीभाव भी कहते है। ये ३३ होते हैं—निर्वेद, ग्लानि, दीनता, शंका, त्रास, आवेग, गर्व, असूया, कोप, उग्रता, उत्सुकता, स्मृति, चिन्ता, तर्क, मति, प्रीति, हर्ष, व्रीड़ा, अवहित्था, चपलता, श्रम, निद्रा, स्वप्न, आलस्य, वैपथ, मद, मोह, उन्माद, अपस्मार, जडता, विषाद, व्याधि, मरण, धृति। बहुत से लोगों

का मत है कि मात्सर्य, दम्भ, उद्वेग, ईर्षा आदि और भी अनेक भाव हैं; इसलिये ३३ संख्या की मोहर लगा देनी अनुपयुक्त है। यों तो अनवस्था उत्पन्न हो जायगी। इसलिये मात्सर्य आदि का असूया आदि में अन्तर्भाव मान लेना चाहिये। विभावादि के अनुसार प्रत्येक रस का यदि पृथक् पृथक् विमर्श किया जाय तो उसका स्वरूप यह होगा—

शृङ्गार—'रति' इसका स्थायीभाव है। 'नायक-नायिका आलम्बन विभाव है। उद्यान, वसन्त ऋतु, वीणा आदि कामोद्दीपक साधन उद्दीपन विभाव हैं। स्मित आदि अनुभाव हैं। उत्सुकता, प्रीति, उन्माद आदि संचारीभाव है।

हास्य—'हँसी' इसका स्थायीभाव है। हँसोड़ व्यक्ति या बालक आलम्बन विभाव है। उनकी चेष्टा, वेष-भूषा, वचन आदि उद्दीपनविभाव हैं। खिलखिला कर हँसना, हाहा-हूहू करना अनुभाव है। चपलता, हर्ष आदि संचारीभाव है।

करुण—'शोक' इसका स्थायीभाव है। प्रिय व्यक्ति का मरण और इष्ट वस्तु का नाश आदि आलम्बन विभाव हैं। मृतक व्यक्ति और नष्ट हुई वस्तु के गुणों का स्मरण या सुनना अथवा तत्सम्बन्धी वस्तुओं का दर्शन उद्दीपनविभाव हैं। स्वेद, स्वरभंग, विवर्ण आदि अनुभाव है। निर्वेद, दीनता, चिन्ता, मोह, जड़ता, विषाद,व्याधि, मरण आदि संचारीभाव है।

रौद्र—'क्रोध' इसका स्थायीभाव हैं। शत्रु या अनिष्टकर्ता आलम्बन विभाव हैं। उनका गर्व से बोलना, कटाक्ष करना, प्रहार करना या ललकारना उद्दीपन विभाव हैं। नेत्र लाल होना, दाँत कटकटाना रौद्र के अनुभाव हैं। गर्व, कोप, उग्रता, कम्प आदि संचारीभाव हैं।

वीर—'उत्साह' इसका स्थायीभाव है। प्रतिनायक इसका

आलम्बन है। उसकी विरोधी क्रियाएं उद्दीपनविभाव हैं। अंग फड़कना, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। गर्व, असूया, मति, प्रीति, हर्ष, धृति आदि संचारीभाव है। 'रौद्र' मे कम्प और क्रोध होता है, 'वीर' मे नही, दोनों मे यह एक विशेष भेद है। वीरता कई प्रकार की है—दानवीरता, युद्धवीरता, दयावीरता, सत्यवीरता। कुछ लोग विरहवीरता को भी स्वीकार करते है। परन्तु उनका मत सर्वसम्मत नही।

बीभत्स—'ग्लानि' इसका स्थायीभाव है। रक्त, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि वस्तुएं आलम्बनविभाव है। इन वस्तुओं का वर्णन या इनकी दुर्गन्धि अथवा इन्हे फैलाना आदि उद्दीपन विभाव है। थूकना, छिः छिः करना, गर्दन हिलाना आदि अनुभाव है। अपस्मार, व्याधि आदि संचारीभाव हैं।

अद्‌भुत—"आश्चर्य" इसका स्थायीभाय है। आश्चर्य-उत्पादक वस्तुएं आलम्बनविभाव है। उन वस्तुओं का ढंग से वर्णन आदि उद्दीपनविभाव है। रोमाञ्च, कम्प आदि अनुभाव है। शंका, उत्सुकता, चिन्ता, तर्क, चपलता, हर्ष आदि संचारीभाव हैं।

शान्त–'निर्वेद' इसका स्थायीभाव है। वैराग्य उत्पन्न करने वाले पदार्थ या घटनाएं आलम्बन है। उन पदार्थो या घटनाओं का बार बार होना आदि उद्दीपन विभाव हैं। गहरा साँस लेना, काँपना आदि अनुभाव है। निर्वेद, प्रीति, स्मृति, धृति आदि संचारीभाव है।

क्रमशः रसों का एक-एक उदाहरण दिया जाता है—

शृङ्गार

मंजु उरोज सरोज कली सों लगी उर ज्यों भुज मे भुज लाई।
एकहि संग अनेक प्रकारनि प्रेम के रंग उमंग रचा ई॥
सींची मनो मम अंग-त्वचा, हिम आदि सों शीतल औ सुखदाई।

चन्द्रक, चन्दन, चन्द्रकान्त—पसेव, सिवाल, मृनाल, मिलाई ॥
—सत्यनारायण

हास्य

पिल्ला लीन्हे गोद मे, मोटर भई सवार।
अली भली घूमन चली, किए समाज सुधार ॥
किये समाज सुधार हवा योरुप की लागी।
शुद्ध विदेशी चाल ढाल सों मति अनुरागी ॥
मियां मचावैं शोर करैं अब तोबा तिल्ला।
पूत धाय के गोद खिलावें बीबी पिल्ला॥
—अन्नपूर्णानन्द

करुण

बीत गई अब रात, महा तम दूर हुआ है।
संकट का कुल हाय, न चकनाचूर हुआ है॥
आज भयंकर रुद्र रूप उपवास हुआ है।
हा 'हम सब का घोर नरक में वास हुआ है॥—नाथूराम शकर

रौद्र

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुप केहि तोरा॥
वेगि दिखाउ मूढ नत आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥
—तुलसीदास

वीर (युद्धवीर)

सैयद मुगल पठान, सेख चंदावत भच्छन।
सोम-सूर द्वै वंस, राव राना रन-रच्छन॥
इमि 'भूपन' अवरंग और एदिल-दलजंगी।
कुल करनाटक कोट, भोट-कुल हवस फिरंगी॥
चहुँ ओर वैर महि मेरु लगि, साहितने साहस झलक।
फिर एक ओर सिवराज नृप, एक ओर सारी खलक॥—भूपण

सत्यवीर

चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत व्यौहार।
पै दृढ व्रत हरिचन्द्र को टरै न सत्य विचार ॥— भारतेन्दु

दयावीर

दयाधर्म जान्यौं तुही, सब धर्मनु को सार।
नृप शिवि ! तेरे दान पै बलि हूँ बलि सौ बार ॥ —वियोगी हरि

धर्मवीर

हँसत-हँसत निज धर्म पै दियौ जु सीसु चढ़ाय।
धर्म-समर मे मरि भयौ अमर हकीकतराय ॥

—वियोगी हरि

दानवीर

सुरतरु लै कीजै कहा, अरु चिन्तामणि-ढेरु।
इक दधीचि की अस्थि पै वारिय कोटि सुमेरु ॥

—वियोगी हरि

भयानक

काटत कठोर अस्थि-पिजर की ग्रन्थिनु जो,
करै झिझनीलौ शब्द कड़कि कडाक सों।
नस-जाल छेदनु मे आतनु के भेदनु मे,
गत-श्रम होत है जो झडकि झडाक सों ॥
निरातंक बिचरै जो मांस-पुञ्ज चीरन मे,
जैसे पंक-जीरन मे सड़कि सडाक सों।
यह सोई खड्ग चण्ड तेरे अंग अंगनि कों,
खण्ड खण्ड करै आज फडकि फड़ाक सों ॥

—सत्यनारायण

और भी

काँपत कोपित केहरी मुहुँ बाये विकराल।
रहे धँधकि अंगार के प्रलय काल के लाल॥

—वियोगी हरि

बीभत्स

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि के मांस उचारत।
स्वान आंगुरिन काटि काटि कै खान विचारत॥
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ्यो सब को हियो।
मनु ब्रह्म भोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो॥

—भारतेन्दु

अद्भुत

बीसों का सिर काट लिया, ना मारा ना खून किया। —खुसरो

और भी

सत्ता पखुरियों मे फूलों की फूली, फूलों की सत्ता मे पाई पखुरिया।

—शकर

शान्त

समझी थी संयोग को, मन की भूल वियोग।
आज विवेकानन्द ने, दूर किया भ्रमरोग॥
वस्तु रूप से एक हैं, आकृति जाति अनेक।
देह देह मे जीव का, दीपक तुल्य विवेक॥ —शङ्कर

रसों मे कौन अच्छा है कौन बुरा; यह तो 'दधि मधुरं मधु मधुरम्' की तरह अपनी अपनी रुचि की बात हैं। एक शृङ्गार को ही "ब्रह्मानन्द सहोदर" समझता है तो दूसरा करुणा-रस से ही आह्लादित होता है तथा तीसरा वीर-रस से ही

ड़क उठता है। ऐसे भी जन है जो शान्त-रस मे ही परमानन्द ानते हैं। फिर भी साहित्य मे शृङ्गार, करुण और वीर रस धान है। शेष रस इन तीनों के पोषक होते हैं।

वर्णों और रसों का भी बहुत कुछ सम्बन्ध है। न, म, ल, स, ग्रादि कोमल वर्ण शृङ्गार, करुण और शान्त रस मे प्रयुक्त ोते हैं। रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों मे ट, ड, श आदि कठोर ार्णों का प्रयोग करना पडता है। द्वित्ववर्णों की अधिकता से ृङ्गार, करुण और शान्त रसों का रस जाता रहता है और ौद्र, वीर आदि रसों मे अधिक शक्ति आ जाती है।

उक्त भाव और रस समाज और जाति के विचारों के अनुकूल ही होने चाहिये। समाज और जाति के विरुद्ध होने पर े भाव और रस भावाभास और रसाभास हो जाते ैं। पूज्य व्यक्तियों का उपहास, निकृष्ट और अयथार्थ वस्तु मे ीति, द्वेष, शोक, उत्साह, भय, शृङ्गार के वर्णन मे वीरता की ात, वीररस मे शृङ्गार की बेतरह पुट, शोक के साथ हँसी की ाते आदि भावाभास और रसाभास के अन्तर्गत हैं। जैसे—

(क) उत गढ़-फाटक तोरि रिपु दीनी लूट मचाय।
इत लंपट! पट तानि तै परयौ तीय उर लाय॥

इस कविता को पढ़ने या सुनने वाले का हृदय कवि के इष्ट 'वीर' रस की ओर जाने की अपेक्षा किले के फाटक को तोड कर लूट मचाने वाले शत्रु को दण्ड देने के बदले, 'पटतानि तीय उर लाय' मे ही लीन हो जायगा।

और भी

(ख) करती है काम यार की आँखे 'जुलाब' का॥

रस की प्रधानता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। जाति, धर्म, समाज, राजनीति, इतिहास, विज्ञान-सब मे रसों का प्रभाव है। जाति

की वृद्धि और उत्कृष्टता मे शृङ्गाररस का हाथ है। धर्म शान्तरस की अपेक्षा रखता है। समाज के लिये हास्य, करुणा आदि रसों की आवश्यकता है। राजनीति और इतिहास मे वीर, रौद्र, बीभत्स रसों की प्रधानता है। विज्ञान मे अद्भुतरस का समावेश है। इस प्रकार रस सब विषयों मे व्यापक है।

पहले कहा जा चुका है कि हृदय मे जो अलौकिक आनन्द प्रकट होता है उसे रस कहते हैं। यहां आशंका होती है कि करुणा, बीभत्स आदि रस किस प्रकार आनन्द स्वरूप हैं? हास्य से जैसे हँसी आती है वैसे ही करुणा से शोक होना चाहिए। यह सत्य है कि इनसे अपना अपना स्थायीभाव प्रकट होता, परन्तु वह भाव देर तक नही रहता। करुणा आदि रसों के काव्य पढ़ने के पश्चात् जब मनुष्य का हृदय गदगद् हो जाता है उस समय वह कह उठता है कि-अहा! इस करुण-काव्य से आनन्द आ गया। पहले कुछ समय तक चाहे वह करुणा के स्रोत मे बहा हो, पर पीछे वह आनन्दमग्न होकर काव्य की प्रशंसा करने लगता है।

रस द्वारा किसी को उठाया और गिराया जा सकता है। जातियों के पतन और उत्थान मे इसका बहुत हाथ है। शृङ्गार-रस-प्रधान साहित्य से समाज कामुक होकर उत्साह और वीरता से शून्य हो जाता है। जिस साहित्य मे वीर-रस की प्रधानता होती है उसे पढ़ने वाले पराक्रमी होते है। हिन्दी-साहित्य मे शृङ्गार-रस अधिक है। आदि काल की थोडी सी अमूल्य कृतियों और भूषण की अप्रतिम रचना को छोड वीर रस कम दिखाई पड़ता है। हास्य, करुणा आदि रसों की भी वहुत न्यूनता है! प्रत्येक रस मे रचनाएं होने लगे तो साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण हो और भिन्न भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के लोग अपनी अपनी इच्छानुसार रस ले सकें।

—गोपालचन्द्र देव

(७२)

पूञ्जीपतियों की स्वार्थान्धता ही अशान्ति का कारण है

बड़े बड़े प्रासाद, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएं अनेक कारखाने, फैले हुए व्यापार, लाखों और करोडों की जागीर, चले हुए बैंक आदि-आदि पूञ्जीपतियों के क्रीडा-स्थल हैं। मनमाना रहन-सहन औद स्वेच्छाचारिता का आचरण इनके मुख्य गुण हैं। सम्पत्ति की मदान्धता मे इन्हे भला बुरा, कर्तव्य-अकर्तव्य कुछ नहीं सूझता। स्वार्थ और लोभ की ये प्रतिमाएं है। निर्धन, दीन, भूखे, नंगे और पीड़ित जनों का करुण-क्रन्दन इन्हे डावाँडोल करने मे समर्थ नही। किसी न किसी प्रकार केवल अपनी जेब भरने, अपनी इच्छा पूर्ण करने और अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की ही इन्हे चिन्ता है। वडी-वडी कोठियों और मकानों के स्वामियों की सैकड़ों मकानों से भी तृप्ति नहीं होती। कारखानों के अधिपति दिन दिन और और कारखाने खोलने की धुन मे हैं। बड़ी-बडी कम्पनियों के संचालकों का पेट भरने मे नही आता। जागीरदारों पर अपनी जागीरों को विस्तृत करने का भूत सवार है। प्रतिदिन सैकडों बीमा कम्पनियों और बीसों बैंकों की सत्ता और नाश का क्रम चल रहा है। जिधर दृष्टि डालो उधर ही पूंजीपति अजगर के तुल्य मुंह बाए हडपने को खड़े हैं। लाखों लोगों के जीवन-मरण का प्रश्न इनके हाथ मे हैं। लक्ष्मी इनकी ओर सिमटती चली जा रही है।

सर्वसाधारण और गरीबों का रक्त पी पी कर ये इतने मतवाले और इतने स्वार्थान्ध हो गए हैं कि इन्हें अब कुछ सूझता ही नहीं। लोगों का कराहना, स्त्रियों का रुदन, बालकों का बिलखना और सिसकना इनके लिये हँसी-खेल सा है। देश परतन्त्र रहे या स्वतन्त्र, पूंजीपतियों के लिये एक साधारण बात है। वे तो भोग-विलास और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन ऐसे भी व्यतीत करेगे और वैसे भी। उनकी प्रभुता, उनका दबदबा, उनका प्रभाव, उनका अधिकार वैसा ही रहेगा क्योंकि उनके पास धन है। वे पूंजी के बल पर कही भी और किसी अवस्था मे भी अपनी स्थिति को बिगड़ने नहीं देते।

पूंजीपति या सम्पत्तिशाली होना कोई पाप नही, यह ठीक है। और यह सम्पत्ति यदि एक के पास न होगी तो दूसरे के पास होगी; कोई न कोई तो पूञ्जीपति बनेगा ही। तो जिसके पास सम्पत्ति होगी वही आँखे फेर लेगा, उसके उदारता और दया के भाव उड जाएंगे। यह भी ठीक है। पर पूञ्जीपति मे यदि स्वार्थ के साथ साथ कुछ परमार्थ की भावना भी हो तो यह अशान्ति का कारण नहीं बन सकता। स्वार्थान्ध पूञ्जीपति तो घोरतम अशान्ति का कारण बन जाता है।

बड़ी बड़ी अट्टालिकाओं और कोठियों के स्वामी जब मजदूरों को काम पर लगाते है तो क्या मजदूरी देते है? नाममात्र। काम दिन भर करना पड़ता है और मिलता इतना है कि वे कुटुम्ब का पेट भी नही भर सकते! पूञ्जी पर आसन जमा कर बैठे हुए लोग कह देते हैं-'इतना लेना है तो लो, नहीं तो जाओ,' उन्हे पता है कि उनके पास धन है, उन्हे और अनेक मजदूर मिल जायेगे। मजदूर सोचते है—चलो थोड़े पैसों मे ही काम कर लो, सम्भव है और कहीं कुछ काम मिले या न मिले। परिणाम यह होता है

कि सारा दिन काम करने के पश्चात् जब ये घर जाते हैं तो घर की भूख और अशान्ति की अग्नि उन थोड़े से पैसों से शान्त होने के स्थान पर और भी भडक उठती है।

एक एक कारखाने मे सैकड़ों और सहस्रों मनुष्य काम करते हैं। दयालु और परमार्थी कारखानेदारों को छोड कर बहुत से कारखानों के मालिक सदा यही सोचते रहते हैं कि वे किस प्रकार लक्षाधिपति या करोड़ के स्वामी बने। मजदूरों से काम करवा कर और उन्हे कुछ पैसे दे-दिलाकर शेष सब कुछ हडपने का विचार उनका पहला सिद्धान्त होता है। अल्प-वयस्क बच्चे और गर्भवती स्त्रियों पर भी उन्हे दया नही आती। कोई छुट्टी नही, जरा भी अवकाश नही। उन मजदूरों का स्वास्थ्य, उनकी शिक्षा, उनका सुख सब एक साथ नष्ट हो जाता है। उनके हृदय अशान्त और निराश से रहते है। अल्पज्ञता और अविवेक के कारण भले ही वे कुछ मस्ती मे रहते हों, पर उनके हृदयों के भीतर प्रज्वलित वह अग्नि कभी न कभी उद्दीप्त हो ही जाती है। कारखानों की हडतालें, वहा के बलवे, उनके धरने—यह सब कुछ उसी छिपी आग का परिणाम है। चारों ओर अशान्ति की आग धधकने लगती है और वह आग लाठियों, गोलियों, यन्त्रणाओं आदि से भी शान्त नही होती। ऐसे काण्ड—क्या भारत और क्या योरप, क्या एशिया के अन्य देश और क्या अमेरिका—सर्वत्र ही घटित हुआ करते है।

स्वार्थ और लोलुपता के वशीभूत हुए पूँजीपति इस जगत् मे क्या कुछ नहीं करते? वे जघन्य से जघन्य कृत्य करने से भी नहीं हिचकिचाते। वे धन के नशे मे पापाचरण करने से भी नहीं डरते। उनके बन्धन-रहित जीवन का साधारण लोगों पर बड़ा बुरा प्रभाव पडता है। धनिकों की देखादेखी निर्धन लोग भी वैसे

ही अयुक्ताचरणों मे लिप्त हो जाते हैं। अमीरों की भांति वे भी व्यसनों मे फँस जाते हैं। सर्व-साधारण में स्वार्थ-लिप्सा की पराकाष्ठा हो जाती है। यों भी पूंजीपति अशान्ति फैलाने के साधन बनते हैं।

कौंसिलों आदि मे जाने के लिए पूंजीपति साधारण लोगों मे जितनी बुराई फैलाते हैं, लोगों को रुपए की झंकार पर नचा नचा कर अव्यवस्था और अशान्ति के अन्धकूप मे जिस प्रकार गिराते हैं वह कोई गुप्त बात नही। लोग बुराई की ओर प्रवृत्त होने का पाठ ऐसे ऐसे अवसरों पर ही सीखते हैं। तू-तू, मैं-मैं, गाली-गलौज, सिर-फुटव्वल और स्थायी वैर उनकी पूंजी की मदान्धता के प्रत्यक्ष फल हैं, इनसे चारों ओर अशान्ति फैल रही है।

अच्छी कम्पनियां और सच्चे बैंक भी है, पर बहुत सी 'नामी' कम्पनियां और अनेक 'प्रसिद्ध' बैंक धन के बल पर बड़े बड़े और आकर्षक विज्ञापन दे देकर लोगों को अपने झांसे मे ले आते है, और अपना स्वार्थ पूरा करते जाते है। उनके सञ्चालक धरोहर और अमानत को भी नहीं देखते। जो देखा वही अपनी विलास-सामग्री और स्वार्थ-साधक वस्तुओं पर खर्च कर दिया। अन्त मे भण्डा फूट जाता है और वे दिवालिया बन जाते है। वे साधारण लोगों की पूञ्जी को हड़प कर उन्हे कही का नही छोड़ते तथा अपने बुरे उदाहरण से लोगों मे लूट-खसोट और छल-कपट के भावों को फैलाकर सवत्र अशान्ति का विस्तार कर देते है।

जागीरदारों की अपनी जागीर और पूञ्जी को बढाने की लालसा खूब अशान्ति फैलाती है। साधारण लोगों को तो वे मनुष्य ही नहीं समझते। उनकी दृष्टि मे जीने का और सुखी

जीवन व्यतीत करने का अधिकार केवल उन्हीं को है; साधारण व्यक्तियों को नही। जिस किसी रीति से भूमि पर अधिकार करना, जागीर को बढ़ाना उनका वास्तविक ध्येय होता है। उसके लिये धोखा, झूठ, हत्या आदि पापक्रियाएं उनके लिये साधारण बातें होती हैं। स्वार्थ-पूर्ति के लिये पैसे के इशारे पर लोगों को नचाना उनके बाएं हाथ का खेल है।

बेकारी और भूख को उत्पन्न करने और फैलाने मे पूञ्जीपतियों की स्वार्थान्धता सर्व-प्रधान कारण है। एक व्यक्ति तो लाखों मे खेलता है, सैकडों नौकर-चाकर उसके आगे पीछे फिरते है, और दूसरा दाने-दाने को तरस रहा है, भूख के मारे उसके प्राण मुंह को आ रहे है, पास फूटी कौड़ी भी नही, इधर-उधर बाल-बच्चे हृदय-वेधी पुकार कर रहे है, कही कोई काम नही, कही कोई गुजारे का साधन नही। एक ही स्थान पर केन्द्रित धन लाखों को भूखा मार रहा है। पूञ्जीपतियों मे दान और दया के कुछ भी भाव हों तो इतने लोग बेकार न रहे, बहुतों की आजीविका चलने लगे, कुछ तो शान्ति फैले। पर यहां तो स्वार्थ का साम्राज्य है।

अपनी अपनी पूञ्जी को बढ़ाने के लिये किसी न किसी प्रकार से नए नए कानून, अनोखे अनोखे नियम बनवाए जाते हैं और भाँति भाँति के उपाय सोचे जाते है। साधारण जनता पर उनका बुरा प्रभाव होगा, वह पिस जायगी, उसमे दुःख और अशान्ति छा जायगी, इस बात की सम्पत्ति के उपासकों को कुछ चिन्ता नहीं होती। उन्हे तो अपने स्वार्थ से प्रयोजन है। इसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये वे देश के हानि-लाभ को भी नही सोचते।

पूञ्जीपतियों की स्वार्थान्धता राजनैतिक-अशान्ति का भी मूल-कारण है। जब अपने देश मे पूञ्जीपतियों की स्वार्थान्धता अन्तिम

सीमा को पहुंच जाती है और साधारण लोगों के रहने और खाने के लिये कुछ नहीं बचता तब उन्हे रहने के लिये भूमि और खाने के लिये भोजन ढूँढने के लिये बाहर की ओर देखना पडता है। तब और देशों पर चढ़ाइयाँ होती है। रक्तपात और विध्वंस का अध्याय आरम्भ होता है। मनुष्य, पशु, धन, अन्न आदि का इतना अधिक नाश होता है कि वर्षो तक उसकी पूर्ति नहीं हो पाती, अनाथ बच्चे और विधवा स्त्रियां रोती है। रोग, महामारियां, अकाल और लूट-खसोट की खूब बन आती है। जिधर देखो उधर ही प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगता है। इन संग्रामों का प्रभाव सारे संसार पर पड़ता है। उद्दण्ड जातियों के हौसले बढ़ जाते है। सर्वत्र अनन्त अशान्ति का पारावार उमड़ आता है। अपनी वस्तुओं की खपत के लिये, अपनी सम्पत्ति की वृद्धि के लिये देशों को समाचार-पत्रों द्वारा, राजनीतिज्ञों द्वारा या अन्य साधनों द्वारा युद्धार्थ उकसाना भी पूञ्जीपतियों का काम हुआ करता है। कहा जाता है कि गत यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ करवाने मे अस्त्र-शस्त्र की एक बड़ी भारी फैक्टरी के एक हिस्सेदार का भी हाथ था। वह हिस्सेदार राजनीति मे प्रधान स्थान रखता था अथवा राजकीय विभाग मे उच्च-पदाधिकारी था। उस पूञ्जीपति की स्वार्थान्धता ने कितना अनर्थ किया, कितनी खून खराबी करवाई, कितने घरों को बर्बाद किया, कितने धन-जन का संहार किया, कितनी अशान्ति फैलाई, यह सर्व-विदित ही है।

जिधर दृष्टि डालो उधर ही पूञ्जीपतियों के शिकञ्जे तैयार मिलते हैं। जहां जाओ वहीं इनकी स्वार्थ-साधना पूरी हो रही होती है। जिसे पूछो वही इनकी यन्त्रणा से उत्पीड़ित होता है। इनका पूञ्जी का हाथ इतना लम्बा और इतना दृढ़ है कि आकाश से तारे तक तोड़ लेता है। घर मे, बाजार मे, यात्रा मे कहीं

भी ये पीछा नही छोड़ते। इनका जाल बहुत घना है। पूञ्जी के नशे मे ये देश की स्वतन्त्रता तक का परित्याग कर देते है। उठने वालों को ये कभी उठने नही देते। आगे बढ़ने से ये सदा रोका करते है। इन्हे किसी विषय की चिन्ता है तो अपने स्वार्थ की, अपना धन बढाने की। इनकी स्वार्थान्धता अशान्ति का प्रसार करने का मुख्य कारण है। क्या ही अच्छा हो यदि इनमे सहानुभूति, दान, दक्षिणा और अनुकम्पा के भाव जागृत हों।

—गोपालचन्द्र देव

(२३)

सेवाधर्म

सेवाधर्म का ध्यान आते ही हृदय मे एक विशेष विश्व-प्रेम की झलक दिखाई देने लगती है। प्राणिमात्र की भाँति भाँति की अवस्थाओं को निरखकर अभिव्यक्त हुई करुणा के प्रभाव से पर-सेवा की भावना का उद्भव होता है। यह जीव दासवृत्ति और कर्तव्यपालन से भी सेवा मार्ग मे प्रवृत्त होता है। सेवाधर्म की सुरभि से जिनका अन्तरात्मा महक रहा है वे धन्य हैं। सम्पूर्ण जगत् की अवस्थिति सेवाधर्म के आश्रित है। आज पर-हित की भावना का समूल नाश हो जाय तो जगत् मे प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगे। सेवाधर्म की वीणा की झंकार सुनकर जीवमात्र के मानस-मृग अत्यन्त मुग्ध हो जाते है।

पर-सेवा और परोपकार की निर्मल सरिता मे निमज्जन करने वाले अन्तःकरण का मल शीघ्र ही धुल जाता है। उसका अहंभाव, उसकी स्वार्थ चिन्ता, उसका अविवेक समूल नष्ट हो जाता है। निज-पर का भेद छिन्न-भिन्न होकर एकत्व और समता के भाव जागृत हो जाते है। पंखविहीन और तृषित पक्षी को बड़े धीरे से उठा कर और शनैः शनैः उसकी पीठ पर हाथ फेर कर उसे जल पिला वायु में उड़ा देने वाले व्यक्ति की अन्तरात्मा को जिस सौख्य का अनुभव होता है उसका वर्णन अशक्य है। घायल पशु के घाव पर पट्टी बांध कर उसे पुचकार पुचकार कर उसकी पीड़ा को कम करने का प्रयत्न करने वाले मनुष्यों को कितनी शान्ति उपलब्ध होती है, इसे वे ही जानते हैं। भूखे को

भोजन देकर, नग्न को वस्त्र पहना कर, चक्षुविहीन को मार्ग दिखा कर, व्याधिग्रस्त को औषधि देकर, गिरे हुए को उठाकर, अन्धकार पूर्ण को आलोकित कर और रिक्त को पूर्ण करके सेवाधर्म को निभाने वाला पुरुष जगत्पूज्य होता है!

सेवाधर्म का भारतीय आदर्श इस समय यद्यपि विकृत अथवा नष्ट-प्राय हो गया है, फिर भी उसके ध्वंसावशेष पुकार पुकार कर उसकी महत्ता को प्रदर्शित कर रहे है। कीटपतंगों के लिए अन्न आदि, काक आदि के निमित बलि आदि की आधुनिक प्रथा उस अलौकिक और उत्कृष्ट सेवाधर्म की याद दिलाती है।

देश-सेवा, साहित्य-सेवा, दीन-दुखियों की सेवा, धर्म-सेवा माता-पिता, गुरु-भ्राता और पूज्य व्यक्तियों की सेवा, स्वामी की सेवा, अतिथि-सेवा तथा निज-सेवा आदि सेवा के अनेक प्रकार हैं। कोई भी सेवा हो सेवारूप मे उसका महत्त्व किसी से कम नही। हा, यदि उसके परिणाम और उसकी व्यापकता को दृष्टि मे रखकर साधारण और असाधारण का विभाग किया जाय तो और बात है।

देश-सेवा के दीवाने अपना सौख्य, धन-सम्पत्ति, घर-बाहर, कुटुम्ब, जीवन आदि सब कुछ देश के लिये अर्पण कर देते हैं। नाना प्रकार के उत्पीडन भी उन्हे अपने सेवा-मार्ग से विमुख नहीं कर सकते। उनके जीवन का उद्देश्य ही देश-सेवा होता है। देश को पराधीन और पीड़ित देख सकने मे वे असमर्थ होते हैं। उसे स्वतन्त्र करने के लिये, उसे उत्पीडन से मुक्त कराने के लिये वे कुछ उठा नहीं रखते। देश-सेवा के बदले मे प्राण भी जाएं तो कोई चिन्ता नहीं। इससे उनकी आत्मा को अनिर्वचनीय शान्ति प्राप्त होती है।

साहित्य-सेवियों का भी अपना विरला ही मार्ग होता है। किसी लोभ और स्वार्थ के अधीन होकर साहित्य-सेवा करनी

वास्तव मे सेवा नही कहला सकती। निःस्वार्थ भाव से साहित्य की सेवा करने वालों का जन्म कृतकृत्य है। ऐसे लोगों का साहित्य अमर होता है। सच्चे साहित्य-सेवियों का नाम कभी नही मिटता।

दीन-दुखियों की सुश्रूषा का कार्य अनन्त महत्ता रखता है। दुःखी की सेवा करने के लिये जिसके करों मे गति आती है, डूबते हुए को थामने के लिये जिसका हाथ आगे बढ़ता है वह सच्चा पर-हित-चिन्तक है। सेवा-धर्म की यथार्थ भावना की ऐसे अवसरों पर ही परीक्षा हुआ करती है। मलीमस और दुर्गन्धयुक्त प्राणी की सेवा के लिये जो सबसे आगे बढता है उससे बढ़कर वीर-हृदय तथा दृढ़चेता और कौन होगा? बालचर, स्वयंसेवक आदि का आधार सेवा-धर्म ही है। रातों जाग कर, पहरों भूखे रह कर, कोसों चल कर, घण्टों खड़े रह कर और मीलों भागकर हँसते हँसते सेवाधर्म मे निरत रहना उन्ही का काम है।

धर्म की सेवा मे सर्वस्व बलिदान कर देने वाले प्राणी सदैव जीवित है। उनका भौतिक शरीर चाहे विद्यमान न हो, और वह तो किसी का भी नही रहता, पर उनका यशःशरीर अपने पूर्ण सौन्दर्य और यौवन के साथ दिखाई देता है। वह न कभी जरा-जीर्ण होता है और न कालकवलित होता है। उसका ढांचा इतना सुदृढ़ और अनीश्वर है कि चोट पर चोट पड़ने पर भी उसका बाल बाँका तक नही होता। धर्म-वीर हकीकतराय की धर्म-सेवा इतनी अमूल्य है कि उसका दाम आँकना नितान्त असम्भव है।

माता पिता की सेवा करना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। कितने दुःख उठाकर, किनी आपत्तियाँ झेलकर वे अपनी सन्तान का पालन करते है। उनके उपकारों का, उनकी सेवाओं का बदला किसी प्रकार भी चुकाया नही जा सकता। इतना होने पर भी यदि

मनुष्य विद्या, यौवन, धन आदि की मदान्धता मे उनका सम्मान और उनकी सुश्रूषा नही करता या यों ही गर्व मे अथवा मूर्खता से उनकी सेवा से मुंह मोडता है तो वह महाकृतघ्न है। श्रवणकुमार सा मातृ-पितृ-सेवा का भाव हृदय हृदय मे जाग उठे तो यह जगत् सुख और शान्ति का आगार वन जाय। गुरु-सेवा के बिना विद्यालाभ कठिन होता है। विद्याप्राप्त करके भी जो गुरुओं की, शिक्षकों की, सेवा मे मन नहीं लगाते उनकी विद्या निष्फल जाती है। इसी प्रकार भाई-बहिनों की सेवा भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। यतिश्रेष्ठ वीरवर लक्ष्मण की नि.स्वार्थ भ्रातृ-सेवा इसका अनुपम उदाहरण है। चौदह वर्ष पर्यन्त सर्वविध राम-सेवा मे निरत रहने वाले उस सच्चे सेवक की उच्चता अप्रतिम है। दिन-रात, सम्पत्ति-विपत्ति मे राम और सीता की सेवा के रंग मे रंगे लक्ष्मण के सम्बन्ध मे कविवर मैथिलीशरण गुप्त जी के निम्नलिखित पद्य भरपूर प्रकार डालते हैं—

> "पञ्चवटी की छाया मे है सुन्दर पर्णकुटीर बना,
> उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना।
> जाग रहा है कौन धनुर्धर जबकि भुवन भर सोता है,
> भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टिगत होता है॥
> किस व्रत मे है व्रती वीर यह निद्रा का यों त्याग किये,
> राजभोग के योग्य विपिन मे बैठा आज विराग लिये।
> बना हुआ है प्रहरी जिसका उस कुटीर मे क्या धन है?
> जिसकी रक्षा मे रत इसका तन है, मन है, जीवन है॥"

बड़े बूढों का वात वात है परिहास करने वालों और उनके कथन को सर्वथा अमान्य समझने वालों को सेवाधर्म के तत्त्व का पता नही। एक कवि कहता है कि बड़े-बूढों की सेवा करने वाले व्यक्तियों की आयु, विद्या, कीर्ति और शक्ति वृद्धि को प्राप्त होती

है। इस कथन की वैज्ञानिक विवेचना न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसमें किञ्चित् भी असत्य नहीं और यह अनुभव का विषय अधिक है ।

स्वामी की सेवा की विशेषता भी किसी से कम नहीं। औरों से इस मे इतना ही भेद है कि वे सेवाएं निस्स्वार्थ भाव से की जाती हैं और यह सेवा स्वार्थप्रधान होती है। फिर भी सेवाधर्म के इस अंग से सेवक का मनुष्य-जगत् मे पर्याप्त उच्च स्थान है। समय-कुसमय का विचार किये विना ही प्रत्येक कार्य करने के लिये सदा तत्पर रहने वाले सेवक की महत्ता समझनी चाहिये। स्वामी की झिड़कियों पर भी कुछ ध्यान न देकर, मान-अपमान की भी कुछ परवाह न करके अपने कर्त्तव्यपालन में दत्तचित्त रहने वाले सेवकों को तुच्छ समझने वाले स्वयं तुच्छ है।

भारतीय अतिथि सेवा की उपमा अन्यत्र कही न मिलेगी। इन दिनों भी इस देश मे अतिथि सेवा के उत्कृष्ट उदाहरण दिखाई देते है, जब कि इस देश को 'मार्ग-भूला-बटोही' कहा जाता है । अतीत का वह पुण्य-दृश्य, भूतकाल की वह गरिमा आज भी नेत्रों मे आनन्दाश्रु ला देती है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे जब यह प्रश्न उठा कि अतिथियों के पांव धोने का भार कौन उठाए, तो उस समय द्वारिकाधीश जगत्पूज्य योगिराज श्रीकृष्ण अपने पीताम्बर को सम्भालते हुए और मुस्कराते हुए इस भार को अपने ऊपर ले लेते है। सेवाभाव की महत्ता को वे पूर्णतया जानते थे। देश-देशान्तरों से आए हुए लोगों के पैरों की धूलि को धोने वाले उस साँवले कृष्ण को ही अन्त मे उस यज्ञ की प्रधानता के योग्य समझा गया ।

सेवाधर्म मे निज-सेवा को इसलिये स्थान दिया जाता है कि मनुष्य अपना ध्यान स्वयं रख सके, अपनी आवश्यकताओं

को स्वयं पूर्ण कर सके। उसे स्वावलम्बन की उपयोगिता का पता चल जाय। स्वावलम्बन ही निज-सेवा है। स्वावलम्बी पुरुषों मे पर-हित-चिन्तन का भाव अधिक होता है। इससे पर-सेवा का मार्ग दिखाई देता है। सेवकों पर बहुत अधिक आश्रित न रहने वाले लोग उन्हे विश्राम करने का पर्याप्त अवसर देकर एक प्रकार से उनकी सेवा ही करते है। विदेशी वस्तुओं के सहारे न रहना स्पष्ट रूप मे अपने देश के निर्धनों की सेवा करना है।

सेवा-सुश्रूषा की जिनमे स्वाभाविक लग्न होती है, वे उच्च से उच्च कार्य कर जाते है। फ्लोरैंस नाइटिंगेल अभी नन्ही सी बालिका ही थी कि उसका सेवाधर्म का भाव प्रकट हो गया। एक कुत्ते को घायल हुआ देखकर उसके हृदय मे अनुकम्पा और सहानुभूति की भावना जागृत हो उठी। उसने तत्काल ही उस कुत्ते की मरहम-पट्टी करनी आरम्भ कर दी। कुछ ही दिनो मे कुत्ते की दशा सुधर गई। यही देवी आगे चल कर संसार के सामने सेवाधर्म का ऐसा अनुपम उदाहरण उपस्थित कर गई कि जिसकी प्रशंसा सारी दुनिया मुक्तकण्ठ से कर रही है। यूरोपीय महासमर के समय इसने घायलो की सेवा के लिये अनुज्ञा मागी। इसे मुख्य नर्स बनाकर भेज दिया गया। उस समय स्कूतरी का रुग्णालय घायल अंग्रेजी सैनिकों से भरा पड़ा था। वहा बीमारी भी फैल रही थी। प्रतिदिन घायलों और रोगियों की संख्या मे वृद्धि होती जा रही थी। उस हस्पताल की दशा के सुधरने की कोई आशा न थी। ऐसे समय मे फ्लोरैन्स नाइटिंगेल ने सारा कार्य-भार अपने साहस-पूर्ण कन्धों पर लिया। उसकी निःस्वार्थ सेवा से घायल और रुग्ण सिपाही शीघ्र ही स्वस्थ हो होकर समरभूमि मे जाने लगे। इस प्रकार सेवा की मूर्ति फ्लोरैन्स की वह सेवा वहां की आशातीत विजय का मुख्य

कारण बनी।

सेवाधर्म बहुत गहन है। इसका पार पाना सहज नहीं। सेवाधर्म मे प्रवृत्त तो बहुत होते है, पर अन्त तक पूरा निर्वाह करने वाले थोड़े हैं। हानि, अपमान, कटुवाक्य, झिडक, फटकार आदि की विद्यमानता मे भी सेवाधर्म मे दृढ़ रहने वाले व्यक्ति अधिक नहीं है। उस समय माता-पिता, गुरु, भाई-बन्धु, देश, धर्म आदि किसी की भी सेवा मे रत रहना कठिन हो जाता है। इन अवसरों पर भी सेवाधर्म से विमुख न होने वाला मनुष्य महात्मा है।

सेवाधर्म मे बहुत शक्ति है। ऊँचे उठाने का यह महामन्त्र है। इससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों की पूर्ति होती है। पर-हृदय पर विजय पाने के लिए, दूसरे को अपने वश मे करने के लिये यह ही एकमात्र साधन है। इसकी महत्ता सर्वत्र दिखाई देती है। प्रेम के प्रासाद का यही प्रकाश है। यह पूज्य पुरुषों का पुण्य प्रसाद है। सेवा के बिना मेवा नही। प्रकृति सेवाधर्म से सर्वतः ओत-प्रोत है। सूर्य, चन्द्र, तारे वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, फल, फूल आदि अहर्निश प्राणिमात्र की सेवा कर रहे हैं और इससे कभी विरम नही होते। शीतल जल प्रवाहिणी तटिनियां, निर्मल वारि पूरित तड़ाग, नाना पदार्थों के आकार पर्वत पलमात्र के लिये भी सेवाधर्म का परित्याग नही करते। वर्षा की झड़ी लगा कर अखिल विश्व की पालना करने वाले मेघ सेवाधर्म मे सदा से निरत हैं। पशु और पक्षी भी सेवाधर्म को निभाते हैं। चारों दिशाओं को सुखमय संगीत से आप्लावित करने के लिये सेवाधर्म को स्वीकार करना हमारा सब का कर्तव्य है।

—गोपालचन्द्र देव

(७४)

भारतीय-शौर्य

समरांगण मे विक्रम का पूरा पूरा प्रदर्शन शौर्य है। शूर नर रणभूमि को हँसी-खेल समझता है। वीरों की असिधारा के सम्मुख गिरि-सम रिपु भी नही ठहर पाते। रण-बाँकुरे की युद्ध-क्रीडा कायरों को कँपा डालती है। शत्रु के हृदय से शूर व्यक्ति के प्रति 'वाह वाह' की ध्वनि निकलती है। इन शताब्दियों से पूर्व भारतीय शौर्य बहुत उन्नत था। भारत की प्राचीन वीरता के गीत विदेशी तक हृदय खोल कर गाते हैं—उसकी छाप अब तक उनके मन पर अङ्कित है।

भारतीय-शौर्य की थाह अब तक कोई देश नही पा सका। राम-लक्ष्मण से युद्धवीर कहाँ दिखाई देते हैं ? तपस्वियों का वेश धारण किए हुए उन वीरों ने युद्ध मे अद्वितीय शक्ति दिखलाई। मेघनाद, कुम्भकर्ण रावण जैसे विश्व-भर को विजय करने वाले दुर्धर्ष वीरों को और उनकी बलशालिनी असंख्य सेना को अपनी शौर्य्याग्नि मे स्वाहा करने वाले दोनों भाइयों को इसीलिये भारत का बच्चा बच्चा प्रतिपल स्मरण करता है। कितनी उनमे शक्ति थी ! कितना उनमे उत्साह था ! राम की अन्य कारणों से इतनी प्रतिष्ठा है, यह बात नही। महावीर हनुमान् के शौर्य को कौन पा सकेगा ? वे सीता की खोज मे अकेले ही लंका पहुँचते हैं। माता सीता को ढूँढ कर अपना परिचय देकर क्षुधा-निवारण के लिए

राजकीय उद्यान मे जाने की आज्ञा ले लेते है। अल्पकाल मे ही सारा बगीचा उजड़ गया। रक्षक दौड़े आए, पर वीरवर के सामने ठहर न सके। रावण-पुत्र भी जीता न बचा। अन्त मे मेघनाद के साथ 'रावण के दरबार मे पहुँचे। कपड़े बाँध कर आग लगा देने की आज्ञा हुई। पर धन्य वज्राङ्ग ! तुमने सारी लङ्का को जलाकर भस्म कर डाला। अङ्गद की शूरता असाधारण थी। रावण के बड़े बड़े वीर उसके पाव को हिला न सके। शौर्य की ऐसी मूर्तियों की आज भारत मे अतीव आवश्यकता है।

भीमकाय दैत्यों को यमपुर पहुँचाकर कृष्ण ने राक्षसराज कंस का भरी सभा मे संहार किया। शिशुपाल जैसे महा पराक्रमी राजा का सिर काट कर लोगों को संकटों से मुक्त किया। श्रीकृष्ण का अंग अंग शूरता से ओत-प्रोत था। भय और चिन्ता का उनमें लेश भी न था। उस समय जरासन्ध एक विक्रमशाली और अत्याचारी शासक था। सहस्त्रों राजा उसके कारागार मे पड़े जीवन की घडियां गिन रहे थे। वीर श्रीकृष्ण ने उसका संहार अनिवार्य समझा। कृष्ण, अर्जुन और भीम तीनों महावीर उसके पास जा पहुँचे। कृष्ण ने गम्भीर स्वर मे कहा—जरासन्ध, हम तीनों मे से जिसके साथ चाहो लड सकते हो। अगम्य उत्साह था। उस गज जैसे भयंकर जीव से युद्ध करने के लिये उनमे पूरा सामर्थ्य था। किन्तु जरासन्ध ने भीम को युद्ध के लिये चुना। पर भीम तो भीम ही था। शौर्य और शक्ति का पर्वत था। उस लौह-शरीर ने जरासन्ध को चीर कर रख दिया। भीम सा बली आज एक कल्पना मात्र है। कहा भारत के ऐसे ऐसे शूर और कहां आज कल के पुरुष ! भीम का इतना आतंक था कि उसका नाम लेते ही शत्रु-सेना भाग जाती थी। दुष्ट कीचक को भीम ने बहुत ही बुरी तरह मारा। बलशाली भीम भारत की शान

था। शौर्य की प्रज्वलित प्रतिमा भीष्म किस देश के इतिहास मे विद्यमान है। द्रोण जैसा शूरता और शक्ति का भण्डार भारत मे ही हुआ था। कर्ण, शल्य, दुर्योधन आदि बडे बड़े वीर भारत के अनुपम उदाहरण थे। डर और आशंका का जिनमे नाम भी न था। भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य आदि योद्धाओं का संहार करने वाला शौर्यपुञ्ज अर्जुन! आहा! नाम लेते ही हृदय मे असीम उत्साह का संचार हो जाता है। उसकी शूरता के आगे जगत्भर की शूरता लजाती है। अर्जुन के भुज-दण्डों मे कई अक्षौहिणी सेनाओं का सर्वनाश करने की शक्ति थी। उसकी तुलना असम्भव है। वीरश्रेष्ठ अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के शौर्य की प्रशंसा कौन न करेगा? क्या भारतीय उसे भूल सकते है? अर्जुन किसी दूसरी ओर घनघोर युद्ध मचा रहे है। इधर जयद्रथ चक्रव्यूह बना कर पाण्डव-पक्ष का संहार कर रहा है। युधिष्ठिर एक बार विचलित हो उठते है। उन्हें व्याकुल देख अभिमन्यु उस चक्रव्यूह को तोड डालने का विश्वास दिलाता है। अन्त मे अभिमन्यु उस व्यूह मे जा घुसा। चारों ओर हाहाकार मच गया। प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगा। शत्रुओं के रुण्ड-मुण्ड आकाश मे उडने लगे। सारी शत्रु-सेना घबरा गई। वडे बडे योद्धा भी उस शूर के सामने ठहर न सके। सैकडों रण मे काम आए। तब सारे महारथियों ने मिल कर उस अकेले वीर पर प्रहार किया। अभिमन्यु के अस्त्रशस्त्र धीरे धीरे नष्ट होने लगे। अन्त मे उसने रथ का पहिया उठाकर ही युद्ध जारी रखा पर वह भी न बच सका और उस वीर ने वीरगति पाई। युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न आदि वीर भारतीय-शौर्य के चमकते तारे हैं।

भारतवर्ष मे जहां विद्या, सभ्यता, सदाचार, कला-कौशल

और व्यापार उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे, वहा शूरता भी किसी से पीछे न थी। शौर्य को तो भारत में मुख्य स्थान मिला है। भारत वीर-पुरुषों की खान रहा है। सिकन्दर जैसे विश्व-विजेता को भी भारत के वीरों के सामने मस्तक झुकाना पडा था। सिकन्दर की मृत्यु के अनन्तर उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों ने बांट लिया। उनमे से सैल्यूकस ने जीते हुए प्रदेशों पर पुनरधिकार करने के लिये भारत पर आक्रमण किया। उस समय भारतीय साम्राज्य की बागडोर चन्द्रगुप्त मौर्य के हस्तगत हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस को नाकों चने चबवा दिये। भारतीय योद्धाओं के सामने यूनानी-दल ठहर न सके और अन्त मे सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से मैत्री स्थापित करके युद्ध से पीछा छुड़ाया। इतिहासज्ञ लिखते हैं कि उस समय प्रत्येक भारतीय पूरा योद्धा होता था। सच तो यह है कि शूरता और निर्भीकता की घुटी भारतीय बालकों को जन्म से ही पिलाई जाती थी। आज वह एक स्वप्न है। विन्दुसार, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्ष आदि वीरों की याद आते ही भारतीय गौरव की झांकी दिखाई दे जाती है। भारत! लाखों वर्षों के सञ्चित शौर्य को तू क्यों छोड बैठा है?

राजपूतों की वीरता को भारत का इतिहास ऊँचे स्वर से गा रहा है। यवन आक्रमणकारियों को छटी का दूध याद दिलाने वाले भारतीय वीरों से भारत का मस्तक इस पतितावस्था मे भी उन्नत है और भविष्य मे भी उसे कोई नीचे न कर सकेगा। भाग्य-वश या त्रुटियों के कारण अथवा संगठन के अभाव से भारतवासी परतन्त्र हो गए। यह एक अमिट कलङ्क है। फिर भी उनके शौर्य के आगे विदेशियों की वीरता तुच्छ है। पृथ्वीराज, अनंगपाल, राणा संग्रामसिंह आदि योद्धाओं की वीरता को याद किये विना रहा नहीं जा सकता। वाप्पारावल, भीमसिंह, वद्दल,

काका कान्ह, हम्मीरराव-राणाकुम्भा जैसे संगर-क्रीडा-प्रिय वीरों मे शौर्य का समुद्र ठाठे मारता था।

वीर केसरि सरजा शिवाजी और महाराणा प्रतापसिंह यवन-काल के भारतीय-शौर्य के सूर्य और चन्द्र हैं। हिन्दूपति के दोर्दण्ड के आश्रित खड्ग ने शत्रुओं का शोणित भरपेट पिया था। वैरियों की बोटी बोटी नोच कर भी वह तृप्त न होती थी। केवल अपने शौर्य और उत्साह के बल पर वीर शिवाजी ने देश को अत्याचारियों के पञ्जे से छुडाने का बीडा उठाया था और वे इसमे सफल भी ऐसे हुए कि इतिहास मे वैसा उदाहरण मिलना कठिन है। पहले पहल बीजापुर के सुलतान से टक्कर लगी। वह झुंझला उठा। गोद मे बैठ कर नाक मे उंगली वाली बात थी। उसने शिवाजी को उनके पिता शाहजी द्वारा शान्त करना चाहा। शाह जी को कैद करके धमकी देकर काम निकालने की युक्ति निकाली, परन्तु शिवाजी पूरे शूर थे, वे किसी प्रकार भी अपने मार्ग से विचलित न हुए। आक्रमण पर आक्रमण हुए, पर उस वीर के शौर्य के सामने कोई न ठहर सका। स्वतन्त्र-राज्य की सीमा बढ़ती चली गई। धूर्त अफजलखाँ जैसे योद्धा को नर-सिंह शिवाजी ने एक ही झटके मे पार कर दिया। अन्त मे अली आदिलशाह स्वयं चढ़ दौड़ा, पर उसे भी मुंह की खानी पड़ी। तब उसने शिवाजी की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। इसके बाद शौर्य और वीर्य की प्रतिमा शिवाजी ने मुगलों की ओर ध्यान किया। शाइस्ताखाँ जैसे सेनानायक असंख्य-दल-बल सहित चढ दौड़े। पूना हथिया लिया गया। पर असीम साहसी वीर शिवाजी ने उसको ऐसा भगाया कि जन्म भर न भूला होगा। शिवाजी की शूरता का यदि विस्तृत वर्णन किया जाय तो एक बड़ा भारी ग्रन्थ बन जाय। परतन्त्रता के बन्धन को बलात्

काटकर फैंक देने वाले शूरवीर शिवाजी हमारे हृदय के देवता हैं। महाराणा प्रताप की युद्ध चातुरी, उनकी शूरता, संसार भर को आश्चर्य-चकित कर देती है। अपनी नीति और शक्ति से भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व जमाने वाला अकबर उनके भय से काँपा करता था। राजपूताने की यह अग्नि उसके मनोरथ-वन को जलाए डालती थी। हल्दीघाटी का युद्ध जीवन और मरण का प्रश्न था। चेतक पर सवार महाराणा की तलवार और उनका भाला शत्रु-सेना को बिछाए डालता था। कुछ हजार मेवाड़ियों के साथ राणा ने प्रबल शत्रु की अगणित सेना मे घुस कर ऐसे हाथ दिखाए कि शत्रु सेना के छक्के छूट गए। उस वीर महापुरुष ने वनों और कन्दराओं मे भटक भटक कर अनेक संकट सहे; पर शत्रु के सामने झुकना स्वीकार न किया। अन्त मे उसने मेवाड को विजय करके ही छोडा। उस महावीर की शक्ति को देखकर इतिहास-लेखक भी दंग है।

वीरश्रेष्ठ हरदौल की स्मृति-मात्र से हृदय बल्लियों उछलने लगता है। भाई राज्य-भार सौंप कर किसी युद्ध-निमन्त्रण मे गए थे। एक यवन ने नगर मे आकर घोषणा की कि जिसमे शक्ति हो वह उनसे खड्ग-युद्ध करे। वह समय क्षत्रियत्व का था। शत्रु के आह्वान का उत्तर न देना अपनी वीरता को कलङ्कित करना था। और वह नगर तो रिपु की उद्दण्डता को कभी भी नही सह सकता था। युद्ध के लिये स्थान निश्चित हुआ। वहां सारा नगर इकट्ठा हो गया। बड़ा भयंकर सामना था। एक चुने हुए तलवार चलाने वाले को मुकाबले पर उतारा गया था। दर्शकों के हृदय की गति तीव्र थी। अन्त में यवन की तलवार उस वीर के हृदय के पार होगई। प्रजा धक सी रह गई। पर वीर हरदौल के शौर्य ने उसे उद्वेलित कर दिया और उसने दूसरे

दिन स्वयं युद्ध करने की घोषणा कर दी। जनता चित्र-खचित सी हो गई। प्रत्येक के हृयद् में भिन्न भिन्न विचार चक्कर काटने लगे। आज के परिणाम को सोच सोच कर सब के सब चिन्ता के सागर मे डूबने लगे। दूसरे दिन अत्यन्त शक्तिशाली हरदौल ने भाई की खड्ग लेकर रण-भूमि मे पाव रखा। एक बार तो चतुर्दिक् हर्ष-ध्वनि से प्रतिध्वनित हो उठा, पर शीघ्र ही सन्नाटा छा गया। इधर हरदौल थे, उधर वह यवन। कभी ये विजय पाते दिखाई देते थे और कभी उसका जोर दृष्टिगोचर होता था। अन्त मे हरदौल ने एक ऐसा हाथ मारा कि प्रतिद्वन्द्वी की देह भूमि पर गिर कर तडप-पडप कर शान्त हो गई।

शूरता के उपासक गुरु अर्जुनदेव, तेगबहादुर, गोविन्दसिह, वन्दा वैरागी, महाराजा रणजीत सिंह, सेनापति हरिसिंह नलुवा, मूलराज आदि वीरों की प्रसव-भूमि भारत, तेरी महत्ता किसी से कम नहीं। ऐसे ऐसे वीरों के उत्पत्ति-स्थान भारत का पतन सचमुच हृदय मे वेदना उत्पन्न कर देता है।

. भारत की वीर नारियों की समता अन्य देशों की नारिया नहीं कर सकतीं। रानी दुर्गावती का नाम इतिहास मे स्वर्णाक्षरों से लिखा गया है। रानी सारन्धा और जसवन्त सिह की रानी का शौर्य पुरुषो की वीरता को भी अकिञ्चित् समझता है। झाँसी वाली रानी का युद्ध कौशल विदेशियों को भी विस्मित कर डालता है। रानी हाड़ी आदि और भी अनेक शूर-स्त्रियों से भारतीय इतिहास भरा पड़ा है। इस पतितावस्था में भी भारत की स्त्रीजाति मे अनन्य शौर्य विद्यमान है। मोपला हत्याकाण्ड में एक १२-१३ वर्षीय बालिका का दुष्ट, नीच और अत्याचारी यवनों को, उनके हाथ से तलवार छीन कर, यमपुर पहुँचाना और भगा देना शूरता का ज्वलन्त उदाहरण है। अभी कुछ ही समय बीता भयंकर

डाकुओं का संहार करने वाली एक पञ्जाबी बालिका के शौर्य नाद से सारा भारत गूँज उठा था।

भारत के बालकों तक मे शूरता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। भारतीय बच्चे शेरों से खेला करते थे। लव, कुश, भारत आदि की वीरता वीरता को चरितार्थ करती थी। अमरसिंह जैसे पराक्रमी बालक भारत के नाम को आज भी उज्ज्वल करते हैं। भारतीय वीर बालकों की शूरता पर पर शत्रु भी मुग्ध है।

यूरोपीय महायुद्ध मे भारतीय योद्धाओं ने शौर्य का जो आश्चर्य-जनक उदाहरण उपस्थित किया उसे देखकर संसार की आखे खुल गईं। शतघ्नियों और भुशुण्डियों की गडगड़ाहट और दनदनाहट मे हल्ला मार कर शत्रु पर आक्रमण करने वाले भारतीरों ने शूरता की सीमा को पार कर दिया। एक एक घटना वीरत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भारतीय-शौर्य की महत्ता को इस छोटे से लेख मे पूर्णतया दिखाना असम्भव है। यह देश सदा से ही शौर्य का उपासक रहा है। यहां के आबालवृद्ध वीरता की मूर्ति रहे हैं। बलहीनता और कायरता को यहां घृणा की दृष्टि से देखा जाता रहा है। भारत-निवासी शौर्य के लिये जीते और शौर्य के लिए मरते थे। 'हे अर्जुन, युद्ध के लिए उठ, यही तेरा कर्तव्य है,' यहां की यह मौलिक शिक्षा थी। 'विजय पाना या युद्ध मे प्राण त्यागना,' भारतीय वीरों का ध्येय था। क्षत्रियत्व को सबसे बड़ा मुक्ति का साधन माना जाता था। अब भी वीरत्व के भावों का सर्वथा लोप नहीं हो गया, पर प्राचीन काल की सी शौर्यप्रियता इन दिनों नही रही। क्या हम अतीतकाल को फिर से लाने का प्रयत्न न करेगे? क्या हमारा मूल मन्त्र शौर्य न होगा? भारतीय-शौर्य तो देश-देशान्तरों को भी शूरता का पाठ पढ़ाता है। इसका परित्याग हमें शोभा नहीं देता।

—गोपालचन्द्र देव

(२५)

गद्य और पद्य

छन्दःशास्त्र के नियमों से रहित वाक्य को गद्य कहते हैं और नपी-तुली मात्राओं या वर्णों वाले वाक्य-विन्यास को पद्य कहा जाता है। गद्य मे अपने विचार बिना किसी प्रतिबन्ध के पूर्णतया प्रकट किये जा सकते हैं। पद्य मे छन्दःशास्त्र के नियमों का पालन करने के लिए बहुत से आवश्यक विचारों को भी छोडना पडता है और छन्दःपूर्ति के लिये कई अनावश्यक बातों को भी स्थान देना पड़ जाता है। गद्य मे अपनी इच्छानुसार शब्द और वाक्य घटाए बढाए जा सकते हैं। पद्य के सम्बन्ध मे लेखक को ऐसी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं। मानव-हृदय

के अनुसार ज्यों ज्यों मनुष्य सभ्य और उन्नत होते जाते हैं, पद्य के स्थान पर गद्य का प्रचार होने लगता है। पहले जो पद्य देश के लोगों के हृदयों को आन्दोलित कर डालता था, वही नवीनयुग में कुछ भी असर नहीं दिखा सकता। पूर्वकाल में लोग जिस पद्य को सुन कर वाह वाह करते और झूमने लगते थे, सभ्यता के काल में उसी पद्य को लोग मूर्खों का विषय समझते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी मत है। उनकी दृष्टि मे पद्य किसी काल की उन्नता का द्योतक है। गद्य सर्व-साधारण मे व्यवहार का साधन होता है, और पद्य सहृदय और रसिक जनों की मानस-तृप्ति का हेतु। बुद्धिमान् और सुपठित समाज का समय पद्यों की चर्चा, और पद्यों के पाठ मे व्यतीत होता है। एक दृष्टि से पद्य की अपेक्षा गद्य सरल है। जब लोगों के मस्तिष्क शिथिल और हृदय भाव-शून्य हो जाते है तो वे पद्य को छोड़ गद्य का आश्रय लेते हैं। उस समय उनमे न तो पद्य-निर्माण की शक्ति होती है और न पद्य को समझने की भावना।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में पद्य का ही प्रचार था। एक प्रकार से गद्य का आरम्भ या प्रचार १९वीं शताब्दी मे हुआ है। इसी प्रकार अन्य देशों की भाषाओं मे भी गद्य से पहले पद्य की प्रधानता रही है। आज की अपेक्षा पहले काल के लोग असभ्य और जङ्गली थे, यह भी कहा जाता है। जैसे जैसे सभ्यता बढती गई, वैज्ञानिक आविष्कार होते गए, गद्य अपना प्रभुत्व जमाता गया और इन दिनों पद्यों को कोई पूछता ही नही। इस प्रकार पहले सिद्धान्त मे बहुत कुछ सचाई प्रतीत होती है; परन्तु दूसरे मत की पुष्टि के लिये भी अनेक प्रमाण

है। तुलसीदास और सूरदास जैसे कवि आजकल उत्पन्न नहीं हो रहे। उन जैसी पद्य निर्माण करने की शक्ति इन दिनों नही रही। उन पद्यों को समझने वाले भी कम है। समाज का हृदय इतना भावशून्य हो चुका है कि सूरदास के एक पद्य को समझने के लिये समय चाहिये। इस पर भी यह कौन जानता है कि भविष्य मे कोई तुलसीदास या सूरदास उत्पन्न न हो जायगा? तो क्या वह काल आजकल की अपेक्षा असभ्यता-पूर्ण होगा? यों विकासवाद का सिद्धान्त कैसे स्थिर रह सकेगा?

यह संसार परिवर्तनशील है। जो दृश्य आज दिखाई देता है, वह कल दृष्टिगोचर नही होता और जो कल दिखाई देगा वह आज विद्यमान नही है। किसी भी देश की अवस्था सदा एक सी नही रही। भाषाओं मे भी परिवर्तन होता रहा है। हिन्दी भारतवर्ष की भाषा अनादि काल से नहीं है। इससे पहले अपभ्रंश भाषाएं और उनसे भी पहले प्राकृत और संस्कृत भाषाएं प्रचलित थीं। संस्कृत भाषा को ही लिया जाय। संस्कृत मे पद्यसाहित्य का बहुत मान और प्रचार रहा है। पहले सिद्धान्त के अनुसार यदि विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत के पूर्वकाल मे पद्य का ही प्रचार था। गद्य का तो निर्माण हुआ ही नहीं अथवा पीछे से नाममात्र की रचना गद्य मे हुई। पर इसे यदि भ्रम कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। दर्शनशास्त्र व्याकरणशास्त्र, निरुक्त आदि गद्य-ग्रन्थों की रचना रघुवंश आदि पद्य-ग्रन्थों से प्राचीन है। अच्छा, थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि इन गद्य-ग्रन्थों का निर्माण रघुवंश आदि पद्य की पुस्तकों के पीछे हुआ और गद्य का समय सभ्यता का युग था। तो उस सभ्यता के युग के बाद संस्कृत का स्थान क्रमशः प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा ने

ले लिया। तो क्या सभ्यता के युग के लोग एक साथ ही असभ्य हो गए? इस प्रकार तो 'असभ्य संसार धीरे धीरे सभ्य बन गया है और पद्य की अपेक्षा गद्य का प्रचार हो गया है, इस सिद्धान्त मे कुछ चतुराई नही रह जाती।

अभिप्राय यह कि पद्य और गद्य के क्रमिक प्रचार को किसी सिद्धान्त के अनुसार बाँध देना उचित नही। कभी गद्य का प्रचार अधिक हो जाता है और कभी पद्य की प्रधानता हो जाती है। पद्य मे भी सभ्यता का जमाना होता है और गद्य मे भी सभ्यता का युग होता है। जब पहले समय मे पद्य मे शरीर-शास्त्र का निर्माण हुआ था, यद्यपि संस्कृत के मुख्य शारीरिक-शास्त्र गद्य मे ही हैं, तो वह युग असभ्यता का था और इस युग में गद्य मे शरीर-शास्त्र की रचना हुई है तो यह युग सभ्यता का है, यह कैसे कहा जा सकता है ? उस युग मे पद्य को महत्त्व दिया जाता था और इस युग मे गद्य को अच्छा समझा जाता है। इसके अतिरिक्त न्याय का वात्स्यायन भाष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की उत्कृष्ट गद्य-रचना है। माघ, किरात आदि पद्य-काव्यों की सृष्टि उससे ६०० वर्ष बाद होती है। इसलिये पद्य और गद्य मे एक भीत खडी कर देनी अच्छी नहीं। आज गद्य का युग है, नवीन-युग की वैज्ञानिक सृष्टि पद्य की अपेक्षा नही रखती। इन दिनों देश और जातियां समर-सागर को पार कर रही हैं, मानसिक भावनाओं के उतार-चढ़ाव की किसी को कुछ चिन्ता नहीं। जब युद्ध आदि से कुछ शान्ति मिलेगी, वैज्ञानिक आविष्कारों से कुछ तृप्ति मिलेगी, मनुष्य स्वभावतः हृदय की ओर प्रवृत्त होगा और तब पद्य की आवश्यकता होगी। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य सर्वप्रिय हो जायगा।

मानव-जीवन के लिये गद्य और पद्य दोनों की आवश्यकता है। वैज्ञानिक-शुष्क विषयों के प्रतिपादन के लिये गद्य का आश्रय

लेना पड़ता है। यदि इन विषयों को पद्य मे रखा जाय तो ये दुर्बोध हो जायं। मीठी मीठी भावनाओं का रस लेने के लिये पद्य की उपादेयता है। गद्य बुद्धि का विषय है और पद्य मन का।

वैसे तो गद्य और पद्य दोनों मे काव्य-रचना हो सकती है और आजकल गद्य का प्रचार भी है, परन्तु जितना अच्छा काव्य पद्यमय हो सकता है उतना अच्छा गद्यमय नही। संसार के किसी भी साहित्य के किसी ऐसे उत्कृष्ट काव्य का नाम नही लिया जा सकता जो गद्य मे हो। हृदय पर गद्य का जितना प्रभाव पड़ता हैं उससे कही अधिक पद्य का असर होता है। उदाहरण के लिये क्रमशः निम्नलिखित गद्य को लीजिये—

'छोटी-सी कोमल शाखा पर तुम्हारा अर्ध-विकसित स्वरूप कितना सुन्दर और प्यारा लगता था ! संसार को आशा हुई थी कि फूल खिलकर चिरकाल तक उद्यान की शोभा बढ़ाएगा। परन्तु तुम्हारे स्वच्छ हृदय मे कितना उत्सर्ग भरा था यह कोई न जानता था। तुम अर्ध-विकसित अवस्था मे ही अपने गुलाबी अधरों पर मन्द मुस्कान लिये हुए जीवन-शाखा से टूट कर गिर पड़े"।

❀ ❀ ❀ ❀

"भरा अरमानों से था मन,
न हँसने पाया किन्तु सुमन !
हास से प्रथम विनाश हुआ।"

गद्य मे पद्य की अपेक्षा प्रभावशाली काव्य नही हो सकता, इतना होने पर भी प्रत्येक पद्य काव्य नहीं कहा जा सकता। जैसे गद्य काव्य-रहित हो सकता है वैसे ही पद्य भी कवित्वशून्य हो सकता है—ऐसा पद्य केवल नियमित वर्णों या मात्राओं की रचना होती है। जैसे—

"जगे एक दिन, घर वाली ने कहा—नहीं है कुछ घर मे,
बोले-बड़ी विपत है, पैसा रहा नहीं है अब कर मे !"

उक्त पद्य मानवहृदय पर विशेष प्रभाव नहीं डालता। इसे काव्य नहीं कहा जा सकता है।

पद्य मे छन्दःशास्त्र के नियमों का पालन करना चाहिये या नही, यह भी विवादास्पद विषय है। छन्दःशास्त्र के नियमों मे जकड कर कविता करने की अपेक्षा स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने मनोभाव प्रकट करने की भावना इन दिनों प्रबल है। लोग पद्य को स्वेच्छा से प्रकट करने के पक्षपाती है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ जी का मन्तव्य था कि कविता मे भावों की मुख्यता होनी चाहिये। नियमों के बन्धन भावों के प्रवाह को रोक देते है। प्राचीनकाल मे छन्द आदि की पूरी पूरी गिनती के साथ प्रत्येक विषय के भी पूर्ण नियम बना दिये गए है। इसका परिणाम यह होता है कि लेखक के भावों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।

दूसरे विचारों के लोग छन्द.शास्त्र के नियमों का पूर्ण पालन करने के पक्ष मे है। इनके मत मे यदि छन्दों के नियमों का त्याग कर दिया जाय तो गद्य और पद्य मे कोई भेद नहीं रहता। ये लोग कहते हैं कि यदि छन्द'शास्त्र के नियमों का पालन करने की इच्छा या शक्ति न हो तो पद्य -रचना करनी ही नहीं चाहिये। गद्य मे ही अपने भावों को प्रकट कर सन्तोष कर लेना चाहिये। पद्य ही बनाना हो तो छन्दों का ध्यान रखना आवश्यक है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्डस्वर्थ ने गद्य और पद्य को एक-रूप करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वे असफल रहे और अन्त मे उन्हें पद्य के नियमों का पालन करना ही पड़ा।

इस बात को तो सभी स्वीकार करते हैं कि काव्य वही होगा

जिसमे मानसिक भाव स्वतन्त्र रीति से विकसित हुए हों, चाहे वह गद्य हो चाहे पद्य। छन्द.शास्त्र के नियमों का बन्धन किसी को स्वीकार हो या न हो गद्य और पद्य भाषा के ये दो प्रकार अवश्य रहेगे, इन्हे कोई एक नही कर सकता। दोनों की सत्ता रहेगी ही। मनुष्य समाज को दोनों की आवश्यकता है। उपयोगी कलाएं गद्य का आश्रय लेगी और संगीत कला तथा बहुत कुछ काव्य कला पद्य को आधार बनाएगी। एक से विज्ञान की उन्नति होगी, दूसरे से हार्दिक भावनाओं को प्रोत्साहन मिलेगा।

—गोपालचन्द्र देव

(२६)

कबीर : सिद्धान्त और रहस्यवाद

धर्म की मर्य्यादा स्थापित करने के लिए महान आत्माएँ समय-समय पर जन्म लिया करती हैं। कबीर का जन्म भी इसके प्रतिवाद-स्वरूप नहीं था। १४वी शताब्दी की बात है, कर्मपरता से उदासीन रहने वाली हिन्दू जाति अपनी आलस्य-प्रवृत्ति एवं दयालुता के कारण अपनी स्वाधीनता को दासत्व के निंदनीय कराल बंधन मे बाँध चुकी थी। पुराने वीरों के शूरत्व की स्मृति मृतप्राय हिन्दू जनता मे अपना प्रभुत्व न जमा सकी और वीरता के साथ-साथ वीर गाथाओं एवं वीर गीतों की अंतिम ध्वनि भी रणथंभोर के पतन के साथ सदा के लिए विलीन हो गई। देश मे मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो गया। मन्दिरों के स्थान पर मसजिदों की स्थापना की गई, देव-मूर्त्तियों और पूज्य पुरुषों का अपमान होने लगा। अपने नौ-निहालों की निर्दयतापूर्ण मृत्यु, अपनी सम्पत्ति पर विदेशियों का अधिकार, धर्म पर कुठाराघात, शासकों की वेदनापूर्ण आज्ञाएँ—हिन्दू जाति ने उस समय क्या नहीं देखा! वैराग्य की इस चरमसीमा पर पहुँचकर अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शरण लेने के अतिरिक्त सान्त्वना का और दूसरा मार्ग हो ही क्या सकता था? काल के प्रतिनिधि कवियों ने जनता के हृदय को सँभालने के लिए भक्ति का एक नया मार्ग निकाला। शासक और शासितों को एकता के सूत्र से बाँधने के लिए और "राम-रहीम" को एक करने के

अभिप्राय से उन्होंने दोनों के सामने ईश्वर के प्रेम-स्वरूप को रक्खा और भेद्भाव हटाने का प्रयत्न किया। कबीर इस समय के प्रधान कवियों और समाज-सुधारकों मे से थे। प्रश्न यह उठता है कि कबीर के कौन से सिद्धान्त थे, जिनके कारण उनका प्रभाव जनता पर इतना अधिक पडा। इसका उत्तर हम संक्षेप मे देने का प्रयास करते है।

कबीर-सम्प्रदाय का सब से बड़ा सिद्धान्त ईश्वर की एकात्मवादिता है। वही अखिल विश्व का निर्माणकर्ता, अनादि और अनन्त है। कबीर का ईश्वर सर्वधर्मगत है, वह विश्व-व्यापक है और लड्डू-हलवा खाने वाले ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। उसका कोई निर्दिष्ट रूप नही, अतएव पत्थर की मूर्त्ति बनाकर उसे भोग लगाना कबीर के विचार मे केवल हास्यास्पद है। कबीर ने अपने 'ईश्वर' को 'राम' 'हरि', 'शार्ङ्गपाणि', 'यादवराय', 'गोपाल', 'साहब', 'राउर' 'खसम' आदि नामों से सम्बोधित किया है, परन्तु इन सब शब्दों में भी बहुत कुछ विचित्रता है। इनमे से पहले पॉच नाम सांप्रदायिक और शेष तात्त्विक दृष्टि से प्रयोग मे लाये गये है। जनश्रुति है कि कबीर ने वैष्णवसम्प्रदाय के परमोद्धारक श्रीस्वामी रामानन्द से दीक्षा ली थी। अतएव वैष्णवसम्प्रदाय के नाम 'राम' 'गोपाल', 'हरि' आदि का 'परम-तत्त्व' के स्मरण करने के लिए प्रयोग करना उन के लिए स्वाभाविक था। परन्तु उन्होंने स्पष्टतया प्रकट कर दिया है कि उनके 'राम', स्वामी रामानन्द के दाशरथी राम से सर्वथा भिन्न हैं। कबीर का 'राम' से अभिप्राय निर्गुण ब्रह्म से है। उन्होंने कहा भी है—

(१) "निर्गुण राम जपहु रे भाई।"

(२) "दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना,

रामनाम का मरम है आना ॥"

(३) "जाहि राम को कर्त्ता कहिये तिनहुँ को काल न राखा ।"

(४) "हृदया बसे तेहि राम न जाना ।
पूरब दिसा हंस गति होई ॥
है समीप सँधि बूझै कोई ।
ए रे मूरख नादाना तैने हरदम रामहि न जाना ॥"

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि कबीर के 'राम' मे कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय मे बसने वाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोक-विशेष निवासी नहीं है। कबीर की यह भावना हिन्दुओं की ब्रह्मभावना से मिलती है; परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना मे भी उन्हे स्थूलभावना का आभास होता है और इसीलिए राम को निर्गुण और सगुण दोनों से ऊपर मानकर वे कहते हैं—

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निन्दा ।
ता नूर थै सब जग कीया कौन भला कौन मंदा ॥

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियों के 'अनन्त प्रकाश' का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वयं रहस्यवादी था। इसका विचार हम आगे करेंगे, यहाँ पर यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि इन पंक्तियों मे कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्त्तियों के कट्टर विरोधी थे। उनके विचार मे निराकार परमब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, अतः मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना मूर्खता है। ऐसी पूजा करने वाले उनकी दृष्टि मे ढोंगी हैं, बने हुए हैं और ८४ लाख योनियों मे भटकते हुए नरक की सेवा

करनेवाले है। इसीलिए बड़े व्यंगपूर्ण शब्दों मे वे कहते हैं—

"पाहन पूजे हरि मिले तो मै पूजूं पहार"

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

"कहै कबीर संसा नहीं भगति मुगति गति पाई रे।"

मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति करना ही उस तक पहुंचने का सुगम मार्ग है। वेदों और उपनिषदों के पढ़ने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता। वास्तव पंडित वही है जिसने प्रेम के ढाई अक्षर का पाठ पढ़ा हो। ज्ञानी अभिमान मे रँगा रहने के कारण माया के चक्कर मे भटकता फिरता है, परन्तु भक्त निरभिमान होकर शीघ्र परमात्मा तक पहुंच जाता है। कबीर का भक्ति-मार्ग सगुणमार्ग से भिन्न है। 'सगुण मार्ग' राम अथवा कृष्ण की उपासना का आदेश देता है और कबीर का भक्ति-मार्ग व्यक्तिगत साधना द्वारा ही इष्ट तक पहुंचने का उपदेश करता है। तुलसी और सूर की तरह कबीर अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल पर लोकादर्श की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले नहीं थे। वे सदाचार और ब्रह्मज्ञान के रूखे-सूखे उपदेशों द्वारा भक्ति-मार्ग की व्यवस्था करना चाहते थे। इसी कारण कबीर में वह अनेक-रूपता एवं मधुरता नहीं है जो जायसी, सूर और तुलसी मे प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। जिस प्रकार किसान गर्मियों मे वर्षा का नहीं, वरन् ताप का भूखा होता है; उसी तरह कबीर 'चरम आनन्द' प्राप्त करने के लिए कष्ट-साधना के भूखे थे। सूर और तुलसी की तरह उनका लक्ष्य एवं शास्त्र मानव-हृदय नहीं है। उनमे वह भावुकता और सहृदयता नहीं है जो परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करनेवाले रमणीय दृश्यों का चित्र अंकित कर सकं; परन्तु कबीर मे

भगवान की भावना का 'माधुर्य्य भाव' अवश्य विद्यमान है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है—

"हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया।"

'राम की बहुरिया' कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की कठिनता प्रकट करती है और कभी विरहवेदना का अनुभव करती है।

कबीर की शिक्षा है आत्म-ज्ञान प्राप्त करना, जो आत्मा के आनंद के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। यही माया सत्त्वगुण की अप्रधानता के कारण अविद्या रूप को ग्रहण कर लेती है। इसी कारण जीवात्मा चौरासी लाख योनियों मे भ्रमण किया करती है। अज्ञान-वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनंद आदि को जड (विषयों) का धर्म मान लेता है; अर्थात् यह सुख मुझे विषयों से मिला है, ऐसा जान लेता है। इसीलिए आनंदस्वरूप होते हुए भी वह अपार दुःख-सागर मे डूबा रहता है। उसे इस बंधन से मुक्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है सोपाधिक और निरुपाधिक। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है, इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए निरुपाधिक ज्ञान आवश्यक है। आत्म-साक्षात्कार के बिना मुक्ति नही हो सकती। "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।"

कबीर कहते है कि यह नाम-रूपात्मक दृश्य जो चर्म-चक्षुओं को दिखाई देता है, जल का घडा है, जिसके बाहर भी ब्रह्म वारि है और भीतर भी। बाह्य-रूप का नाश होने पर जिस प्रकार बाहर और अंदर का जल मिल कर एक हो जाता है, उसी प्रकार माया का पर्दा बीच से उठ जाने पर, आभ्यंतर का ब्रह्म बाह्यस्थ ब्रह्म मे समा जाता है—

जल मे कुंभ, कुंभ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ, जल जलहिं समाना यहु तत कथौ गियानी॥

संसार की अनित्यता पर भी कबीर ने बहुत जोर दिया है। उनका आदेश है कि मनुष्य पानी के बुदबुदे की तरह क्षुण्य है। जिस प्रकार प्रभात होते ही तारे विलुप्त हो जाते है, उसी प्रकार काल आने पर यह जीवन-लीला भी आँखों के देखते-देखते समाप्त हो जाती है। कबीर कहते है—

ऐसा यह संसार है जस सेमर का फूल।
दिन दस के व्योहार मे झूँठे रंग न भूल॥
सेंवर सुवना सेइया दुई ढेंढी की आस।
ढेढी फूटि चटाक दे सुवना चला उदास॥

माया मे पडा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता है, इसलिए वह परमात्मा तक नही पहुंच पाता। माया ममता की धात्री है। इसीलिए ज्ञानी माया का त्याग आवश्यक बताते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और मद-मत्सर माया के पॉच पुत्र है, जो सदैव मनुष्य के अधःपतन का कारण होते हैं। इसी से तत्त्वार्थियों को सावधान करने के लिए वे कहते है—

पंच चोर गढ मंझा, गढ लूटैं दिवस अरु संझा।
जो गढपति मुहकम होई, तो लूटि सकै न कोई॥

अतएव भर्त्सना देते हुए कबीर ने कहा है—

जागु पियारी अब क्या सोवे।
रैन गई दिन काहे को खोवे॥
जिन जागा तिन मानिक पाया तैं बौरी सब सोय गँवाया।
पिय तेरे चतुर तू मूरख नारी, कबहुं न पिय की सेज सँवारी।
तै बौरी बौरापन कीन्हा, भर जोबन पिय अपन न चीन्हा।
जागु देख पिय सेज न तेरे, तोहि छाडि उठि गये सबेरे।

कह कबीर सोई धुन जागे, शब्द-बान उर अंतर लागे।

इस अज्ञान को हटाने के लिए कबीर ने आत्म-विचार का निर्देश किया है। यह आत्म-विचार सतगुरु के उपदेश के बिना नहीं हो सकता। अतः कबीर ने सतगुरु के सम्बन्ध की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है उनका मत है कि सतगुरु के सम्पर्क मे आने से ही मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नही—

(१) "सन्तो भक्ति सतोगुरु आनी"

(२) हम भी पाहन पूजते होते बन के रोझ।

सतगुरु की कृपया भई सिर ते उतरया बोझ॥"

यहाँ एक बात ध्यान मे रखना आवश्यक है। कबीर के अनुसार गुरु का पद किसी ऐहिक पुरुष को नही मिल सकता। वे ईश्वर ही को गुरु मानते हैं। केवल उसकी सहायता से हमारी आत्मा अधोगति से मुक्त होकर स्वर्गीय भाव का अनुभव करती है।

हरि बिनु भरम—बिगुरचै बंदा।
जहँ-जहँ गयो अपनपौ खोयो, तेहि फंदे बहु फंदा॥
जोगी कहे जोग है नीको, दुतिया अवर न भाई।
चुंडित-मुंडित मौनि जटाधर, तिनहुं कहाँ सिधि पाई॥
ज्ञानी, गुनी, सूर, कवि, दाता, ई जो कहहि बड़ हमहीं।
जहँइ से उपजे तहँइ समाने, छूटि गयल सभ तबहीं॥
बायें दहिने तजो विकारा, निजु कै हरिपद गहिया।
कहँहिं कबीर गूंगे गुर खाया, पूछे से का कहिया॥

कबीर गुरु और शिष्य के शारीरिक साक्षात्कार के पक्षपाती नही हैं। उनकी धारणा है कि मानसिक सम्बन्ध द्वारा भी शिष्यत्व का निर्वाह हो सकता है।

कबीर गुरु बसै बनारसी, सिष समंदर तीर।
बिसरया नही बीसरै, जे गुण होई सरीर॥

संभव है, रामानंद के साथ भी उनका यही मानस-गुरु सम्बन्ध रहा हो, क्योंकि कुछ लोगों के मतानुसार कबीर शेख तकी के शिष्य प्रमाणित होते है।

मनुष्य के विषय मे भी कबीर के विचार अत्यन्त उदार है। भिन्न-भिन्न धर्म-मतावलम्बी सब समान है। चाडाल और ब्राह्मण मे कर्म का भेद है। वर्ण-विभाग समाज की कृति का फल है। ईश्वर ने किसी को ग़रीब-अमीर नही बनाया। पैदा होने के समय सब की दशा एक-सी होती है। उन्नति और अवनति केवल व्यक्तिगत बुद्धि एव प्रतिभा का परिणाम है।

कबीर कर्मकाड को आडम्बर समझते थे। पक्के हिंदू-मुसलमान की तरह माला जपने मे कबीर को तनिक भी विश्वास न था। ऐसे मनुष्यों को वे शिक्षा देते है—

"ऐ मनुष्यो, हाथ की माला को छोडकर मन की माला फेरो।"

कबीर केवल सत्य के उपासक थे। उन्होंने किसी नामधारी बंधन मे अपने को नही बाँधा। मुसलमानों के रोजा, नमाज़, ताजिएदारी और हिंदुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थ, व्रत आदि सभी की उन्होंने भरपेट निंदा की है। हिंदुओं की जाति-पाति, छुआछूत, खान-पान के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी आदि कराने का उन्होंने घोर विरोध किया। पितरों का जल से तर्पण करना हिन्दुओं मे एक साधारण बात है; परन्तु कबीर का इस पर भी विश्वास न था। "एक दिन जब वे नदी मे स्नान कर रहे थे, उन्होंने कुछ हिन्दुओं को तर्पण करते देखा। उन्हे देखकर उन्होंने भी पश्चिम की ओर जल डालना आरम्भ कर दिया। उन हिन्दुओं मे से

एक ने यह देखकर पूछा—ऐ जुलाहे ! यह तू क्या कर रहा है ?

कबीर ने उत्तर दिया—मै एक खेत को सींच रहा हूँ, जो यहाँ से दूर है ।

इस पर सब लोग हँसने लगे और कबीर को मूर्ख बताने लगे ।

कबीर ने कहा—तुम मुझसे बढ़कर मूर्ख हो, क्योंकि तुम तो बैकुण्ठवासी पूर्वजों को जल पहुँचाना चाहते हो ।"*

कबीर कहते हैं—दाढ़ी-मूँछ मुडाने से क्या होता है ? यदि मुड़ाना है तो मन को मुड़ाओ; अपनी वासनाओं के ऊपर राज्य करो । उसी के अंदर शैतान अपना प्रभुत्व जमाये बैठा है ।

माला तिलक लगाइकै, भक्ति न आई हाथ ।
दाढ़ी मूँछ मुड़ाइकै, चलै दुनी कै साथ ॥

कबीर उन ज्ञानियों मे से नही थे, जो हाथ-पाव समेटकर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं । वे परिश्रम का रहस्य जानते थे और अपनी जीविका के लिए अपने ही हाथ का आसरा रखते थे । थोड़े मे ही संतोष करने का उन्होंने उपदेश दिया है । धन-धरती जोड़ना उनकी वृत्ति के विरुद्ध था । उन्होंने कहा भी है—

काहे कूँ भीत बनाऊं टाटी, का जाणूं कहँ परिहै माटी ।
काहे को मंदिर महल चिनाऊं, मूवाँ पीछै घडी एक रहन न पाऊं ॥
काहे को छाऊं ऊंच उचेरा, साढ़े तीन हाथ घर मेरा ।
कहै कबीर गरब न कीजै, जेता तन तैती भुइं लीजै ॥

कबीर ने कथनी और करनी का भी खूब विवेचन किया है । वे कहते है—संसार मे कहने वाले तो बहुत मिलते हैं; परन्तु उसको करने वाला कोई विरला ही मिलता है । कहना खाँड के समान मीठा लगता है और करना विष के समान कड़वा;

*का० ना० प्र० प० भाग ५ अंक ३ पृष्ठ २८८

परन्तु कर्म करनेवालों को विष भी अमृत हो जाता है।

कबीर के विषय मे दूसरा प्रश्न उठता है—हिन्दी-साहित्य मे कवि कबीर का स्थान कौन सा है? उत्तर मे निवेदन है कि कबीर की कविता का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। अतएव बिना यह समझे हुए कि रहस्यवाद क्या है, इसका निर्णय नही कर सकते। हम यह मानते हैं कि कबीर के काव्य मे रोचकता का ह्रास है, उनकी भाषा अक्खड़ है, उसमे दार्शनिक पदों का ही बाहुल्य है और वे पद भी अधिकतर पिंगलशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं हैं, परन्तु कबीर मे महान कवि के सब लक्षण विद्यमान हैं। उनमे प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गाम्भीर्य है। उनके काव्य मे उनका हृदय प्रतिबिम्बित है, अपनी निजी कल्पना का जीता-जागता चित्र है, अपना निजी संदेश है। उनके काव्य मे कोमलकान्त पदावली का अभाव अवश्य है। यदि आध्यात्मिकता को भौतिकता से श्रेष्ठ ठहराया जाय, तो कबीर का स्थान हिन्दी-साहित्य-कानन मे वही है, जो सूर और तुलसी का है। और यदि रहस्यवादियों की दृष्टि से देखा जाय, तो यह निर्विवाद है कि कबीर का स्थान जायसी से भी अधिक ऊँचा है।

अब हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि रहस्यवाद क्या है और कबीर का रहस्यवाद किस प्रकार का है।

इस संसार-चक्र का परिचालन एक अद्भुत अज्ञात शक्ति करती है, इसका अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आ रहा है। इस अज्ञात शक्ति का मनुष्य से क्या नाता है, इसी का ज्ञान रहस्य का अंतिम लक्ष्य है। अनंत के सम्पर्क में आने तथा उस "सत्ता" को अपने इन नंगे छोटे-छोटे हाथों से पकड़ लेने की अभिलाषा उत्पन्न होना रहस्यवाद की सीढ़ी पर पैर रखना है। रूपहीन-चिन्तन द्वारा अपनी आत्मा की एकान्तता मे एक दैवी शक्ति

के आभास का अनुभव करना ही रहस्यवाद का अन्तिम लक्ष्य है। रहस्यवाद कोई मोल ली जाने वाली मोतियों की लडी नही है। यह वह पाषाण-क्षेत्र है, जहां थोडा सा खोदने पर ही भ्रमात्मक पत्थर निकलने लगते है और जहाँ सच्चे हीरे पाने के लिए खोदने वाले को बड़े परिश्रम एवं धैर्य्य की आवश्यकता होती है। जीवन के पूर्णाङ्क सम्पर्क मे आने पर ही हम उसके भाव तथा तात्पर्य्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते है, जीवन के आदि संगीत का अनुभव कर सकते है, अन्यथा नही। यह तभी सम्भव है जब हम अपने भावों और विचारों को सभिन्न कर 'वास्तविकता' के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेने वाले मनुष्यों के अनुभवों का सहारा ले। ये कवि है, सिद्ध हैं, भविष्यद्वादी हैं। ये वे लोग हैं जो अपने दिव्य-चक्षुओं से उस "अनन्त-प्रकाश" का दर्शन कर चुके है। ये विकारहीन विचारों के प्रभु हैं और अपनी अद्भुत, आत्मिक एवं मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकास के कारण उस अंतर्ज्ञान के अधिपति हैं, जो भावात्मक वस्तुओं तक पहुंचने का एकमात्र साधन है।

रहस्यवाद का विकास कुछ इस प्रकार होता है—

मनुष्य किसी वस्तु की खोज मे घूमता फिरता है, सहसा उसे एक तेजहीन ज्योति का आभास मिलता है। उसे प्रतीत होता है कि ज्ञान और बुद्धि दोनों उसकी प्रतीक्षा कर रहे है। बस, वह जीवन की वास्तविकताओं को भूल जाता है और मानसिक क्षेत्र की सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ उसे अपनी ओर खींच ले जाती हैं। साधारण भाषा मे कहना होगा कि वह 'खो' जाता है। उसकी आत्मा उस "अनन्त ज्योति" से इतनी प्रकाशित हो जाती है कि उसको अपने पूर्वजन्म की तनिक भी स्मृति नहीं रहती। जिस समय ज्ञानी इस दशा को पहुँच जाता है, उस समय वह

पक्का रहस्यवादी हो जाता है। उस समय वृक्ष का डोलना उसे वृद्धावस्था के कम्पन का स्मरण दिलाता है, उस पर बैठने वाले पक्षी उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप जान पड़ते है और उस वृक्ष को काटने वाला बढ़ई काल के रूप मे उसके सामने प्रस्तुत होता है। कबीर ने इसी रहस्य को देखकर एक स्थान पर कहा है—

बाढ़ी आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग।
हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग॥

सायं-प्रातः न जाने कितने लोग मेघ खंडों को रक्त-वर्ण होते देखते हैं; पर वे किस अनुराग से लाल हैं इसे कोई रहस्यवादी ही बता सकता है। मालियों का फूल तोड़कर एक स्थान पर रख देना कौन नही देखता! परन्तु कबीर जैसे रहस्यवादी ही उसमें संसार की अनित्यता का आभास पाकर कह सकते है—

माली आवत देखि के कलियाँ करे पुकारि।
खिली-खिली तो चुन लई अब काल्हि हमारी बारि॥

कबीर ब्रह्म के जिज्ञासु हैं। जिज्ञासा का सम्बन्ध आत्म-ज्ञान से है। "जब जिज्ञासु ज्ञानी की कोट पर पहुँचकर कवि होना चाहता है, तो स्वभावतया उसका ध्यान रहस्यवाद की ओर झुक पड़ता है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता-क्षेत्र मे आकर भावुकता और कल्पना का आधार पकडकर इस रहस्य-वाद का रूप पकड़ लेता है।" इसी समय उसकी दृष्टि मे सृष्टि की प्रत्येक वस्तु दूसरी से एक अखंड सम्बन्ध से जकड़ी हुई दिखाई पड़ती है। ऐसे समय कवि की भी सहृदयता अनन्य-हृदयता का रूप धारण कर लेती है और झरनों मे, निर्जन वन मे, मर्मर करते हुए कानन मे, पुष्पों के पराग की गंध मे, सुगंध पवन के मृदुल झोकों में, भक्त को केवल अपने ही प्रियतम की मधुर वाणी सुनाई देती है। वह खिले हुए फूलों मे, रमणी के

सस्मित आनन मे, सुन्दर मेघ-माला मे, निखरे हुए चन्द्र-बिम्ब मे, अपने प्रियतम के सौंदर्य्य का, गम्भीर मेघ-गर्जन मे, बिजली की कड़क मे, वज्रपात मे, भूकम्प मे, उसकी रौद्र-मूर्ति का; संसार के असामान्य वीरों मे शक्ति का और परोपकारियों, त्यागियों एवं माता के स्नेह-पूर्ण चुम्बन मे उसकी शीलता, वत्सलता आदि का साक्षात्कार करता है।

रहस्यवादी विशेषतया चार प्रकार के होते है—

(१) भक्ति-उपासक—इनके विचार मे संन्यासी होकर परमात्मा का भजन करना ही सफलता की कुंजी है। आत्मिक एवं शारीरिक बल, निर्द्विष्ठता, वीरतासूचक साहस, तीक्ष्ण बुद्धि, तीक्ष्ण व्यंग्य यही इनके सौम्य के लक्षण हैं।

(२) दार्शनिक—ये संन्यासी होकर संसार परित्याग करने के नहीं, वरन् घर पर ही विरक्त-जीवन व्यतीत करने के पक्षपाती हैं।

(३) प्रकृति-उपासक—ये फूलों और पत्तों ही मे परमात्मा का साम्राज्य देखते है। इनका मत है कि मनुष्यात्मा पहले प्रकृति ही में ईश्वर का अन्वेषण करती है। उसका सबसे पहला ईश्वर-ज्ञान प्रकृति-ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसकी सब से पहली पूजा प्रकृति-पूजा ही है। वह प्रत्येक पदार्थ का पूजन करती है, जो उसमे आश्चर्य और कृतज्ञता का संचार करे। यह प्रकृति का पूजन न तो विश्वदेववाद ही है और न अनेकदेववाद ही। यह तो केवल अपरिमित शक्ति का पूजन है, अर्थात् साधारण ईश्वर-वाद तथा आस्तिकता है। हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

हम कबीर को इस तीसरी श्रेणी मे रखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। प्राकृतिक सौंदर्य्य हृदय मे उपासना का भाव जागृत कर

देता है, वासनाएँ शांत हो जाती हैं। कबीर इस भक्ति-भाव से प्रेरित अवश्य हुए थे, परन्तु चित्त की शान्ति ही वास्तविक सौंदर्य्य है, कबीर इससे अनभिज्ञ नही थे। यह शान्ति उन्हे फलों और फूलों मे प्राप्त न हो सकी। हाँ, इन सब ने भक्ति-भावना की ओर कबीर का ध्यान आकर्षित अवश्य कर दिया।

(४) प्रेमोपासक—इनके अनुसार "अज्ञात" से मिलाने का उपाय एक मात्र प्रेम है। इनके मतानुसार प्रेम केवल उच्छ्वास मात्र ही नही है; वरन् वह एक निग्रहसाधन भी है। इस मत के अनुयायी ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य्य और अनन्त गुण-सम्पन्न प्रियतम के रूप मे करते हैं। यही सूफ़ी मत है। सूफी लोग ब्रह्मानन्द का वर्णन लौकिक प्रेमानन्द के रूप मे करते हैं और इस प्रसंग मे शराब, मद आदि को भी ले आते हैं। कबीर के ऊपर भी इस रंग का काफ़ी असर है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक प्रेम ग्रस्त प्राणियों की इच्छा कायर की समर-लालसा है, जो द्वंद्वी की ललकार सुनते ही विलुप्त हो जाती है, परन्तु कबीर प्रेम-मस्त प्राणियों में से हैं। कबीर के प्रेम मे ममत्व नहीं; वरन् आत्म-समर्पण है। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रियतम से साक्षात्कार होने पर कबीर कहते हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मै गई मै ही हो गई लाल॥

प्रेम की इसी शुद्ध एवं उन्नतम अवस्था मे प्रियतम के प्रेमानुराग मे स्मृतिमय होकर प्रेमी आह्लादित हो गाने लगता है—

हमन है इस्क मस्ताना, हमन को होसियारी क्या।
रहैं आजाद या जग मे, हमन दुनियाँ से यारी क्या॥
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर बदर फिरते।

हमारा यार है हममे हमन को इंतजारी क्या ॥
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़े पियारे से ।
उन्ही से नेह लागी है हमन को बेकरारी क्या ॥
कबीरा इस्क का माता, दुई को दूरकर दिल से ।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ॥

हे परमात्मन् ! क्या इस मनोराज्य मे हमे भी स्थान मिलेगा ? क्या यह हलका-हलका नशा हम पर चढ़ेगा ? अनिर्वचनीय आनन्द की यह भीनी झलक क्या कभी हमे भी देखने के लिए मिलेगी ? आह !

सो दिन कैसा होयगा गुरु गहिंगे बाँह ।
अपनाकर बैठावही चरण कमल की छाँह ॥

—सोमनाथ गुप्त

———

(२७)

बंगला-साहित्य

भारत के विभिन्न प्रदेशों की भाषा और साहित्य के विषय मे जिन्होंने थोड़ी बहुत भी आलोचना की है, वे इस बात को स्वीकार करेगे कि वर्तमान युग मे बंगला भाषा और साहित्य भारत के अन्य प्रांतों की भाषा और साहित्य की तुलना मे अधिक उन्नत है। बंकिमचन्द्र और माइकेल मधुसूदनदत्त को छोड देने पर भी आज हम केवल रवीन्द्रनाथ को लेकर ही संसार के श्रेष्ठ भाषा और साहित्य के मंचपर निर्दिष्ट आसन पाने का दावा कर सकते हैं। हो सकता है कि वह आसन तुलना मे छोटा हो, किन्तु फिर भी हमने एक आसन पाया है। सिर्फ रवीन्द्रनाथ को जानने और समझने के लिए पाश्चात्य देशों ने भी बंगला-भाषा और साहित्य के सम्बन्ध मे अपना आग्रह दिखाया है और हम इस बात को भूल नहीं सकते कि आज हमारे एक कवि ने संसार के कवि-दरबार मे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करके हमारी भाषा और साहित्य की प्रतिष्ठा कायम की है। बंगला भाषा भी एक भाषा है, और उस भाषा के बोलने वालों ने अपना एक साहित्य बना लिया है, यह बात आज देश-विदेश मे फैल गई है।

बंगला भाषा और साहित्य की यह उन्नति और विस्तृति कुछ ऐसी ही आकस्मिक है कि इसके इतिहास का पता लगाना आवश्यक हो गया है। किस मन्त्र के बल से, किस महा प्रतिभावान् की प्रतिभा की दीप्ति से हीन बंग-भाषा सहसा ऐसी वरणीय

हो उठी, भारत के अन्यान्य प्रदेशवासियों के लिए इस बात के जानने की बड़ी आवश्यकता है। आज हम चाहे कितने ही उन्नत क्यों न हों, यह बात ठीक है कि प्राचीन युग मे बंगदेश की भाषा और साहित्य ने उतनी पूर्णता नहीं पाई थी, जितनी कि भारत के अन्यान्य प्रदेशों की भाषा और साहित्य ने प्राप्त की थी। हम सिर्फ बंगला भाषा और साहित्य की बात ही नहीं कह रहे है। इस भाषा और साहित्य के जन्म से पहले संस्कृत और प्राकृत-भाषा मे भी बंगदेश विशेष कृतित्व नही दिखा सका था!

असल मे बात यह है कि अतीत युग मे ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र मे बंगवासियों का स्थान बहुत नीचे था। स्वर्गीय राजेन्द्रलाल मित्र का यही सिद्धान्त था और मनीषी बंकिम की भी ऐसी ही धारणा थी। महाभारत मे बंगदेश को पाण्डववर्जित अर्थात् हीन कहा गया है। उसके बाद के समय मे भी साहित्य की दृष्टि से उत्तर और पश्चिम-भारत के पण्डितों ने बंगदेश मे प्रचलित (संस्कृत-साहित्य की) लेखन-रीति को 'गौडी रीति' कह कर उपहास करने मे कसर नही रखी। प्राचीन बंगदेश के ऐसे एक भी कवि का नाम हम नही ले सकते कि जिनका व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, माघ, भारवि, श्रीहर्ष. अमरु और भर्तृहरि के साथ एकत्र उल्लेख किया जा सके। ईसा की दसवीं शताब्दी के लगभग आकर हम 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव और 'पवनदूत' प्रणेता धोयी कवि का नाम जरूर पाते है; परन्तु निर्दोष काव्यादर्शक की दृष्टि से विचार किया जाय, तो जयदेव की कुछ प्रसिद्धि होने पर भी वे द्वितीय श्रेणी के कवि थे और धोयी और भी नीचे दर्जे के। हाँ, साहित्य के टीकाकार के रूप मे बंगाली कुल्लूक भट्ट ने भी भारतव्यापी ख्याति प्राप्त की थी। न्याय और स्मृति शास्त्र मे—रघुनन्दन और जगन्नाथ तर्कपंचानन परवर्ती युग के

विद्वान हैं। बंगालियों का अतीत इतिहास कभी भी ऐसा अन्धकार-मय नही था, इस धारणा के वशीभूत होकर कुछ अति बुद्धिमान बंगाली पुरातत्त्ववेत्ता वाल्मीकि और कालिदास को बंगाली सिद्ध करने के लिए प्राण दिये देते है, परन्तु ऐसी धारणा बिल्कुल बेजड़ है हीन मनोवृत्ति का परिचय देती है।

इस बीच मे कब संस्कृत-भाषा प्रबल काल-स्रोत से चकनाचूर होकर प्राकृत में परिणत हो गई और प्राकृत कब धीरे-धीरे हिन्दी, गुजराती, मैथिली, उड़िया और बंगला भापा मे परिणत हो गई, यह सब मुख्यतया भाषातत्त्व की बातें हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के 'खैरा' अध्यापक डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की लिखी हुई 'Origin and Development of the Bengali Language and Literature' (बंग भाषा और साहित्य की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता) नामकी युगान्तकारी पुस्तकों मे इस विषय की विस्तृत आलोचना की गई है।

हमे अब तक बंगला-भापा के जितने भी प्राचीन निदर्शन मिल रहे हैं, उनसे मालूम होता है कि ईसाई चौथी पाँचवी शताब्दी मे भी बंग-भाषा का प्रचलन था। माननीय हरप्रसाद शास्त्री महाशय द्वारा नेपाल मे आविष्कृत 'बौद्ध गीत और दोहों' को यद्यपि विद्वानगण ईसा की आठवीं शताब्दी मे लिखा हुआ बता रहे है, और यद्यपि उन्हे बड़ी मुश्किल से बंगला के रूप मे पहचाना जा सकता है, तथापि मालूम होता है कि उसके पहले ही बंगला-भाषा का जन्म हो चुका था।

इस छोटे से लेख मे अति प्राचीन युग से लेकर आधुनिकतम वर्तमान युग तक बंग-भाषा और साहित्य का इतिहास लिखा जाना असम्भव है, इसलिए इस लेख मे बंग-साहित्य का विशेष वैशिष्ट्य जहा से शुरू होता है—जिस विशिष्टता के प्रभाव से बंगला साहित्य

आज भारतवर्ष की प्रादेशिक भाषाओं में शीर्षस्थान प्राप्त किये हुए है—वहीं से बंगला-भाषा के इतिहास का सारांश किया जाता है। बंगला-साहित्य का वर्तमान युग शुरू होता है ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्त से, अर्थात् मृत्युंजय तर्कालंकार और राममोहन राय से। इसके पहले तक अर्थात् 'बौद्ध गीत और दोहे' से शुरू करके श्रीरामपुर मे क्रिश्चियन मिशनरियों के आने तक बंगला-भाषा का इतिहास कुछ कम विशाल नहीं है। हाँ, भारत के और-और प्रान्तों की भाषा और साहित्य की उन्नति तथा पूर्णता के साथ इस का कुछ मेल है—यह बिल्कुल ही भारतीय है। गीति-उच्छ्वास और मधुर भाव की दृष्टि से बंगाली वैष्णवों की विशिष्टता इसमे रहने पर भी भारतीय भाव-धारा से इसे अलग नही किया जा सकता। बंगला-भाषा और साहित्य के शैशव और कैशोर-युग की आलोचना करने से मालूम होगा कि अन्य प्रान्तीय भाषा और साहित्य के साथ इसका एक सम्बन्ध-सूत्र है। इस अंश के इतिहास के कुछ खास-खास अध्यायों का ही वर्णन इस लेख में किया जायगा।

बौद्ध गीत और दोहों के बाद 'डाक' और 'खना' के वचन है।* बौद्ध गीत और दोहों के साथ साधारण-जनता का सम्बन्ध टूट जाने पर भी डाक और खना के वचन आज तक ज्यों के त्यों साधारण जनता के मुँह ज़बानी प्रयुक्त होते आ रहे हैं। इसके बाद एक ओर धर्ममंगल के गीत—शून्यपुराण आदि हैं और दूसरी ओर चण्डीदास, विद्यापति आदि की गीति कविता। विद्यापति मैथिल होने पर भी बंगाल के साथ उनका घनिष्ट सम्बन्ध था। उसके बाद है रामायण, महाभारत और भागवत का अनुवाद। एक ओर जैसे धर्ममंगल के गीत ईसा की बारहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं सदी तक फैले हुए हैं—रमाई पण्डित से लेकर

* 'डाक' और 'खना' नाम के दो व्यक्ति हो गये हैं।

घनराम तक अनेक कवि धर्म के गीत रच गये हैं—दूसरी ओर उसी तरह नाथ-पन्थ के कविगण बहुत प्राचीन युग से लेकर उस दिन तक गोरखनाथ और मछिन्दरनाथ की कीर्ति छन्दों मे गा रहे है। गोरख-विजय वा मीन-चेतन और मैनामति के गीत आदि इसी पर्याय मे आ जाते है। 'मनसामंगल' ने भी इसी समय मे प्रसिद्धि पाई थी, काने हरिदत्त, विजय गुप्त, नारायण देव जनार्दन आदि 'मनसार भासान' (मनसादेवी का विसर्जन) पर काव्य रच गये है।

अनुवाद-शाखा मे भी बंगदेश भारत के और-और प्रदेशों से आगे बढ गया था। हॉ, यह बात तो अवश्य ही माननी पड़ेगी कि तुलसीदास के समान कवित्व इन कवियों मे से किसी मे भी नही था, फिर भी यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि भागवत, पुराण, रामायण और महाभारत के ऐसे निराले ढंग के अनुवाद और कही भी नही हुए है। कृत्तिवास, काशीदास, संजय, कवीन्द्र परमेश्वर, श्रीकर नन्दी, मालाधर वसु आदि कवि इन अनुवादों के लिए विख्यात हुए हैं।

इस बीच मे, ईसा की पन्द्रहवीं सदी मे चैतन्यदेव का जन्म हुआ। चण्डीदास और विद्यापति की राधाकृष्ण-विषयक गीति-धारा चैतन्य-भक्त कवियों की सहायता से सुविशाल-तरंगिणी के रूप मे परिणत हुई। चैतन्यदेव का आगमन वंग साहित्य मे एक युगान्तरकारी घटना है। पश्चिम-भारत मे जब कबीर, नानक, दादू आदि गीतों के प्रसिद्ध कवि हुए थे, उस समय वंगदेश में जैसी बाढ़ आई थी, वह अतुलनीय थी। इस बाढ़ के कारण ही हम गोविन्ददास, ज्ञानदास, शेखर राय, वसन्त राय, बलरामदास, वासु घोष, घनश्यामदास, लोचनदास, राधामोहन ठाकुर आदि प्रसिद्ध पदकर्ताओं को पाते हैं। सिर्फ गीति-कविता ही नहीं, बल्कि

'उज्ज्वल-नीलामणि' जैसे रस-ग्रन्थ तथा 'चैतन्य-चरितामृत' और 'चैतन्य भागवत' जैसी चरित-कथाओं की उत्पत्ति बंगला देश मे चैतन्य के प्रभाव का फल है। वस्तुत. इस समय बंगदेश मे एक अपूर्व जागरण की गूँज गूँज उठी थी।

चैतन्य के प्रभाव के बाद ही देखते हैं शक्ति वा चण्डी की वन्दना के गीत। ये चण्डी के गीत बंगाल के अपने हैं। कविकंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती का चण्डी काव्य बंगला-साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। बंगला-साहित्य की चर्चा करने वाले गीति-कविता की ओर से जैसे चण्डीदास को नहीं छोड़ सकते, उसी तरह काव्य की दृष्टि से कविकंकण चण्डी की भी वे उपेक्षा नही कर सकते।

कविकंकण के बाद ही भारतचन्द्र और रामप्रसाद का नाम लिया जायगा। रामप्रसाद के श्यामा-सम्बन्धी गीत बंगाल के बिल्कुल अपने हैं, और कला-शिल्पी की दृष्टि से प्राचीन युग से आधुनिक युग तक सिर्फ भारतचन्द्र का ही नाम लिया जा सकता है। कवि के काव्य उस समय राज-सभा मे बारी-बारी से पढ़े और गाये जाते थे, इसलिए उनमे अश्लीलता का दोष दृष्टिगत होने पर भी बंगला-साहित्यामोदी भारतचन्द्र को अलग नही छाँट सकते।

वैष्णव-भावधारा के साथ-साथ बंगदेश में 'सहजिया' रीति ने प्रधानता पाई थी। बहुतों का कहना है कि धर्मंमंगल और नाथ-गीतिका की तरह यह भी बौद्ध-प्रभाव का ही फल है। यह बात मान लेने पर भी सहजिया देहतत्त्व के गीतों की अपूर्वता को अस्वीकार नही किया जा सकता।

प्राचीन और मध्ययुग के बंगला-साहित्य का मामूली तौर से यही परिचय है। अनेक प्रसिद्ध कवि और काव्यों का इस तालिका मे उल्लेख नहीं किया जा सका—और इस छोटे से निबन्ध मे उन सब का उल्लेख सम्भव भी नहीं है। हाँ, बंगदेश के काव्य-हृदय की

जो फल्गुणा-धारा है, उस 'पल्ली-गाथा', 'छड़ा' (लटके) और 'पॉचाली' (एक श्रेणी के गीत, जिन्हें स्त्रियाँ गाती हैं) का उल्लेख न करना अन्याय है। मैमनसिंह, श्रीहट्ट और चटगॉव की पल्ली-गाथाओं का सग्रह श्री चन्द्रमोहन दे ने किया है, जिसे कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। इसमे सन्देह नहीं कि काव्य की दृष्टि से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। 'कीर्तन' 'पाँचाली' और 'छड़ा' भी बंगला-साहित्य के लिए कम मूल्यवान नहीं हैं। और एक बात का यहां उल्लेख होना जरूरी है, वह यह कि इस युग मे बंगला-काव्य-साहित्य की उन्नति मे मुसलमान नवाब और सूबेदारों ने भी काफ़ी सहायता दी है, और भी अनेक मुसलमान कवियों ने बंग वाणी की सेवा करके इस भाषा और साहित्य को समृद्धिशाली बनाया है। पद्मावती काव्य के प्रणेता कवि अलाउल इनमे प्रधान हैं। फकीर लालनशाह के गीत और मुर्शिद के गीत भी उल्लेख योग्य हैं।

अठारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे बंगला-साहित्य मे एक तरह की जडता आ गई थी। गीति-कविता की धारा समाप्त हो चुकी थी, और 'टप्पा', 'ढप', 'पॉचाली', 'कवि-गान', 'तरजा' आदि अत्यन्त अश्लील और नीचे दरजे के गीत रचे और गाये जाने लगे थे और उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग तक उनका प्रचलन बना रहा। दाशरथी राय और ईश्वर गुप्त ने आकर इनकी समाप्ति की। यहां इस विभाग के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों का नामोल्लेख-मात्र करके ही हम चुप रहेगे। इनके विषय मे विस्तृत वर्णन 'वंग-भाषा और साहित्येर इतिहास' नामक बंगला पुस्तक में मिलेगा। कविरंजन रामप्रसाद सेन के समकालीन कवि आजू गोसाँई हैं। रामनिधि गुप्त या निधू बाबू के गानों ने बंगाल की जनता के हृदय को बहुत दिनों तक सरस बना रखा था। इसके सिवा राम वसु, हर ठाकुर,

रासू-सिंह; आनटुनी साहब, भोला मयरा, रामरूप ठाकुर, गोविन्द अधिकारी, गोपाल उड़िया, यज्ञेश्वरी और कृष्णकमल गोस्वामी के नाम उल्लेख-योग्य है।

अभी तक जितना बंगला साहित्य का परिचय दिया है, वह बंगला-काव्य-साहित्य का परिचय है। अठारहवी सदी के अन्तिम भाग मे बंगला गद्य का जन्म हुआ था। यदि उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही बंगला गद्य--साहित्य का आरम्भ कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी।

प्राचीन युग की धारा से बंगवासियों का प्यासा मन तृप्त नहीं हो रहा था। वह कोई नई चीज़ ढूँढ़ रहा था। इस बीच मे अंग्रेज बणिक यहाँ के शासनकर्ता बन बैठे थे। श्रीरामपुर की ईसाई मिशन इस देश के लोगों के साथ अपने मन का सम्बन्ध जोडने के लिए प्रयत्नशील थी। फोर्ट-विलियम मे हिन्दू पण्डितों की सहायता से अंग्रेज़ों नें देशी भाषा सीखना शुरू कर दिया था। इसी समय अकस्मात् एक उलट-फेर हो गया। प्राचीन धारा को छोड़ कर अनुकरणप्रिय बंगाली सहसा अंग्रेजों के प्रभाव से प्रभावित हो उठे। अंग्रेजी भाषा और साहित्य का जायका पाकर बंगदेश उछल उठा, रूप मे बंगाली होने पर भी मन उसका हो गया अंग्रेज। फिर बंकिमचन्द्र के जमाने मे जब उसे अपना हृदय मिल गया, तब देखा कि उसकी भाषा और साहित्य ने ऐसा काया-पलट किया है कि एक उछाल मे वह भारत के अन्य प्रदेशों को बहुत पीछे छोड़ कर आगे बढ़ आया है; थोड़े से अब वह सन्तुष्ट नहीं है, विश्व के साहित्य-दरबार मे अपनी प्रतिष्ठा क़ायम करने के लिए उसने तपस्या करना शुरू कर दिया है।

यही पर बंगला के आधुनिक साहित्य का सूत्रपात होता है। बंगाल ने एक ओर जैसे अंग्रेजों से परहेज न रख कर मन को

संकुचित नही होने दिया और उससे उसका साहित्य राष्ट्रीय और सामाजिक दिशा मे परिपुष्ट हुआ, वैसे ही दूसरी ओर यह बात भी ठीक है कि खुला मार्ग पाकर बहुत-सा कूडा-करकट भी उसके अन्त:पुर मे, उसके हृदय मे, उसके समाज मे घुस आया, और उसने समस्त विधि-व्यवस्था और आचार-विचारों मे खलबली मचा दी। इस समय बंगालियों ने अबंगाली बन कर नवीन दृष्टि-शक्ति पाई तो सही, परन्तु इसके पाने मे उन्हे बहुत हानि भी उठानी पडी। भारत के और किसी प्रदेश को इतना अन्तर्विप्लव नही सहना पड़ा है। नीलकण्ठ की तरह एक दिन उसने विष-पान किया था, इसीलिए आज वह साहित्य मे, समाज मे और राष्ट्र मे सब प्रदेशों का अग्रणी है। अंग्रेजों के अनुकरण से किसी दिन बंग-वासियों ने जो प्राप्त किया था, आज उन्ही बंगवासियों का अनुकरण करके भारत के अन्य प्रदेश उसे प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं।

अंग्रेजी और बंगाली-सभ्यता के घात-प्रतिघात से शुरू का जो साहित्य बना था, निःसन्देह उसमे अधिकाश कूडा-करकट ही था। मनस्वी बंकिमचन्द्र ने लिखा है—"साहित्यिक कूड़े-करकट का ऐसा बेहद सस्तापन और कभी भी देखने मे नही आया। सौभाग्य की बात है कि कूड़े-करकट का यह ढेर अब सर्वसाधारण के स्मृतिपथ से हटा जा रहा है।" परन्तु इतनी बात जरूर है कि कूडा-करकट भर गया था, इसलिए बंगला-साहित्य आज फल और पुष्पों से सुशोभित है। इस कूड़े-करकट के युग मे जो महापुरुष अनेक प्रतिकूल शक्तियों के साथ द्वन्द्व करते हुए साहित्य-तपस्या मे लगे हुए थे, उनकी स्मृति शीघ्र ही लुप्त हो जाने पर भी, उन्हीं की श्मशान-भस्म के ऊपर बंकिम और रवीन्द्रनाथ का स्वर्ण-मन्दिर बना है, इसमे सन्देह नही।

यहा पर एक बात साफ़-साफ़ कहने की आवश्यकता है। पहले लिखा जा चुका है कि अठारहवी शताब्दी के बिल्कुल अन्तिम भाग मे अथवा उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ मे बगला-गद्य का जन्म हुआ। गद्य तो उससे पहले भी था, किन्तु वह केवल शिलालेखों, ताम्रपत्रों, कुल-तालिका पत्रों, दलीलों और अरजी आदि मे ही व्यवहृत होता था। यहा तक कि 'सहजिया' साहित्य, शून्यपुराण और वासु घोष के ग्रन्थों मे भी बंगला-गद्य का नमूना मिलता है। सहजिया-मत-सम्बन्धी एक गद्य ग्रन्थ चण्डीदास के नाम से प्रसिद्ध है। अब, यदि वह प्रक्षिप्त न हो, तो हमे यह बात माननी पड़ेगी कि ईसा की बारहवीं शताब्दी मे भी बंगला-गद्य मिलता है। परन्तु यह इतनी मामूली और इतनी तुच्छ चीज है कि हमें श्रीरामपुर के केरी साहब द्वारा लिखित बात-चीत को ही बंगला-गद्य का सब से पहला लेख मानना चाहिए। और तो क्या, हम जयनाथ घोष के राजोपाख्यान और बृन्दावन-परिक्रमा के गद्यांश को भी बंगला-गद्य का प्राचीनतम निदर्शन मानकर उसका उल्लेख नहीं कर सकते। क्योंकि इसकी प्रमाणिकता मे सन्देह है। इस बात से हम इनकार नहीं कर सकते कि बंगला-गद्य का प्रारम्भिक इतिहास श्रीरामपुर के मिशनरी साहबों के उद्योग का इतिहास मात्र है।

प्रश्न उठ सकता है कि बंगला-साहित्य का आधुनिक युग कब से शुरू होता है? इस प्रश्न का उत्तर देना सहज नहीं है। कोई कहते हैं—सन् १७५७ मे जब पलाशी के युद्ध मे बंगवासियों के भाग्य की परीक्षा हो चुकी थी, लार्ड क्लाइव ने दर्प के साथ जब कलकत्ते मे प्रवेश किया था, आधुनिक बंगला साहित्य का सूत्रपात लगभग उसी समय में है। सन् १७६० मे भारतचन्द्र की मृत्यु हुई और उनके साथ-ही-साथ प्राचीन युग का अन्त हुआ। बहुतों का मत है कि सन् १७५८ में ईश्वरचन्द्र गुप्त की मृत्यु के साथ-साथ

प्राचीन युग की समाप्ति और आधुनिक युग का सूत्रपात होता है। हमारी समझ से तो इन दोनों मतों मे कुछ-कुछ भूल है। सन् १७६० मे क्यों, उसके बाद भी बहुत दिनों तक बंगला-साहित्य की नूतन धाराका पता नही चलता और सन् १८५८ से बहुत पहले ही इस बात का पता लग जाता है, यहा तक कि बंकिम, दीनबन्धु और बिहारीलाल के गुरु ईश्वरचन्द्र गुप्त तक इस नवीन धारा के प्रभाव को नही हटा सके है, इसलिए सन् १८०० को ही हम मामूली तौर पर आधुनिक युगका जन्मकाल मानते है।

साधारण दृष्टि से देखा जाय, तो मालूम होगा कि इससे लगभग ५० वर्ष पहले बंगदेश के प्राचीन साहित्य की धारा बिलकुल सूख गई थी, सन् १७६० से लेकर १८०० ई० तक का समय बिलकुल मरु-युग है, परन्तु असल मे इस समय वह भीतर-ही-भीतर नूतन सृष्टि के उपकरण इकट्ठे कर रहा था। सन् १८००-१८२५ ई० आधुनिक बंगला-साहित्य के लिए स्मरणीय काल है। सन् १८०० मे फोर्ट विलियम-कालेज और श्रीरामपुर मिशन की स्थापना हुई, तथा सन् १८२५ मे केरी साहब के कोश का अन्तिम खण्ड समाप्त हुआ, और राज-कर्मचारियों की सहायता से बंगाल मे अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार की कोशिश से बंगला साहित्य भी बनने लगा। सन् १८२५ से १८५८ ई० तक आधुनिक साहित्य का दूसरा युग है। सन् १८५८ मे ईश्वरचन्द्र गुप्त की मृत्यु हुई, और माइकेल मधुसूदन दत्त के नाटक प्रकाशित होने लगे। इसके बाद के पचास वर्षों मे माइकेल की 'तिलोत्तमा,' दीनबन्धु की 'नील-दर्पण' और बंकिमचन्द्र की 'दुर्गेशनन्दिनी' प्रकाशित हुई। इस युग मे, बंगाल और अंग्रेजी प्रभाव के द्वन्द्वमे सद्यः जाग्रत बंगाली-हृदय पीड़ित हो उठा और अन्त मे उसने पाश्चात्य सभ्यता को ही वरण कर लिया। नवीन वैदेशिक भाव-धारा को अपनाकर

नित्य नवीन खोज मे यात्रा करके उसने समाज और साहित्य को पूर्ण करने की कोशिश शुरू कर दी। यह युग रिफार्मिंग यंग बेंगाल (सुधारक तरुण बंगाल) युग कहा जाता है। सन् १८५८ से १८९४ ई० तक आधुनिक बंगला-साहित्य का तीसरा युग है। इस समय चारों तरफ से तरह-तरह के भाव-विद्रोह आने लगे और उसने उलट-फेर करना शुरू कर दिया। इसमे सन्देह नहीं कि साहित्य-सृष्टि की दृष्टि से यह युग सफलता का युग था। सन् १८९४ से चौथा वा आधुनिक युग प्रारम्भ होकर औपन्यासिक शरत्चन्द्र तक आकर समाप्त होता है। इसके बाद ही पाँचवाँ वा अत्यन्त आधुनिक युग है।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि ईसा की अठारहवीं शताब्दी का अन्तिम समय बंगाल की चरमतम दुर्दशा का समय है। राष्ट्र और समाज मे, धर्म और साहित्य मे बंगला-देशके ऊपर से उस समय मरुभूमि की हवा चल रही थी। कवि-गान और कथकता के सिवा मनको खुराक पहुंचाने के लिए अन्य उपादानों की उत्पत्ति बन्द सी हो गई थी। पाठशालाओं मे छात्रों को गुरु-दक्षिणा और शुभंकरी की आर्या सिखाई जा रही थी। ऐसी दशा मे ज्ञान शौर्य और वीरता मे उन्नत अंग्रेज़-जाति के साथ उसका सम्बन्ध मनोजगत् की दृष्टि से बंगवासियों के लिए शुभ फलदायक ही सिद्ध हुआ था। ईसाई-धर्म-प्रचार का गूढ़ उद्देश्य होने पर भी उस समय कुछ महानुभाव पादरियों ने निःस्वार्थ भाव से बंगाल के युवक सम्प्रदाय को शिक्षित बनाने के लिए अपना जीवन दे दिया था और कट्टर सम्प्रदाय द्वारा काफ़ी विरोध किये जाने पर भी भविष्यदर्शी उदारमना महात्मा राजा राम-मोहन राय जैसे मनीषियों ने पाश्चात्य सभ्यता को वरण करके बंगदेश के सामने एक बिलकुल नया मार्ग खोल दिया।

सन् १७१५ में डेविड विलियम्स और चेम्बरलेन द्वारा किये हुए 'Lord's Prayer' के अनुवाद "सिल्लोक" से लेकर उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक अंग्रेज पादरी और लेखकों ने अनेक विषयों मे बहुत सी पुस्तकें बंगला-भाषा में लिखी। बंगला-साहित्य के इतिहास मे इनका स्थान बहुत ऊँचा है, उनकी सहायता के बिना बंगला-साहित्य वर्तमान अवस्था तक नहीं पहुंच सकता था, यह बात बिलकुल ठीक है। इन वैदेशिक विद्वानों के कार्य का इतिहास लिखना सहज नहीं है। इस सिलसिले में केवल उनका नामोल्लेख-मात्र किया जाता है। चेम्बरलेन और डेविड विलियम्स के अनुवाद के बाद ही Father Gverin (फादर ग्वेरिन) की बंगला और लैटिन में लिखी हुई 'कृपा के शास्त्र का अर्थवेद' नामक पुस्तक का उल्लेख किया जा सकता है। मिशनरी बंगला का प्राचीनतम निदर्शन इस पुस्तक मे मौजूद है। आश्चर्य का विषय है कि इसके पचास वर्ष बाद केरी मार्शमैन आदि पादरियों ने जो बंगला लिखी थी, उनकी तुलना मे इस पुस्तक की बंगला बहुत सरल और सहजबोध्य है। इसके बाद ही नैथ-नियेल ब्रैसी हैलहेडका नाम उल्लेख-योग्य है। सन् १७५१ मे वेस्ट-मिनिस्टर मे इनका जन्म हुआ था। सन् १७७२ के लगभग वे इस देश मे आये थे। इस समय विद्वानों मे उनकी काफी प्रसिद्धि थी। ये सुप्रसिद्ध वाग्मी शेरिडन के मित्र थे। बंगाल मे सिविलियन नियुक्त होकर इन्होंने इतने थोड़े समय मे इतनी अच्छी बंगला सीख ली कि बंगालियों की सभा मे जाकर ये बड़ी आसानी से अपने को बंगाली के रूप में चला सकते थे।

सन् १७७८ मे आपने अंग्रेजी भाषा मे सब से पहले 'बंगला-व्याकरण' लिखी थी। हैलहैड साहब का नाम तथा इस व्याकरण के प्रकाशनार्थ पहले-पहल बंगला हरूफ़ों की जिन्होंने खुदाई की,

उन चार्लस् विलियम्स् (पीछे सर चार्लस्) का नाम भी बंगला-साहित्य के इतिहास म स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा। इसके बाद फोर्स्टर के 'Vocabulary' वा कोश का उल्लेख होना चाहिए। सन् १७९९-१८०२ मे यह कोश रचा गया था, और बहुत दिनों तक वह अद्वितीय बना रहा।

बंगला-साहित्य के इतिहास मे श्रीरामपुर-मिशन अमर बना रहेगा। ईस्वी अठारहवीं सदी के अन्त मे इस मिशन मे विलियम केरी, मार्शमैन वार्ड आदि कितने ही पादरी आकर रहे। इनका मुख्य उद्देश्य ईसाई-धर्म प्रचार होने पर भी ये बंगला भाषा और साहित्य की उन्नति बहुत कर गए हैं। विलियम केरी को आधुनिक बंगला-साहित्य के प्रतिष्ठाताओं में गिनाया जाय तो अत्युक्ति न होगी। इन्होंने अंग्रेजी और 'बंगला-भाषा का व्याकरण' और 'शब्द-कोष' लिखा था और इन्हीं के उत्साह से सन् १८०१ मे रामराम वसु का 'प्रतापादित्य चरित्र' और सन् १८०२ मे 'लिपिमाला' रची गई। परन्तु गद्य-रचना मे रामराम वसु को विशेष सफलता नहीं मिली। राजीवलोचन मुखोपाध्याय-रचित 'कृष्णचन्द्र-चरित्र' १८०१ ई० मे मुद्रित हुआ। इसकी भाषा प्राञ्जल और रचना-नीति उन्नत थी। बंगला-भाषा के प्रथम और श्रेष्ठ गद्य लेखक थे मृत्युंजय विद्यालंकार। वे एक ओर जैसे साधु-भाषा के आदि लेखक थे, वैसे ही दूसरी ओर बोल चाल की भाषा के भी आदर्श लेखक थे। आजकल बहुतों की धारणा है कि महात्मा राजा राममोहन राय ही बंगला-गद्य के जन्मदाता हैं। इस धारणा की कोई नींव नही। बंगला-साहित्य के इतिहास मे उनकी प्रतिष्ठा बिलकुल भिन्न कारण से है। मृत्युंजय विद्यालंकार ने सन् १८१३ मे 'प्रबोध चन्द्रिका' नामक प्रसिद्ध गद्य-पुस्तक लिखी थी। बंगला गद्य ने उस समय हाल ही आकार धारण करना शुरू

किया था, इस कारण 'प्रबोध-चन्द्रिका' की भाषा अत्यन्त विशृंखल और अनेक असंगति दोषों से दूषित है। कहीं पर लिखते हैं—"कोकिल कलापलाप वाचाल जे मलयानिल उच्छच्छी करात्यच्छ निर्भरराम्भः कणाच्छन्न होइया आसितेछे।" और कहीं पर लिखते हैं—"मोरा चाष कोरीब, फसल पाबो, राजार राजस्व दिया जा थाके, ताहातेई बछर शुद्ध अन्न करिया खाब, छेलेपिला गुलिन पुषिव।"

बंगला-गद्य-साहित्य के प्रारम्भ काल मे निम्न-लिखित पुस्तके रची गई थीं—

ईस्वी सन्	पुस्तक	लेखक
१८०१	'प्रतापादित्य-चरित'	रामराम वसु
	'वंग-भाषार व्याकरण'	विलियम केरी
	'कथोपकथन'	"
	'हितोपदेश'	गोकुलनाथ शर्मा
१८०२	'लिपिमाला'	रामराम वसु
	'बत्रिश सिहासन'	मृत्युंजय विद्यालंकार
१८०३	'ईशपेर गल्प'	तारिणीचरण मित्र और जे० गिलक्राइस्ट
१८०५	'तोता-इतिहास'	चण्डीचरण मुन्शी
१८०८	'राजावली'	मृत्युंजय विद्यालंकार
	'हितोपदेश'	" "
	'हितोपदेश'	रामकिशोर तर्कालंकार
२८१२	'इतिहासमाला'	विलियम केरी
१८१३	'प्रबोध-चन्द्रिका'	मृत्युंजय विद्यालंकार
१८१४	'पुरुष-परीक्षा'	हरप्रसाद राय
१५-२५	'बंगला भाषार अभिधान'	विलियम केरी

इस युग के श्रेष्ठ मनीषी महात्मा राजा राममोहनराय की सहायता से बंगला-भाषा इस अवस्था मे तेजी के साथ उन्नति पथ पर अग्रसर होती रही। उन्होंने भारतीयों मे सब से पहले इस भाषा का व्याकरण लिखकर तथा इस भाषा मे अनेक शास्त्रीय विचार (शास्त्रार्थ) करके इसमे 'जान डाली थी'। उनका 'पथ्य-प्रदान और कायस्थ के साथ शास्त्रार्थ' जिन्होंने पढ़ा है, वे ही जान सकते है कि बगला-गद्य की सहायता से उन्होंने किस असाधारण कौशल से कितने थोड़े मे अपने मन्तव्य को व्यक्त किया है। वे उत्कृष्ट संगीत भी रच सकते थे। महात्मा राममोहन राय को बंगला-भाषा का प्रथम गद्य-लेखक क्यों कहा जाता है, यहाँ इस विषय मे दो शब्द लिख देना आवश्यक है। सन् १८०१ मे राम वसु का 'प्रतापादित्य-चरित' बङ्गला का पहला गद्य-ग्रन्थ है, इस मे सन्देह नहीं। किन्तु राम वसु महाशय राजा राममोहन राय के अनुचर और भक्त थे, तथा राजा के उत्साह से और उन्हीं का अनुकरण करके वे लिखा करते थे। सुना जाता है कि राममोहन राय 'हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा का प्रतिवाद' (हिन्दूदिगेर पौत्तलिकतार प्रतिवाद) नामकी एक पुस्तक इससे पहले ही लिख चुके थे, परन्तु उसे प्रकाशित नही किया था। सम्पूर्ण 'प्रतापादित्य-चरित' का राममोहन राय ने संशोधन कर दिया था। यह सब कुछ होने पर भी, केवल सुनी हुई बात के आधार पर राममोहन राय को बङ्गला गद्य का प्रथम लेखक नही कहा जा सकता। केवल भाषा और साहित्य के लिए भी नहीं, बल्कि उनकी प्रसिद्धि इसलिए है कि उनके प्रभाव से इस समय के बङ्गाल का हृदय और समाज-धर्म आमूल परिवर्द्धित होता रहा। साहित्य तो जातीय हृदय का इतिहास मात्र है। राममोहन राय उस समय जाति का संस्कार कर रहे थे, उसके फल-स्वरूप जो साहित्य बना, वह राममोहन द्वारा ही

बना, इसमे सन्देह नहीं है।

यहां रेवरेण्ड कृष्णमोहन बन्धोपाध्याय का नामोल्लेख करना आवश्यक है। उन्होंने अनेक अंङ्ररेजी पुस्तकों का अनुवाद करके बङ्गला-साहित्य को पुष्ट किया था।

राममोहन रायके बाद मदनमोहन तर्कालंकारका नाम उल्लेखनीय है। "पाखी सब, करे रव, राती पोहाइलो" कविता जिन्होंने लिखी थी, उन्हें बंगदेश भूल नही सकता। उनके प्रथम भाग, द्वितीय भाग तृतीय भाग 'शिशु-शिक्षा' ने एक दिन बंगाली शिशु-हृदयको पूर्ण करके साहित्य-रचनाका मार्ग प्रशस्त कर दिया था। इसके सिवा इन्होंने 'रस-तरंगिणी' और 'वासवदत्ता नामक दो उत्कृष्ट काव्य भी रचे थे। ये काव्य अश्लीलताके दोष से दूषित होने पर भी रचनाकी दृष्टिसे बहुत ऊँचे दर्जे के हैं।

इसके बाद ईश्वर गुप्त वा प्रभाकरका युग आता है। प्रसिद्ध 'पाँचाली'-कार दाशरथी राय इनके समकालीन थे। ये दोनों प्राचीन 'कवियों के वंशधर थे। 'कवियोंके' दोष-गुण दोनोंमे समानतासे विद्यमान थे। 'पाँचाली' बनाने के सिवा दाशरथी रायकी और कोई सत्ता नही थी, परन्तु ईश्वर गुप्तको कविकी पंक्तिसे अलग कर देनेपर भी हम बंगला-साहित्यके इतिहास से उन्हे अलग नही कर सकते। 'संवाद-प्रभाकर' स्थापित करके उन्होंने बंगाल मे जो साहित्यिक वायुमंडल उत्पन्न कर दिया था, प्राचीन साहित्य से रस वस्तुको निचोड कर बंगाली पाठकों के भावों को जिस ढंग से पुष्ट किया था, उसीसे बंकिमचन्द्र, दीनबन्धु और विहारीलाल जैसे औपन्यासिक, नाटककार और कवियोंका प्रादुर्भाव सम्भव हुआ था। उन्होंने गद्य-रचना मे भी प्रसिद्ध प्राप्त की थी। स्वयं बंकिमचन्द्रके ईश्वर गुप्तके विषयमें ये शब्द हैं—"वे अतीत और वर्तमान युगके बीचमे खड़े हुए है, और वे अपने समयके साहित्यिक

अभावमें तथा अन्त के कई वर्षों मे होने वाली उन्नति के उत्कृष्ट दृष्टान्त-स्वरूप हैं। "वे एक असाधारण व्यक्ति थे। वे अल्पज्ञ और अशिक्षित थे। वे मातृ भाषाके सिवा और कोई भाषा नही जानते थे, पर वे अपने समयके बंगाली लेखकों मे सर्वश्रेष्ठ थे, इस बातसे कोई इनकार नही कर सकता। कारण उनमे कुछ प्रतिभा थी, दूसरे लेखकों मे कुछ था ही नही।"

ईश्वर गुप्तके साथ साथ बंगला-साहित्यके आधुनिक युगका पूर्वार्द्ध समाप्त होता है।

इस समय बंगला गद्य-साहित्यके कुछ श्रेष्ठ साधकोंकी तपस्यासे बंगला भाषा और साहित्यने अकस्मात् ऐसी तेजीके साथ उन्नति की कि आज भी हम उस बात को सोचकर दंग रह जाते है। बंग-वाणीने इस समय 'सोने का स्वप्न' देखा है। प्रत्येक साधक की विस्तृत जीवनी लिखने के लिये यहाँ स्थान नही, इसलिए उनका केवल उल्लेख-मात्र किया जाता है। जिन्हें विस्तारसे जानने की इच्छा हो, वे 'बग भाषा ओ साहित्येर इतिहास' पढ़ें।

इस युगके साधकोंमेसे किसका नाम पहले लिया जाय और किसका पीछे, इसका निर्णय करना भी असम्भव है। लगभग सभी समकालीन है। कोई दो वर्ष आगे हुए है तो कोई दो वर्ष पीछे। हाँ, इतना ज़रूर है कि सबकी तपस्या अलग-अलग थी और सब असाधारण प्रतिभाशाली थे। केवल साहित्यमे ही नहीं, बल्कि प्रत्येक ने जीवन के भिन्न-भिन्न विभागोंमे सफलता प्राप्त की थी। पहले याद आती है महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरकी। उनका धर्म-जीवन यदि विलुप्त भी हो जाय, तो भी वे केवल-मात्र अपने 'आत्म-जीवन चरित' के लिए ही साहित्य-क्षेत्रमे अमर बने रहेगे। अपने युगमे उन्होंने जो पद्य-रचना की है, वह अतुलनीय है। प्रत्येक बंग-साहित्य-सेवी को चाहिए कि वह उनकी इस आत्म-जीवनीको पढ़े।

इनके बाद हैं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर । उनमे थी वहुमुखी प्रतिभा और काम करनेकी असाधारण क्षमता। उनके 'सीतार वनवास' की भाषा आज भी बगला गद्यका आदर्श बनी हुई है। बंगलाके शिशु-साहित्यको पुष्ट करनेके लिए वे अपने युगमे जो असाधारण परिश्रम कर गये हैं आज हम उसी का सुफल पा रहे हैं। विदेशी साहित्यसे अनुवाद करके और स्वय रचना करके वे अब तक वगदेशके शिशु हृदयके लिए खुराक देते आ रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि 'शकुन्तला' और 'सीतार वनवास' बादके युगके साहित्य-सेवियोंकी नीव रखनी है तो अत्युक्ति न होगी। उनके 'वर्ण-परिचय', 'चरितावली', 'कथामाला', 'बोधोदय', 'आख्यान-मजरी' आदि ग्रन्थोंने जातीय हृदयको जीने योग्य बना दिया है। 'वेताल पंचविंशति' ने उपकथाकी खुराक जुटाई है। और सबके ऊपर उनके 'विधवा-विवाह' विषयक ग्रन्थ ओजस्विनी भाषाके दृष्टान्त-स्वरूप विराजमान हैं। बंगला-साहित्य जब तक रहेगा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तब तक अमर बने रहेंगे।

अक्षयकुमार दत्तका स्थान भी कुछ कम ऊँचा नहीं है। उनका 'चारुपाठ' एक ओर जैसे हमे वास्तव-जगतसे परिचय कराता है, उसी तरह दूसरी ओर स्वप्न देखना भी सिखाता है। अक्षयकुमारका अतुलनीय दान है 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' यही उनका अन्तिम ग्रन्थ है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और अक्षयकुमार दत्तके साथ भूदेव मुखोपाध्यायका भी नाम लिया जा सकता है। विशुद्ध और ओजस्वी बंगला भाषाके सर्वोत्कृष्ट लेखकोंमे भूदेव मुखोपाध्याय अन्यतम हैं। उनकी भाषामे न तो विद्यासागरका पडित्य गर्व ही है, और न ग्राम्यता वा अशिष्टता। खेद सिर्फ इस बातका है कि उन्होंने समाज और शिक्षाके सिवा अन्य विषयके ग्रन्थ थोड़े ही लिखे हैं, परन्तु उनकी ऐतिहासिक उपन्यासकी एक

छोटीसी पुस्तकके पढ़ने से प्रतीत होता है कि उन्होंने जितना भी लिखा है, उससे बहुत ज़्यादा लिखने की उनमे क्षमता भी थी। 'कुलीन-सर्वस्व' के लेखक पं० रामनारायण तर्करत्नका नाम भी बंगला-साहित्यके इतिहासमे शामिल है, किन्तु उनकी रचना अनर्थक शब्दाडम्बर-पूर्ण है।

अब तक जिन साहित्यिकों का उल्लेख किया गया है, उनमे से प्रत्येकने संस्कृत या साधु-रीति के आधारपर बंगलासाहित्य की पुष्टि की है। लगातार इस पोशाकी (बाहरी वेशयुक्त) ढंग की रचना होने के कारण भाषा अपनी प्राण-शक्तिको खोकर निर्जीव हो रही थी। यदि इसी तरह और भी कुछ दिन रचना-कार्य चलता रहता रहता, तो बंगला भाषा की अपमृत्यु की आशंका थी। दो असमसाहसी मनस्वियों ने अदम्य शक्ति द्वारा बंगला भाषाको इस अपमृत्यु से बचाया। पण्डितम्मन्य व्यक्तियों के मंचपर अवतीर्ण होकर अपनी अपूर्व प्रतिभाके बलपर मृतप्राय भाषा के शरीर मे नवीन प्राणों का संचार किया। इन मनस्वियों के नाम हैं प्यारीचाँद मित्र (टेकचाँद ठाकुर) और कालीप्रसन्न सिंह। टेकचाद ठाकुर का 'आलालेर घरेर दुलाल' और कालीप्रसन्न का 'हुतोम पैंचार नक्सा' ये दोनों बोलचाल की भाषा की पहली रचना हैं। 'आलाल' बंगला का पहला उपन्यास है। श्रुति-कठोर संस्कृत शब्द-तरंगों की अविश्रान्त गर्जना से बंगवाणीके कान झन्ना उठे थे। इन दो मनस्वियोंने ही अपने अमित बलसे इस पाण्डित्य-गर्वको दूर हटा दिया। बंगलाका गद्य-साहित्य अब तक जिस मार्गसे प्रवाहित हो रहा था, 'आलाल' और 'हुतोम' ने उस स्रोत का मुँह फेरकर उसकी गति बदल दी। टेकचाँदने 'यत्किञ्चित्', 'अभेदी', 'रामा-रंजिका' आदि अन्यान्य पुस्तकें भी रची थीं, किन्तु उनकी ख्याति 'आलालेर घरेर दुलाल' के कारण ही है, और व्यास-

कृत महाभारतके अनुवादक कालीप्रसन्न सिंहकी प्रसिद्धि 'हुतोम पैंचार-नक्सा' लिखनेसे ही हुई है।

ईश्वरचन्द्र गुप्त, दाशरथी राय आदि अनेक कवियोंके होते हुए भी इस युगका काव्य-साहित्य अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी का है। बंगला काव्य-साहित्यकी इस ऊसर जमीनपर घनघोर वर्षा की माइकेल मधुसूदन दत्तने। बंगलाके काव्य-गगनमे आज तक दो ही चन्द्रमाओंका उदय हुआ है—एक मधुसूदन, और दूसरे रवीन्द्रनाथ। संसार के साहित्य-दरबारमे इन दोनों ही का स्थान निर्दिष्ट होचुका है। काव्य की जो बाढ़ माइकेल मधुसूदन अपने साथ लाये थे, वह बिलकुल बे-भरोसे की थी, नई थी। शिशु वाणीको अकस्मात् मानो यौवन प्राप्त हो गया। नाटककार वा 'सोनेट'-रचयिताकी दृष्टिसे हम माईकेलको अलग छाँट सकते हैं, 'तिलोत्तमा-सम्भव' के माइकेलकी उपेक्षा कर सकते है, परन्तु 'मेघनादवध' के रचयिता माइकेलको, 'वीराङ्गना' काव्यके माइकेलको अलग छाँट देनेसे आधुनिक बंगला-काव्य-साहित्यमे बहुत ही मामूली चीज रह जाती है। माइकेल बिलकुल नवीन थे। अब तक जो कुछ चला आ रहा था, माइकेलके काव्य उससे पृथक् वस्तु हैं। माइकेलकी उपमा वे स्वयं ही थे। मौतकी घड़ियाँ गिनती हुई तथा 'अब गई, अब डूबी' करती हुई जो वाणी अन्तमे सिर धुनकर मरना चाहती थी, मानो वह अकस्मात् जीवन-शक्ति पाकर महा उल्लाससे नृत्य करती हुई दौडने लगी। माइकेलके अमिताक्षरके विषयमें इससे ज्यादा और कुछ कहते नही बनता।

काव्य में माइकेल मधुसूदन, नाटक मे दीनबन्धु मित्र और उपन्यास मे बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय—तीन गगनों मे मानो तीन पूर्णचन्द्र है। तीनों एक हुए हैं रवीन्द्रनाथ मे आकर। वंग-साहित्य के ये सूर्य हैं—चिरज्योतिष्मान्!

'नीलदर्पण' 'सधवार एकादशी' 'लीलावती' और 'मालती-माधव' दीनबन्धु को चिरस्मरणीय बनाये रखेंगे। नपी-तुली हुई श्लीलता की लकीर के बाहर चले जाने पर भी यह मानना पड़ेगा कि लिखने की असाधारण क्षमता उनमें थी। उनके चरित्र-चित्रण सब जीते जागते है। नाट्यकार और रस-रचयिता के लिहाज से अब भी वे अद्वितीय है।

बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न बङ्किमचन्द्र के विषय मे थोड़े मे कुछ कह देना वातुलता कहलायेगी। अकेले उन्हीं की तपस्या से वंग-भाषा और साहित्य सौ वर्ष आगे बढ़ गया है। बंकिम ने हमारी आत्मा-चेतना को जगाया है, हमारे हृदय मे देश-प्रेम का स्रोत बहाया है; अपने उपन्यास और निबन्धादि की सहायता से हमारे अपरिपुष्ट मन को पुष्ट किया है। उनकी 'दुर्गेशनन्दिनी' के उसमान और जगतसिह आयेशा और विमला, गजपति विद्यादिग्गज और आसमनी—'राजसिह' के माणिकलाल और इसली बेगम—'कृष्णकान्तेर उइल' के गोबिन्दलाल, रोहिणी, सीताराम की स्त्री, जयन्ती —'चन्द्रशेखर' के प्रताप और शैवलिनी—'विषवृक्ष' के नगेन्द्र और हीरा—'कपालकुण्डला' की मोती बीबी—'आनन्दमठ' के सन्तान आज तक रक्त-मांस के जीव होकर हमारे साथ एकत्र विचरण कर रहे हैं। अलौकिक प्रतिभा के बिना यह बात सम्भव नहीं हो सकती थी। उनका 'कमलाकान्तेर दफ्तर' संसार के साहित्य-दरबार मे स्थान पावेगा।

बंकिमचन्द्र के विषय में रवीन्द्रनाथ ने जो कुछ लिखा है, वही उनके सम्बन्ध मे यथेष्ट है। हम उसे यहा उद्धृत करते हैं—

"हम लोगों मे जो साहित्य-व्यवसायी है, वे इस बात को कभी न भूले कि बंकिमचन्द्र के वे चिरऋणी हैं। एक दिन हमारी

बंगला-भाषा केवल इकतारा यन्त्र की तरह एक तार मे बँधी हुई थी, केवल सहजस्वर मे धर्म-सकीर्तन करने योग्य थी, बंकिम ने अपने हाथ से उसमे एक-एक करके तार चढाकर आज उसे वीणा के रूप मे परिणत कर दिया है। हम लोगों मे जो कुछ अमर है और जो कुछ हमे अमर बना सकता है, उन सब महाशक्तिओं को साधारण करने, प्रकाश करने और सर्वत्र प्रचार करने का एकमात्र उपाय जो मातृभाषा है, उसी को उन्होंने बलवती और महीयसी बनाया है।

बकिमचन्द्र के बाद रवीन्द्रनाथ तक उपन्यास-राज्य मे अधिक रत्नों का आविर्भाव नही हुआ। 'माधवीकंकण,' 'बंग-विजेता,' 'समाज' और 'ससार' के प्रणेता रमेशचन्द्र दत्त और 'स्वर्णलता' के प्रणेता तारकनाथ गगोली के सिवा और किसी का नाम याद नही आता। रमेशचन्द्र दत्तमे असाधारण प्रतिभा थी! अनेक कार्यों को करते हुए उपन्यास की रचना करके बंग-भाषा को उन्होंने जिस ढंग से समृद्ध बनाया है. वह उन्ही के लिए सम्भव था।

मधुसुदन दत्तसे लेकर रवीन्द्रनाथ तक—थोड़े ही समयके लिए, बंगलामे उच्च श्रेणीके कवियोंका आविर्भाव हुआ था, जिनमें रंगलाल बन्द्योपाध्याय, विहारीलाल चक्रवर्ती, सुरेन्द्रनाथ ठाकुर, हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय और नवीनचन्द्र सेनका नाम उल्लेखनीय है। रंगलाल-की 'सुरसुन्दरी' 'रहस्य-सन्दर्भ', पद्मिनी-उपाख्यान' 'कांचीकाबेरी', आदि काव्य बहुत उच्चश्रेणी के न होने पर भी, यह ठीक है कि उनमे कवि-प्रतिभा थी। 'वृत्र-संहार प्रणेता हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय और 'पलाशीर युद्ध' के लेखक नवीनचन्द्र सेनका नाम रगलालके साथ एक पंक्तिमें लिखा जा सकता है। 'बंग सुन्दरी' के प्रणेता बिहारीलाल, 'महिला काव्य' के रचयिता सुरेन्द्रनाथ' और 'स्वप्न-प्रयाण'-प्रणेता द्विजेन्द्रनाथ कवि की दृष्टि से उच्च श्रेणी के अवश्य हैं,

परन्तु इनके काव्य तत्त्वके रूपमे परिणत होनेके कारण संकीर्ण हो गये हैं।

'बौद्ध गान ओ दोहा' की वह क्षीणधारा नाना भाग्य-विपर्ययके बीचमें से निकलते-निकलते कभी मरु-मार्गमें खो गई है, कभी तट हीन विशाल तरङ्गिणीकी तरह उन्मत्त स्रोतोवेगसे दौड़ रही है, कभी क्षीण और कभी परिपूर्ण होगई है।

यह नदी स्रोत रवीन्द्रनाथ में आकर मानो सहसा समुद्र की भांति उफन उठी है। दिगन्त के उस पारसे इसकी गर्जना सुनाई दे रही है। गीताजली, गोरा, बागवान, षोडषी आदि की अमरता विवाद से परे की वस्तु है।

—सजनीकान्त दास

२८

नवीन युग की हिंदी कविता

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक काल बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के के हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होने के समय से गिना जाता है। भारतेन्दु जी के पहले तक हिंदी का रूप भाषा, विषय और शैली की दृष्टि से विशेष परंपराओं मे बँधा हुआ था। यह पहले व्यक्ति थे—जिन्होंने लकीर के फ़कीर बनना पसंद नहीं किया—और कविता को मनोरंजन और पांडित्य-प्रदर्शन के अपेक्षा-कृत अनुपयोगी क्षेत्र से बाहर खींच कर जीवन की समस्याओं के साथ उनका गठ-बंधन कराया। प्राचीन हिंदी कविता ने भी बहुत उन्नति की थी, इसमे संदेह नहीं—सूर—तुलसी—कबीर ने प्रेम, भक्ति और ज्ञान की त्रिवेणी बहाई। उपयोगिता और काव्य कला दोनों दृष्टि से इनकी रचनाएँ अप्रतिम हैं। देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि ने शृंगार-रस की रचनाएं लिखने मे काव्य-प्रतिभा का परमोत्कर्ष दिखाया। भूषण, लाल और सूदन आदि ने वीर-रस की सुंदर रचनाएँ की। रहीम, वृन्द आदि ने नीति की सुंदर-कविताएं लिखी। हिंदी-जगत अपने प्राचीन कवियों की देन का चिरऋणी रहेगा। लेकिन, कुछ समय से प्राचीन-काल की काव्य-रचना जीवन-हीन हो गई थी। उसमे मौलिकता का सर्वथा अभाव हो गया था—तथा उस समय के समाज के जीवन की भावनाओं के साथ उसका मेल नहीं मिलता था। बाबू भारतेन्दु ने ही यह साहस किया कि हिंदी-काव्य-सरिता के रुके हुए प्रवाह को—

दिशा-परिवर्तन कराकर-प्रवाहित कर दिया और उसे नव-जीवन, नवीन गति और नवीन स्फूर्ति प्रदान की। इसीलिए भारतेन्दु जी के काल से हिंदी का नवीन युग गिना जाता है।

आधुनिक हिंदी-कविता-काल को भी हम तीन युगों मे विभक्त कर सकते हैं। ये तीन युग इस प्रकार है—(१) भारतेन्दु-काल, (२) द्विवेदी काल और (३) प्रसाद-पंत-काल। आधुनिक हिंदी कविता ने थोड़े ही समय मे बडी उन्नति की है और उसमे अनेक परिवर्तन हुए है। इस लेख मे हम आधुनिक हिंदी कविता के इन्हीं परिवर्तनों--विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालेगे।

साहित्य पर सामाजिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है—इस सत्य को सभी जानते हैं। भारतेन्दु-काल की कविता का प्रवाह किस ओर बहा, इसे जानने के लिए उस समय की सामाजिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। उस समय भारतवर्ष मे हिंदू और मुसलमान दोनों राजसत्ताओं का लगभग अंत हो गया था और अंग्रेज़ों के पैर दृढता-पूर्वक जम गए थे। अंग्रेज अपनी सभ्यता, भाषा और शिक्षा का प्रचार यहाँ करने मे संलग्न थे। हिंदू और मुसलमान अंग्रेजों की कृपा प्राप्त कर अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति एक-दूसरे से ऊँची करने के प्रयत्न मे एक-दूसरे से दूर होते जा रहे थे। उर्दू और हिन्दी मुसलमाओं और हिंदुओं की सांप्रदायिक भाषाएँ बनती जा रही थी। यद्यपि उर्दू की सेवा करने वाले हिंदुओं की संख्या कम नही थी—लेकिन हिंदी साहित्य की सेवा करने वाले मुसलमानों की संख्या कम थी। अंगरेजों ने हिंदी की अपेक्षा उर्दू को अधिक प्रोत्साहन दिया; फिर भी हिंदी यहाँ की स्वाभाविक भाषा थी; इसलिए सब प्रकार की

बाधाओं और प्रतिरोधों का सामना करती हुई यह आगे बढ़ती ही गई।

अंगरेजों के द्वारा उस समय मुसलमानों के प्रति जो पक्षपात का प्रदर्शन हुआ उससे हिंदुओं के हृदय मे भी सांप्रदायिक भावना जागी। हिंदुओं की दृष्टि अपनी सामाजिक बुराइयों की ओर भी गई। हिंदुओं में जाति-पाँति, छूत-छात, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधवाओं पर अत्याचार, स्त्रियों को-अशिक्षित रखना तथा उनकी सामाजिक स्थिति हीन रखना आदि अनेक बुराइयाँ ऐसी थीं जिनके कारण हिंदू समाज दुर्बल होता जाता था। अछूत, विधवाएँ, जाति से बहिष्कृत तथा अंगरेजी-शिक्षा प्राप्त लोग हिंदू धर्म को छोड कर इस्लाम या ईसाई धर्म को अपनाने लगे थे। इसलिए उस समय समाज-सुधार का प्रबल आन्दोलन चल पड़ा। उस समय की कविताओं मे हिंदू-समाज की दुर्दशा, उसके प्राचीन गौरव और इतिहास का तथा अपनी दशा सुधारने के लिए उद्बोधन का ही अधिक समावेश है। इस प्रकार की कविताओं की भरमार बाबू भारतेन्दु के समय से पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल तक रही। इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि बाद में इस प्रकार की कविताएँ लिखी ही नहीं गई, लेकिन इस प्रकार की रचनाओं के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की रचनाएँ आगे चल कर लिखी जाने लगी।

इस काल में सर्वसाधारण की सामाजिक स्थिति से संबंध रखने वाली कविताएँ अधिक लिखी गई-और ये समस्याएं किसी एक प्रांत अथवा एक वर्ग की नही थीं। इन कविताओं में जो बातें कही जाती थीं, जो भावनाएँ व्यक्त की जाती थीं और जो विचार प्रकट किए जाते थे वे सुशिक्षित वर्ग के पास पहुँचने जितने अभीष्ट थे उतने ही अशिक्षित वर्ग के पास भी। इसलिए साहित्यक व्रजभाषा को छोड़कर

बोल चाल की खडी बोली को इस युग के कवियों ने अपनाया। विषय और भाषा मे जहाँ इतनी स्वतंत्रता ली गई वहाँ छंदों में भी नयापन आया। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राचीन भाषा, प्राचीन विषय, प्राचीन शैली और प्राचीन छंदों को छोड़ने की प्रवृत्ति इस युग में प्रबल रही।

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी तक के काल को हम जातीय धारा का समय कह सकते हैं—क्योंकि इस समय कविता का विषय जातीय मनोभावनाओं का चित्रण रहा है। इस युग की रचनाओं मे जहाँ विषय का विस्तार, भावों की नवीनता और विचारों की मौलिकता के दर्शन मिलते है वहां उसकी साहित्यिकता और सरलता मे कमी अवश्य आई है। कई सदियों से सूर-तुलसी जैसे महान् भक्तों तथा देव बिहारी जैसे रसिक-हृदय कवियों ने जिस भाषा को सँवारा और काव्य परंपरा का विकास किया था—उस ब्रज भाषा और उस काव्य-परंपरा को छोड़कर जन-साधारण की ऊबड खाबड़ बोली और नीरस विषयों को अपनाया गया। काव्य चमत्कार और सरलता की दृष्टि से इस काल की कविताएँ प्रौढ़ नहीं कही जा सकतीं। फिर भी सर्व साधारण में उनके प्रचार का कारण यह था कि वे रचनाएँ सर्व साधारण के नित्य के जीवन से सबंध रखने वाली थीं। जातीय धारा के कवियों मे सर्व श्रीभारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण, उपाध्याय, बद्रीनारायण, श्रीधर पाठक, देवीप्रसाद पूर्ण और नाथूराम शंकर के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसके बीच खडी बोली की कविता मे धीरे धीरे परिवर्तन होता ही रहा, भाषा काव्य के अधिकाधिक उपयुक्त होती चली, भावनाओं मे कोमलता और सरलता बढ़ती चली। फिर भी पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के पहले हिंदी साहित्य के क्षेत्र मे कोई

समर्थ साहित्यकार ऐसा नहीं आया जिसने खडी बोली को निश्चित रूप देने का प्रयत्न किया हो। प्रत्येक लेखक और कवि अपनी इच्छा के अनुसार शब्दों का प्रयोग करता था और खडी बोली में या तो प्रांतीय शब्दों की भरमार होती थी या ब्रजभाषा के शब्दों की। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई सर्वमान्य रूप भाषा का न था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा के परिमार्जन और निश्चित रूपनिरूपण की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया। साथ ही खडी बोली को साहित्यिक भाषा बनने मे समर्थ किया बल्कि कई बातों में ब्रजभाषा की अपेक्षा भी खड़ी बोली अधिक शक्तिशाली भाषा बन गई। खड़ी बोली को इस रूप में लेआने में द्विवेदी जी का बहुत बड़ा हाथ है।

द्विवेदी जी ने स्वयं भी कविताएँ लिखी थीं, पर मुख्यतः वह गद्य लेखक ही थे। उनकी रचनाओं मे भाषा की शुद्धता के साथ विचारों की प्रौढ़ता भी होती थी, लेकिन काव्य मे जो सरलता और लालित्य की आवश्यकता है वह उनमे नहीं था। कविता तो एक प्रकार से स्वतः स्फूर्त होती है। द्विवेदी जी ने जो कविताएँ लिखीं वे श्रम-साध्य थी—इसलिए उनमे स्वाभाविक सरलता, सरसता, माधुर्य्य और प्रवाह नहीं है। कवि के रूप में उनका महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। हाँ कवियों को जन्म देने और उनका प्रदर्शन करने वाले के रूप मे उनका आदरणीय स्थान है।

द्विवेदी जी के प्रभाव-क्षेत्र मे पनपने वाले कवियों ने भी जातीय काव्यधारा की कविताएँ कीं लेकिन इस युग मे जातीयता के साथ ही राष्ट्रीयता की ओर कवियों का झुकाव हुआ। श्री मैथिली शरण गुप्त की भारत भारती मे जातीय भावनाओं के साथ साथ राष्ट्रीय भावनाएँ भी हैं—यद्यपि जनता में यह राष्ट्रीय पुस्तक के रूप मे ही प्रख्यात हुई। इस युग मे संपूर्णदेश मे

राष्ट्रीय भावनाओं की प्रबल आँधी आई और उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। इस युग के कवियों ने ऐसे भाव अपनी कविताओं मे भरे, जिन्हे पढ़ कर भारतवासियों में अपने देश के प्रेम, उसको स्वाधीन और सुखी बनाने के लिए उसके लिए बलिदान देने की भावना, संपूर्णदेश के सारे अधिवासियों को एक समझने के विचार विकसित हों। जिस प्रकार जातीय कविताओं का सूत्रपात बाबू भारतेंदु हरिश्चन्द्र से माना जा सकता है उसी प्रकार राष्ट्रीय कविताओं का द्विवेदी जी के समय से।

द्विवेदी युग के कवियों मे पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, गयाप्रसाद शुक्ल स्नेही, पं० रामनरेश त्रिपाठी और पं० माखनलाल चतुर्वेदी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी युग मे भाषा का शुद्ध व्याकरण सम्मत रूप तो स्थिर हो गया, लेकिन काव्य की भाषा के रूप मे फिर भी खड़ी बोली कुछ अनगढ़ सी प्रतीत होती थी। जिस प्रकार सरिता के प्रवाह मे पड़े हुए पत्थर घिसकर सुडौल और चिकने हो जाते हैं—उस प्रकार शब्द भी उपयोग से सरल और मधुर बनते है। शब्द-योजना को अधिक सरल, ललित और मधुर करने का काम द्विवेदी युग के बाद के कवियों ने किया। प्रसाद, पंत और महादेवी वर्मा के नाम इनमे सब से महत्वपूर्ण हैं। खड़ी बोली को प्रत्येक विषय की रचना के उपयुक्त और प्रत्येक रस के लिए समर्थ बनाने मे प्रसाद और पंत ने बड़ा श्रम किया है। इस युग मे शब्द विषयों का भी बहुत विस्तार हुआ। अंगरेज़ी साहित्य के अध्ययन ने अनेक नवीन अभिव्यक्तियों और प्रवृत्तियों को हिंदी कविता मे भी जन्म दिया। इस से हिंदी कविता मे सर्वदेशीय और चिरंतन सत्य को व्यक्त करने वाली भावनाएँ व्यक्त

की गई। कवि की अनुभूति और अभिव्यंजना स्थूल की ओर से मुड़कर सूक्ष्म की ओर गई। इस युग मे हिंदी कविता का शरीर और आत्मा दोनों ही बदल गए। इस युग का सूत्रपात प्रसाद और पंत से हुआ और इसलिए हम इसे प्रसाद-पंत युग कह सकते हैं। प्रसाद-पंत युग के कवियों मे सर्व श्री जयशंकर-प्रसाद, सुमित्रानंदन-पंत, माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा,' बालकृष्ण-शर्मा नवीन, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला"। रामकुमार वर्मा, जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, इन पंक्तियों का लेखक (हरिकृष्ण प्रेमी) उदयशंकर भट्ट, भगवती चरण वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, हरिवंश राय बच्चन, सियाराम शरण-गुप्त आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त अनेक कवि हैं जो बहुत सुंदर सरल और मार्मिक रचनाएँ कर रहे है।

यहाँ इस युग की विशेष धाराओं या वादों की थोड़ी-सी चर्चा कर देनी आवश्यक है। जातीय-काव्य-धारा और राष्ट्रीय काव्य-धारा की चर्चा पहले हो चुकी है। इस समय भी इन धाराओं की रचनाएँ की जा रही है। राष्ट्रीय कविताओं ने तो यौवन इसी युग मे पाया है। बड़ी उग्र, ओजस्वी और प्रभावशाली राष्ट्रीय कविताएँ इस युग मे लिखी गई है। उदाहरण देने से लेख का कलेवर बढ़ जायगा; इसलिए हम इस विषय मे अपना लोभ संवरण करते हैं। केवल इतना ही कहते हैं कि इस समय की पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन से हमारे कथन की पुष्टि होती है।

जातीय और राष्ट्रीय धाराओं के बाद हिंदी कविता मे रहस्य वाद की धाराएँ बड़े प्रबलवेग से आई हैं। इस समय के प्रायः अधिकांश कवियों ने रहस्यवाद और छायावाद की साधना की है। रहस्यवाद और छायावाद का आधार यद्यपि भारतीय अध्यात्मवाद है लेकिन उनकी अभिव्यंजना शैली विदेशी-साहित्य से

लाई हुई है। रहस्यवाद मे आत्मा और परमात्मा के प्रेम-सम्बन्ध का वर्णन है और छायावाद में सीमित में असीम का अनुभव है। सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थों मे एक अनंत चेतना की झांकी का दर्शन है। ये दोनों भावनाएँ भारतीय तत्व-ज्ञान के लिए अपरिचित नहीं हैं। हमारे कबीर जैसे संत कवियों-तथा सूफ़ियों ने अपने काव्यों मे इनका प्रचुरता से समावेश किया है। लेकिन आज के कवि ने इन भावनाओं की अभिव्यंजना में मौलिकता-जो कि अंगरेजी के अध्ययन का परिणाम है—का परिचय दिया। इसमें संदेह नहीं कि इस नवीन शैली में सरसता,लालित्य और माधुर्य्य है रहस्यवाद और छायावाद की दिशा मे नवीन हिंदी कविता ने बहुत उन्नति की है।

रहस्यवाद और छायावाद के अतिरिक्त हिदी में एक और वाद हालावाद का भी समावेश हुआ है। हरवंशराय बच्चन इस वाद के आचार्य हैं। अनेक कवियों ने मदिरा, प्याला, साकी और पीने वाले के रूपक बांध कर कुछ आध्यात्मिक बातें कही हैं। हालावाद के सभी कवि एक तो दार्शनिक लक्ष्य को मान कर नहीं चले हैं—फिर भी उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो साकी को प्रकृति और शराब को उसका उपहार मानते हैं। वे प्रकृति को सत्य मानते हैं और उसके उपहारों का जी-खोलकर उपभोग करने का आदेश देते हैं। भारत मे यह महासुखवाद बौद्ध तांत्रिकों मे और वाम-मार्गियों मे चला था। हालावादी मानसिक क्षेत्र में उनसे कुछ मिलते-जुलते हैं। हालावाद की अभिव्यंजना उर्दू-फारसी के अनुकरण का परिणाम है।

इतने वादों के अतिरिक्त आज-कल प्रगतिवाद भी चल पड़ा है। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का ही परिणाम प्रगतिवाद है। प्रगतिवाद मे प्राचीन संस्कारों के विरुद्ध विद्रोह है राष्ट्रीयता के स्थान

पर अंतराष्ट्रीयता का समर्थन है और पूंजीवाद के स्थान पर साम्यवाद की प्रतिष्ठा है। यह वाद ईश्वर और धर्म का विरोधी है।

प्रायः—सभी प्रकार की धाराएँ इस युग की कविताओं में पर्याप्त मात्रा में चल रही हैं। कविता का यह बहुमुखी विकास साहित्य के भंडार को धनी बना रहा है इसमे संदेह नही। जिस खडी बोली को कविता के लिए अनुपयुक्त समझा जाता था—आज उसके निखार पर रसिकों के मन मुग्ध हो रहे हैं।

—हरिकृष्ण "प्रेमी"

२९

देवनागरी-लिपि

जिन अक्षरों में यह "निबन्ध कुसुमावली" पुस्तक छपी है, उनको देवनागरी* या संक्षेप से नागरी लिपि के अक्षर कहते हैं। चूंकि लिपि से तात्पर्य है उन लिखित चिह्नों का जिनके द्वारा हम भाषा के मुख्य अङ्ग—शब्दों और अर्थों को प्रकट करते हैं; इसलिये लिपि पर विचार करने से पहले भाषा का सामान्य स्वरूप समझ लेना चाहिये।

भाषा उस साधन का नाम है जिसकी सहायता से हम अपने भावों और विचारों को एक दूसरे पर प्रकट करते हैं। यह साधन कई प्रकार का है जिनमें से वाणी अर्थात् मुखद्वारा शब्द उच्चारण

---

*इस लिपि को देवनागरी क्यो कहते है, इसकी कोइ सतोपजनक व्याख्या प्राप्त नही हुई। (१) कोई कहते है कि इसका नागर ब्राह्मणों अथवा नागर अपभ्रश से सम्बन्ध था, लेकिन इस कथन की पुष्टि में प्रमाण कोई नही है। (२) दक्षिण भारत में इस लिपि को नन्दिनागरी कहते है। अत शायद यह किसी नन्दिनगर से निकली हो। (३) उपासना के निमित्त त्रिकोण, चतुष्कोण. चक्र आदि यन्त्रो को "देवनगर" कहते थे। उनमे मन्त्रों के अक्षर लिखे रहते थे। यह अक्षर इसी लिपि के होते थे। देवनगरो में लिखे रहने के कारण शायद इन्हें देवनागरी-अक्षर कहते हो, परन्तु निश्चय पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता।

करके अपने भाव बतलाना सबसे अधिक प्रसिद्ध है। लिखना—यह वाणी के अन्तर्गत समझना चाहिये। बोलने लिखने के अतिरिक्त हाथ, आंख आदि के इशारों से तथा रङ्ग-बिरङ्गी चीजों के दिखाने से या घंटी आदि का शब्द करने से भी भाव प्रकट किये जा सकते हैं। जैसे—गूंगे बहिरे और कई अवस्थाओं मे बोलने सुनने की शक्ति रखने वाले भी इशारों से काम लेते हैं। रेल को चलाने के लिये हरी और रोकने के लिये लाल झंडी दिखाई जाती है। विद्यार्थियों को "छुट्टी होगई है" बतलाने के लिये घंटी बजाई जाती है। यहां भाषा शब्द व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और वाणी उसका विशेषरूप है। अब भाषा का मुख्य रूप वाणी है। इसके दो अग है—शब्द और अर्थ। शब्द को मन द्वारा निश्चित करके मन द्वारा ही ग्रहण करते हैं। शब्द तो अपने अर्थ की छाया या संकेत मात्र होता है।

देखने मे आता है कि अर्थ और शब्द मे सम्बन्ध रहता है; अर्थात् जिस जन-समुदाय मे किसी शब्द का जो अर्थ प्रचलित हो जाता है, उस जन-समुदाय तक ही उस शब्द का वह अर्थ सीमित रहता है। यही कारण है कि एक ही शब्द का भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न अर्थ होता है। जैसे—"काम" शब्द का हिंदी में कार्य, संस्कृत मे इच्छा, फारसी मे प्रयोजन और अंग्रेज़ी मे चुप अर्थ होता है। इसी प्रकार एक ही अर्थ को प्रकट करने के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं मे भिन्न भिन्न शब्द होते हैं। जैसे—हिंदी मे कुत्ता, संस्कृत मे श्वा, फ़ारसी मे सग और अंग्रेजी मे डाग होता है।

वाणी प्रधानतया मुंह और कान का विषय है। इसमे यह जरूरी है कि बोलने और सुनने वाला एक ही स्थान पर और एक ही समय मे विद्यमान हो, क्योंकि यदि इनमे स्थान का व्यवधान

अधिक होगा तो बोलने वाले की वाणी के शब्द सुनने वाले तक नहीं पहुंच सकेंगे, और यदि इनमे काल का व्यवधान होगा तो बोलने वाले के शब्द सुनने वाले के आने से पहले ही नष्ट हो जायंगे। यद्यपि आजकल ग्रामोफ़ोन,टेलीफ़ोन, लाउडस्पीकर, रेडियो, सिनेमा आदि से यह देश-काल का भेद मिटाया जा सकता है, तथापि इन यन्त्रों का प्रयोग सब अवस्थाओं मे और जनसाधारण के लिये शक्य नहीं। ना ही इनके आविष्कारों के पहले शक्य था। इस दशा में लिपि ही एक सरल और लघु उपाय है जो जनसाधारण के लिये वाणी मे देश काल के व्यवधान को मिटा देता था और अब भी मिटा रहा है।

अपने प्रकाश्य विषय की अपेक्षा से लिपियां दो प्रकार की हैं। १. अर्थसूचक और २ शब्दसूचक।

अर्थसूचक लिपियां वे हैं जो केवल अर्थ को प्रकट करती हैं। उनसे शब्द के उच्चारण का बोध नही होता। अर्थ-सूचक लिपियां फिर दो प्रकार की होती हैं। १. चित्र लिपि और २. संकेत लिपि।

चित्र लिपि मे चित्रों द्वारा अर्थ प्रकट किया जाता है। जैसे—ग्वाले का गाय दोहने का चित्र। अब जो व्यक्ति इसे देखेगा—वह अपनी भाषा मे ऐसा वाक्य कहेगा—जिसका अर्थ होगा "ग्वाला गाय दोहता है"। वर्तमान प्रायः सभी लिपियां चित्र लिपि से निकली है। मिस्र देश की "हाइरोग्लिफिक" लिपि इसका प्रसिद्ध उदाहरण है। परंतु इसके चित्रों के रूप तथा अर्थ मे समय के साथ साथ भेद पड़ता गया।

संकेत लिपि मे रेखाविन्दु आदि के समूह से विचित्र प्रकार के संकेत बनाकर अर्थ प्रकट किया जाता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण चीन देश की लिपि है। यह ऊपर से नीचे को लिखी

जाती है और इसकी पंक्तियां उर्दूलिपि की भांति दाईं से बाईं ओर को। इसका स्वरूप जानने के लिये हमारे संख्या वाची अङ्क अच्छा उदाहरण हैं। जैसे—३ को देख कर पंजाबी-भाषी कहेगा "तिन्न" या त्रै", हिंदी-भाषी 'तीन', गुजराती-भाषी 'त्रण', सिन्धी-भाषी 'टूण'। भाव या अर्थ सब मे एक रहेगा; परंतु शब्दोच्चारण भिन्न भिन्न होगा। इसी प्रकार यह चिह्न = सब देशों में "बराबर है" का अर्थ देता है।

शब्दसूचक लिपिया वे हैं जो वाणी के अक्षरों या वर्णों का बोध कराती हैं। जैसे—देवनागरी, फ़ारसी या उर्दू, रोमन, आदि। इन लिपियों से शब्दों के वर्णात्मक रूप अर्थात् उच्चारण का बोध तो हो जाता है, लेकिन शब्दों के अर्थ का ज्ञान उसी व्यक्ति को होता है जो उस भाषा को जानता हो जिसके वे शब्द हैं। इसके विपरीत चित्र-लिपि से सब को कुछ न कुछ अर्थ बोध हो जाता है और यह किसी विशेष वर्णात्मक शब्द का द्योतक नहीं होता। इन लिपियों के अक्षर खड़ी, पड़ी और टेढी लकीरों तथा वर्तुल, अर्धचंद्र, बिंदु आदि के योग से बनते है।

हम को बोलने और लिखने का इतना अभ्यास हो गया है कि इन्हे हम अपने जीवन का आवश्यक अङ्ग समझते हैं। हम कभी नहीं सोचते कि इनके वर्तमान रूप के पीछे एक लम्बा विकास-क्रम छिपा हुआ है और नही कह सकते कि यह रूप धारण कराने मे किस किसका हाथ है।

इस प्रकार सामान्य रीति से लिपि के स्वरूप पर विचार करने के पश्चात् अब हम भारतीय लिपियों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं।

प्राचीन काल मे भारतवर्ष मे अनेक लिपिया प्रचलित हो चुकी हैं। सब से प्राचीन वह लिपि है जिसके लेख बीस पचीस

बरस पहले पंजाब मे मिंटगुमरी जिले के हड़प्पा नामक स्थान से खुदाई करने पर धरती के नीचे दबे हुए मिले। ये लेख मिट्टी के टुकड़ों और भाजनों पर अंकित हैं। यह लिपि भारत की अन्य प्राचीन लिपियों से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है। विद्वानों का कहना है कि ये लेख और अवशेष वैदिक समय से भी किसी पूर्वकालीन सभ्यता के द्योतक हैं। इनसे मिलते जुलते लेख और अवशेप मैसोपोटेमियां (इराक़) मे भी प्राप्त हुए हैं। इन सब का समय विक्रम संवत् से तीन हजार बरस पहले का माना जाता है।

ऐतिहासिक युग में भारत मे दो लिपियों के प्रचार के प्रमाण मिलते हैं—१ ब्राह्मी, और २ खरोष्ठी। इनका उल्लेख जैन और बौद्ध शास्त्रों मे पाया जाता है। उनमें अठारह और चौंसठ प्रकार की लिपियां कही गई है। इनमे दो नाम ब्राह्मी और खरोष्ठी के है।

खरोष्ठी लिपि तो फ़ारसी लिपि की भांति दाईं से बाईं ओर को लिखी जाती थी। इसके अक्षर गधे और ऊंट की गरदन की तरह लंबे और टेढ़े होते थे। शायद इसीलिए प्राकृत मे इसे खरोट्ठी कहते हैं। कोई कहते है कि खरोष्ठ नामा आचार्य ने इसका निर्माण किया, इसलिये यह खरोष्ठी कहलाती है। संभव है कि यह नाम किसी देश के प्राचीन नाम से सम्बन्ध रखता हो। इसके बहुत से अक्षरों का आकार एक विदेशी लिपि के अक्षरों के आकार से मिलता जुलता है, तथा इसमें ह्रस्व-दीर्घ स्वरों, और मात्राओं का भेद प्रकट नहीं किया जा सकता। इसका प्रचार-क्षेत्र भी बहुत सीमित रहा है, अर्थात् अफ़गानिस्तान और पंजाब मे इसका प्रयोग होता था और वह भी विक्रम संवत् से तीन सौ बरस पूर्व से लेकर उस संवत् के तीन सौ बरस पीछे तक रहा। तदनन्तर सदा के लिये इसका लोप हो गया। अब इसकी कोई संतान शेप नही रही। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि खरोष्ठी भारतवर्ष की अपनी लिपि नहीं है।

यह विदेशी राज्य के साथ यहां आई और उसी के साथ कुछ प्रचलित रहकर लुप्त हो गई।

भारतवर्ष की अपनी लिपि का नाम ब्राह्मी है। यूरोपियन विद्वान इसे किसी विदेशी स्रोत से निकली मानते हैं, लेकिन भारतीय विद्वान् महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने सर्व प्रथम इसे भारतीय चित्रलिपि से निकली सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस चित्रलिपि का कोई अवशेष अब तक नहीं मिला, तथापि ओझा जी की व्याख्या मे कोई संदेह नहीं रह जाता। जैन मत के अनुसार प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव ने इस लिपि का आविष्कार किया और उसे अपनी पुत्री ब्राह्मी को सिखाया, इसी से इस लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा। संभव है कि इसे ब्रह्मा जी ने बनाया हो, इसलिये, अथवा ब्राह्मणों में इसका प्रचार होने से, इसे ब्राह्मी कहते हों। हड़प्पा और मोहन जो दड़ो की लिपि को छोड़कर ब्राह्मी ही भारत की सब से प्राचीन लिपि है। इसके अस्तित्व और विस्तृत प्रचार के अनेकों उल्लेख ब्राह्मण, जैन और बौद्ध ग्रन्थों मे पाये जाते हैं।

ब्राह्मी और खरोष्ठी के सब से प्रसिद्ध और विस्तृत लेख महाराज अशोक की राजाज्ञायें हैं जिनको धर्मलिपियां कहते हैं। ये समग्र भारत मे चट्टानों और स्तम्भों पर उत्कीर्ण दूर दूर तक पाई जाती है। इनपर महाराज अशोक ने अपनी प्रजा के लिये बड़े हित की बातें लिखी हैं। ब्राह्मी के कई अक्षर अंग्रेजी टाइप के बड़े अक्षरों से समानता रखते हैं। जैसे—ब्रा० L=ड, ब्रा० + =क, ब्रा० ∧=ग, ब्रा० O= ठ, ब्रा० ○ =थ, ब्रा० D=ध, ब्रा० △ =व, ब्रा० I= र इत्यादि।

समय के साथ साथ ब्राह्म लिपि के अक्षरों की आकृति मे

परिवर्तन आता गया। पांच छः शताब्दियों के पश्चात् वह गुप्त लिपि के रूप में बदल गई। ब्राह्मी अक्षर तो रोमन टाइप की भांति पृथक् पृथक् लिखे जाते थे, लेकिन गुप्त लिपि में कुछ कुछ देवनागरी का आभास आने लगा, अर्थात् इस के अक्षरों में ऊपर की रेखा बन गई। पांच छः शताब्दियां और बीत जाने पर वही गुप्तलिपि देवनागरी के रूप मे बदल गई जो थोड़े बहुत भेदों के साथ अब तक चली आ रही है। इन भेदों का विवेचन करना यहां अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यह लिपि-विशेषज्ञों का काम है। तो भी दो एक भेदों का निर्देश किया जाता है। जैसे—पुरानी देवनागरी में मात्रा ऊपर न लगकर बाईं ओर लिखी जाती थी। इसे बड़ी मात्रा कहते हैं। जैसे—पुराना रूप ाक=के, ाका=को, ाके=कै, ाको=कौ आदि इसी प्रकार देश भेद से पुरानी देवनागरी के अक्षरों में भेद पाया जाता है। देवनागरी का प्रधान रूप वह है जिसमें पुस्तकें, पत्र, पत्रिका आदि छपते हैं। इसका एक और रूप है। जिसे जैनलिपि कहते हैं। यह रूप श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ लिखने के काम आता था। इसके अक्षरों के आकार मे काफ़ी भेद है। विशेष कर संयुक्त अक्षरों के आकार मे। जैसे क्क-क्ख, भ्प, =ब्भ आदि।

वर्तमान काल में भी कई अक्षरों के दो दो तीन तीन आकार हैं। जैसे—अ, अ, भ्क, झ; श, श, श; ज्ञ, ज्ञ; क्ष, क्ष; र्थ, र्थ; आदि। इस समय देवनागरी का प्रयोग संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी लिखने मे होता है। नेपाली, गढवाली के लिये भी यही काम आती है। इस में पंजावी भाषा के कुछ ग्रन्थ लिखे मिलते हैं। पंजावी के लिये अब इस का प्रचार अधिक होता जाता है। इसे "नागरी-पंजावी" कहने लगे हैं। लोगों को अक्सर कहते सुना जाता है कि देवनागरी लिपि संसार की सब लिपियों से श्रेष्ठ है।

उनका यह कथन कहां तक ठीक है, इसपर विचार करने से पहले लिपि और वर्णमाला के भेद को समझ लेना चाहिये। जैसा कि ऊपर कहा गया है—मुख द्वारा शब्द बोलकर अपने भाव प्रकट करने को वाणी कहते हैं और वाणी वर्णों का समूह है। वर्ण वह मौखिक ध्वनि है जिसके खंड न हो सकें। वर्ण केवल मुख और कान का विषय हैं। इन वर्णों को प्रकट करने के लिये रेखा आदि से बनाये हुए चिह्नों को अक्षर या लिपि कहते हैं जो आंख और हाथ का विषय होते है।

प्राचीन काल मे भारत की प्रधान भाषा संस्कृत और प्रधान लिपि ब्राह्मी थी। पण्डितों के उद्योग से धीरे धीरे यह लिपि संस्कृत को शुद्धता पूर्वक लिखने के लिये सब प्रकार से समर्थ हो गई ❀ अर्थात् इसमे प्रत्येक वर्ण के लिये केवल एक अक्षर, और प्रत्येक अक्षर केवल एक वर्ण का द्योतक था। न कोई अक्षर ऐसा था जिसका द्योतक वर्ण भाषा मे न मिले, और न कोई वर्ण ऐसा था जिसका सूचक अक्षर लिपि मे न मिले।

जिस तरह देश और काल के प्रभाव से संस्कृत भाषा शनैः शनैः हिन्दी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि के रूप मे आ गई है, इसी तरह ब्राह्मी लिपि ने बदलते बदलते देवनागरी, बंगला, उड़िया, द्राविड़ी, गुजराती, मोडी, कैथी, शारदा, टांकरी, गुरुमुखी, लंडे (महाजनी) आदि का रूप धारण कर लिया है। भाषा के रूप परिवर्तन के साथ उसकी वर्ण-संख्या में काफ़ी न्यूनाधिकता हो जाती है। कई वर्णों का लोप हो

' ब्राह्मी में सस्कृत का कोई लेख नहीं मिला। शायद, लिखने के लिये ब्राह्मी पूर्णतया समर्थ न थी। लेकिन गुप्त लिपि, लेख प्रचुरता से मिलते हैं। देवनागरी तो संस्कृत के लिये ९

जाता है, कुछ नये आ जाते हैं। शेष वैसे ही रहते हैं। इसके विपरीत लिपि परिवर्तन से अक्षरों के आकार मे तो भेद पड़ जाता है, लेकिन उनकी संख्या प्रायः वही रहती है जो पहले थी। इसका परिणाम यह होता है कि लिपि के परिवर्तित रूप भाषा के परिवर्तित रूप के उच्चारण को पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ "जल" शब्द को लीजिये। इसका हिन्दी उच्चारण पाठक जानते ही हैं। बंगाली महाशय इसे पढ़ेगा तो बोलेगा 'जौल' जिसमें ज्, ल् के मध्यवर्ती स्वर का उच्चारण अंग्रेजी के सर्व-वाची शब्द "ऑल" के ऑ जैसा होगा। मराठी बोलने वाला व्यक्ति यहां पर एक विलक्षण स्वर का प्रयोग करेगा जिसका उच्चारण उस ओ जैसा होगा जिसे बोलने मे होंटों को अण्डाकार न बनाकर फैला दिया जाय।

हिन्दी (खडी बोली) में बहुत से ऐसे वर्ण हैं जिनको देवनागरी लिपि द्वारा प्रकट नही कर सकते। जैसे "चैन" के ऐ का उच्चारण जो "चैत्र" के ऐ के उच्चारण से भिन्न है। इसी प्रकार 'गौना', के औ का उच्चारण "गौण, के औ के उ ारण से भिन्न है। "अन्त" (=अवसान) और "अनत" (=अन्यत्र) के न् के उच्चारण भिन्न भिन्न हैं। इस सूक्ष्म भेद को प्रकट करने के लिये नागरी लिपि मे कोई साधन नहीं है। श और ष का उच्चारण समान है, इसलिये हिन्दी मे दोनों मे से एक आवश्यक है। ऋ का उच्चारण रि या इर् किया जाता है। इसलिये हिन्दी के लिये यह अक्षर सर्वथा अनावश्यक है। ज्ञ का उच्चारण ग्य किया जाता है; परन्तु वास्तव मे ज्ञ ज+ञ का द्योतक है। कोई कोई अपना पाण्डित्य जतलाने के लिये इसे ज्य बोलते हैं।

इसी तरह के और बहुत से स्थल हैं जहां नागरी लिपि हिन्दी के उच्चारण को पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकती।

इनके अतिरिक्त खड़ी बोली मे बहुत से अंग्रेजी और फ़ारसी वर्ण प्रयुक्त होने लगे हैं। इनमे कुछ को तो नागरी अक्षरों के नीचे ऊपर बिन्दु और अर्धचन्द्र लगाकर प्रकट कर दिया जाता है, लेकिन कई एक के लिये अभी तक कोई संकेत नहीं बना।

इसी प्रकार भारत की अन्य भाषाओं पंजाबी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि को नागरी लिपि मे पूर्ण शुद्धता से नही लिख सकते।

उपर्युक्त कथन से पाठक जन अनुमान कर सकते हैं कि आधुनिक भाषाओं को पूर्णतया शुद्ध लिखने मे देवनागरी कहा तक सफल हो सकती है। देवनागरी की उत्तमता इसके अक्षरों की आकृति के आधार पर या इसकी अक्षर-संख्या की दृष्टि से नही है। इसकी उत्तमता तो इसके अक्षरों के क्रम की अपेक्षा से है। अब यह क्रम वास्तव मे संस्कृत की वर्णमाला के वर्णों का है। हम भूल से वर्णमाला और लिपि को एक मान लेते हैं। लिपि मे तो इसमे कोई संदेह नहीं कि सस्कृत-वर्णमाला के वर्णों का क्रम संसार भर की उपलब्ध पुरानी और नई सभी वर्णमालाओं से श्रेष्ठ है। इस बात की प्रशंसा यूरोप के समग्र विद्वानों ने की है। इस बात को ध्यान मे रखकर हम देवनागरी को सर्वोत्तम कह सकते हैं।

अब जबकि देवनागरी लिपि राष्ट्रीय लिपि के आसन पर आरूढ़ होना चाहती है तो यह उचित है कि इसकी अन्य प्रतियोगी लिपियों के साथ तुलना की जावे। नागरी की प्रतियोगी लिपियां हैं उर्दू लिपि-और रोमन लिपि। बंगला गुजराती तथा द्राविड़ी आदि के राष्ट्रीय लिपि बनने की संभावना बहुत थोडी है। इनकी तुलना निम्नलिखित दृष्टिकोणों से होनी चाहिये। (१) लिपि में अक्षरों का क्रम (२) अक्षरों के नाम (३) अक्षरों की

जाता है, कुछ नये आ जाते हैं। शेष वैसे ही रहते हैं। इसके विपरीत लिपि परिवर्तन से अक्षरों के आकार मे तो भेद पड़ जाता है, लेकिन उनकी संख्या प्राय वही रहती है जो पहले थी। इसका परिणाम यह होता है कि लिपि के परिवर्तित रूप भाषा के परिवर्तित रूप के उच्चारण को पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ "जल" शब्द को लीजिये। इसका हिन्दी उच्चारण पाठक जानते ही है। बंगाली महाशय इसे पढ़ेगा तो बोलेगा 'जौल' जिसमे ज्, ल् के मध्यवर्ती स्वर का उच्चारण अंग्रेजी के सर्व-वाची शब्द "ऑल" के ऑ जैसा होगा। मराठी बोलने वाला व्यक्ति यहां पर एक विलक्षण स्वर का प्रयोग करेगा जिसका उच्चारण उस ओ जैसा होगा जिसे बोलने मे होंटों को अण्डाकार न बनाकर फैला दिया जाय।

हिन्दी (खडी बोली) मे बहुत से ऐसे वर्ण हैं जिनको देवनागरी लिपि द्वारा प्रकट नही कर सकते। जैसे "चैन" के ऐ का उच्चारण जो "चैत्र" के ऐ के उच्चारण से भिन्न है। इसी प्रकार 'गौना', के औ का उच्चारण "गौण, के औ के उ|रण से भिन्न है। "अन्त" (=अवसान) और "अनत" (=अन्यत्र) के न् के उच्चारण भिन्न भिन्न हैं। इस सूक्ष्म भेद को प्रकट करने के लिये नागरी लिपि मे कोई साधन नही है। श और ष का उच्चारण समान है, इसलिये हिन्दी मे दोनों मे से एक आवश्यक है। ऋ का उच्चारण रि या इर् किया जाता है। इसलिये हिन्दी के लिये यह अक्षर सर्वथा अनावश्यक है। ज्ञ का उच्चारण ग्य किया जाता है; परन्तु वास्तव में ज्ञ ज+ञ का द्योतक है। कोई कोई अपना पाण्डित्य जतलाने के लिये इसे ज्य बोलते है।

इसी तरह के और बहुत से स्थल हैं जहां नागरी लिपि हिन्दी के उच्चारण को पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकती।

इनके अतिरिक्त खडी बोली मे बहुत से अंग्रेजी और फ़ारसी वर्ण प्रयुक्त होने लगे हैं। इनमे कुछ को तो नागरी अक्षरों के नीचे ऊपर बिन्दु और अर्धचन्द्र लगाकर प्रकट कर दिया जाता है, लेकिन कई एक के लिये अभी तक कोई संकेत नही बना।

इसी प्रकार भारत की अन्य भाषाओं पंजाबी, बंगाली, गुजराती, मराठी आदि को नागरी लिपि मे पूर्ण शुद्धता से नहीं लिख सकते।

उपर्युक्त कथन से पाठक जन अनुमान कर सकते हैं कि आधुनिक भाषाओं को पूर्णतया शुद्ध लिखने मे देवनागरी कहा तक सफल हो सकती है। देवनागरी की उत्तमता इसके अक्षरों की आकृति के आधार पर या इसकी अक्षर-संख्या की दृष्टि से नहीं है। इसकी उत्तमता तो इसके अक्षरों के क्रम की अपेक्षा से है। अब यह क्रम वास्तव मे संस्कृत की वर्णमाला के वर्णों का है। हम भूल से वर्णमाला और लिपि को एक मान लेते हैं। लिपि मे तो इसमे कोई संदेह नहीं कि सस्कृत-वर्णमाला के वर्णों का क्रम संसार भर की उपलब्ध पुरानी और नई सभी वर्णमालाओं से श्रेष्ठ है। इस बात की प्रशंसा यूरोप के समग्र विद्वानों ने की है। इस बात को ध्यान मे रखकर हम देवनागरी को सर्वोत्तम कह सकते हैं।

अब जबकि देवनागरी लिपि राष्ट्रीय लिपि के आसन पर आरूढ़ होना चाहती है तो यह उचित है कि इसकी अन्य प्रतियोगी लिपियों के साथ तुलना की जावे। नागरी की प्रतियोगी लिपियां हैं उर्दू लिपि-और रोमन लिपि। बंगला गुजराती तथा द्राविड़ी आदि के राष्ट्रीय लिपि बनने की संभावना बहुत थोड़ी है। इनकी तुलना निम्नलिखित दृष्टिकोणों से होनी चाहिये। (१) लिपि में अक्षरों का क्रम (२) अक्षरों के नाम (३) अक्षरों की

संख्या (४) अक्षरों के वैकल्पिक रूप (५) अक्षरों की आकृति में आन्तरिक समानता (६) अक्षरों की लेखन-गति (७) अक्षर कितनी जगह घेरते हैं (८) लिपि के प्रचार का क्षेत्र (६) लिपि में विद्यमान साहित्य (१०) टाइप और प्रिंटिंग की सुविधा (११) मिलितरूप(१२) इटालिक (१३) द्रुत लिपि।

१ अक्षर-क्रम। नागरी का अक्षर-क्रम सर्वोत्तम है क्योंकि यह वर्णों की उच्चारण विधि के अनुसार है। जैसे—पहले स्वर आते हैं, उनके पश्चात् व्यञ्जन। वे भी कण्ठ, तालु आदि स्थान के क्रम से रखे गये हैं। फिर प्रत्येक वर्ग मे अघोष अल्पप्राण, महाप्राण; घोष अल्प प्राण, महाप्राण; तदनन्तर नासिक्य।

उर्दू लिपि मे अक्षर-क्रम आकृति के अनुसार है। पहले अलफ़; फिर समानाकृति बे, पे, ते; टे; फिर जीम, चे, हे, खे आदि। रोमन लिपि का अक्षर-क्रम न वर्णोच्चारण के अनुसार है और न ही अक्षरों की आकृति के अनुसार। यह क्रम सर्वथा अनियमित है।

२. अक्षर-नाम। देवनागरी के अक्षरों के नाम वही हैं जो उनका उच्चारण है। जैसे—अ, आ, क, ग आदि। जो लोग इन्हें ऐड़ा (छोटा आ) आड़ा (बड़ा आ) कक्का, गग्गा आदि कहते हैं, वे ठीक नहीं। लेकिन उर्दू तथा रोमन लिपि के अक्षरों का नाम कुछ है और उच्चारण कुछ, लाम (उच्चारण-ल); रोमन लिपि मे नाम ए (उच्चा० आ), एच (उच्चा० ह), आर (उच्चा० र); ऐस (उच्चा० स), डबलयू (उच्चा० व), इत्यादि। उर्दू और रोमन के अक्षरों के नाम और उच्चारण भिन्न भिन्न होने के कारण बालक इन्हें बडी कठिनाई से सीखते हैं। इनके इस दोष से बालकों का समय भी बहुत नष्ट होता है।

३ लिपि का एक गुण यह बताया गया है कि इसमे इतने

ही अक्षर होने चाहियें जितने उस भाषा मे वर्ण है जिसके लिये वह लिपि काम मे आती है। अब चूंकि सब भाषाओं की वर्ण-संख्या एक समान नहीं होती, इसलिये स्पष्ट है कि एक भाषा की लिपि दूसरी भाषा के काम नहीं आसकती। लेकिन व्यवहार मे एक ही लिपि कई कई भाषाओं के काम आती हैं। ऐसा करने मे दूसरी भाषा के जो वर्ण किसी लिपि मे प्रकटित नही होते, उनके लिये अक्षरों के ऊपर नीचे बिन्दु आदि लगाकर नये रूप बना लिये जाते हैं। जैसे जब फ़ारसी लिपि हिन्दी के लिये प्रयुक्त होने लगी, तो उसमे ट, ड को प्रकट करने के लिये कोई अक्षर न था। पहले ते पर दो की जगह चार बिन्दु लगाकर फिर बिन्दुओं के स्थान मे छोटा सा तोए लिखकर ट को प्रकट करने लगे। इसी प्रकार ड के लिये दाल पर बिन्दु और तोए लगाए गये। रोमन मे ट ड के लिपे टी डी के नीचे बिन्दु लगाया जाता है। इस दृष्टि से तीनों-लिपियां एक जैसी है।

४. वैकल्पिक रूपों की दृष्टि से रोमन लिपि सब से उत्तम है; क्योंकि इसके अक्षरों के रूप सब अवस्थाओं मे एक ही रहते हैं। लेकिन इसके विपरीत नागरी और उर्दू लिपि मे आगे पीछे आने वाले अक्षरों के अनुसार अक्षरों का आकार बदल जाता है। जैसे—नागरी मे शब्द के आदि मे अथवा किसी दूसरे स्वर के परे स्वरों की आकृति पूर्ण होती है, लेकिन व्यञ्जन के परे आने पर स्वर अपनी मात्रा की आकृति धारण कर लेते हैं। यथा—ईख, गई, परन्तु, की इसी प्रकार व्यञ्जनों मे भेद हो जाता हैं। जैसे—क् ष=क्ष जिस मे क् और ष् के रूप का कोई आभास नहीं रहा। यही हाल र का है जैसे—अगर, अग्र, मार्ग इत्यादि।

उर्दू लिपि मे वैकल्पिक रूपों की संख्या और भी अधिक है। अगर कोई चाहे तो नागरी और उर्दू लिपि मे प्रत्येक अक्षर का

सर्वत्र पूर्ण रूप लिख सकता है। जैसे—आकाश' के स्थान में आ क् आ श् अ। परन्तु ऐसा करना अस्वाभाविक समझा जाता है और इसमें समय तथा स्थान भी बहुत लगता है।

५ प्रायः सभी लिपियों मे कई एक अक्षरों की आकृति आपस मे इतनी मिलती जुलती होती है कि जरा सा असावधानी से लिखा हुआ लेख सन्दिग्ध हो जाता है। जैसे—नागरी में ख–र व, ए-रा; घ-ध, प-य-थ-ष; ब-व। आदि। उर्दू लिपि मे तो अक्षरों का भेद बिन्दुओं की संख्या पर निर्भर है, जरा बिन्दु छूटा, और लेख कुछ का कुछ हो गया। फिर जबर जेर, पेश लिखने की प्रथा भी बहुत कम है। इससे संदेह बना ही रहता है। रोमन की दशा से पाठक परिचित ही होंगे। अक्षरों की आकृति से वर्णों के स्थान और प्रयत्न की समता का बोध भी होना चाहिये। परन्तु नागरी अक्षरों की आकृति ऐसी अनियमित हो गई है कि उससे वर्णों के स्थान और प्रयत्न का सर्वथा बोध नही होता। प्रयत्न का जो सम्बन्ध क-ख मे है वही च-छ, ट-ठ, त-थ और प-फ में है, परन्तु इन अक्षरों की आकृति से इस बात की कोई सूचना नहीं मिलती। उर्दू और रोमन लिपि में महाप्राण अक्षर बाद को बनाये गये इसलिये उनमे अक्षरों के साथ मिले हुए दो चश्मी हे और एच इस बात को प्रकट कर देते हैं।

६ अक्षरों की लेखन गति वैसे तो लेखक के अभ्यास और उसके भाषा ज्ञान पर निर्भर है। तथापि जो व्यक्ति तीनों लिपियां लिख सकता है, वह प्राय. उर्दू को ही अधिक शीघ्रता से लिखता है।

७ लिखने मे कौनसी लिपि कितनी जगह घेरती है, इस दृष्टि से तुलना करने पर उर्दू ही ऐसी है जो नागरी और रोमन की अपेक्षा कम जगह घेरती है। कागज की इस महंगाई के समय मे

यह गुण विशेष ध्यान देने योग्य है। शायद रोमन सब से अधिक जगह घेरती है। इसका कारण यह है कि रोमन वर्णात्मक लपि है। संक्षिप्त संकेतों के लिये यह बात गुणदायक है। भाषा विज्ञान, गणित तथा रसायन के ग्रन्थों में इससे बडा लाघव आ जाता है।

८ प्रचार-क्षेत्र की दृष्टि से देवनागरी ही भारत की राष्ट्रीय लिपि बनने के योग्य है क्योंकि इस समय समग्र भारत मे नागरी या तत्सम्बन्धी बंगला, उडिया, गुजराती, पंजाबी (गुरुमुखी), शारदा आदि लिपियां काम मे आती हैं। दक्षिण की लिपियां भी नागरी से घनिष्ठ सम्बन्ध और काफ़ी समानता रखती हैं। नागरी को छोड़ औरों का प्रचार अपने अपने प्रान्त तक सीमित है। नागरी चिरकाल से भारत की मुख्य लिपि रही है। भारत के लिये उर्दू (फारसी) लिपि विदेशी है जिसका प्रचार हुए थोड़ा समय बीता है। अंगरेजी राज्य ने इसे महत्त्व दिया, अन्यथा यह खरोष्ठी की भांति लुप्त हो गई होती या अत्यन्त गौण रहती। रोमन तो उर्दू से भी पीछे आई। इसका प्रचार भी बहुत कम है। है। इसके राष्ट्रलिपि बनने की तो संभावना ही नहीं।

९ नागरी में लिखा हुआ प्राचीन साहित्य प्रचुर मात्रा मे मिलता है। यह बात भी नागरी की उत्तमता, उपयोगिता और श्रेष्ठता की द्योतक है। लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त इसमें शिलालेख, ताम्रशासन आदि बहुत सामग्री मिलती है। नागरी के एक प्राचीन रूप के आधार पर तिब्बत की लिपि में बहुत साहित्य विद्यमान है। मंचूरिया, मंगोलिया आदि सुदूर देशों में अभी तक बालक नागरी अक्षर सीखते हैं। यहां दो या दो से अधिक अक्षरों के बने हुए बड़े सुन्दर सुन्दर मानोग्राम मिलते हैं। इस दृष्टि से भी भारत मे नागरी का स्थान बहुत ऊँचा है।

१० टाइप और प्रिंटिंग की सुविधा नागरी और रोमन दोनों को प्राप्त है। इनमे भी रोमन को बहुत अधिक, क्योंकि इसके अक्षरों की संख्या कम है और वैकल्पिक रूप कोई नही है। उर्दू लिपि का टाइप ढालना बहुत कठिन तथा महंगा है; अतः यह टाइप और प्रिंटिंग की सुविधा से वञ्चित है यद्यपि प्रिन्टर के टाइप-केस मे नागरी टाइप की संख्या रोमन की अपेक्षा दुगनी तिगुनी होती है, तथापि भारतीयों की दृष्टि मे नागरी के मुक़ाबिले में रोमन का आदर कम है। इसलिये नागरी ही उत्तम समझनी चाहिये।

११ पाठक जानते हैं कि रोमन के दो रूप हैं—१ मिलित, २ पृथक्। मिलित रूप लिखने मे काम आता है, पृथक् रूप टाइप और प्रिंटिंग मे। ध्यान से देखा जाय तो इनमे काफी अन्तर है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अक्षर के छोटा और बड़ा दो आकार होते हैं। जिसने केवल एक रूप सीखा हो उसके लिये दूसरे रूप का पढ़ना लिखना सहज काम नही, कुछ न कुछ समय लेता है। रोमन के मिलित रूप मे यह गुण है कि इसका प्रत्येक अक्षर अपने साथ वाले अक्षर के साथ मिलाकर लिखा जाता है। वार वार कलम उठानी नही पड़ती। केवल आई का डॉट और टी का डैश देने के लिये कलम उठाई जाती है। इस कारण इसे बहुत शीघ्रता से लिख सकते हैं। यह बात उर्दू लिपि मे भी है।

कई व्यक्ति शीघ्रता के निमित्त नागरी अक्षरों को भी मिला कर लिखते हैं। यहां शिरोरेखा द्वारा मिलाने का तात्पर्य नहीं बल्कि बिना कलम उठाये एक अक्षर के साथ अगले अक्षर को मिलाने का है। लेकिन वे ऐसा करने मे किसी समान नियम का पालन नहीं करते, इस प्रकार उत्पन्न यह मिलित लिपि व्यक्ति-गत आकृति भेद लिये रहती है। जिसे जैसी सुविधा हुई अक्षर

का आकार बदल दिया। उर्दू के शिकस्ता और रोमन के मिलित रूप की भाँति नागरी का कोई स्थिर मिलित रूप नही है जिसमे व्यक्तिगत सूक्ष्म भेदों को छोड़ स्थूलतया आकार की समानता पाई जाय।

१२. इटालिक—जब लेखक अपने लेख मे किसी शब्द या वाक्य पर विशेष बल देना चाहता है तो उसे मोटा लिख देता है या उस के नीचे लकीर डाल देता है ताकि पढ़ने वाले की आंख अनायास ही उस शब्द या वाक्य पर पड़ जाय। छापे मे बहुधा यह प्रथा है कि उस शब्द या वाक्य को मोटा न करके टेढ़े टाइप मे कम्पोज करते हैं इस टेढ़े टाइप को इटालिक कहते हैं। यह प्रथा अंग्रेज़ी से आई है। अंग्रेजी रोमन मे तो इस प्रकार काम चल जाता है लेकिन नागरी मे भी रोमन की देखा देखी इटालिक के टेढ़े टाइप बनाये हुए हैं। नागरी मे इनसे पूरा प्रयोजन सिद्ध नही होता। नागरी मे तो इटालिक के लिये ऊर्ध्व-रेखा-रहित या गुजराती लिपि जैसा टाइप बनाना चाहिये। नागरी मे ऐसे अक्षर आंख को जल्दी खेंचते हैं। उर्दूलिपि मे नस्ख़ी अक्षरों से यह काम लिया ज़ाता है।

१३. आजकल शीघ्रता के युग मे सामन्य लिपि के अतिरिक्त एक विशेष लिपि की आवश्यकता है जिसके द्वारा सभा समाज मे वक्ता के भाषण को अथवा ऑफिस मे ऑफ़िसर के कथन को उसके बोलते बोलते लिखा जा सके। सामान्य लिपि से यह काम सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसकी लेखन गति भाषण और वार्तालाप की गति से काफ़ी मन्द होती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिये "द्रुतलिपि" बनाई गई है। अंग्रेजी मे द्रुतलिपि की कई शैलियां प्रचलित हैं। भारतीय भाषाओं के लिये भी द्रुतलिपियां बनाई गई हैं, पर यहां उनका प्रचार पर्याप्त मात्रा मे नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त नागरी मे संक्षेपों अर्थात् संक्षिप्त संकेतों की भी आवश्यकता है जो व्याकरण, गणित, विज्ञान आदि के पुस्तकों में काम आसकें। अंग्रेजी कोषों में संक्षेपों की सूची लगी रहती है। देवनागरी मे भी ऐसे संक्षेपों की निश्चित प्रथा हो जानी चाहिये।

इस प्रकार देवनागरी, उर्दू और रोमन लिपियों की आपस मे तुलना करने पर किसी दृष्टि से नागरी, किसी दृष्टि से उर्दू और किसी दृष्टि से रोमन लिपि श्रेष्ठ ठहरती है। जब हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हो जायगा तो देवनागरी भी राष्ट्रलिपि के सौभाग्य से वञ्चित न रहेगी; क्योंकि शताब्दियों से हिन्दी और नागरी का घनिष्ठ संबन्ध रहा है, यहां तक कि साधारण बोल चाल मे हिन्दी और नागरी समानार्थक समझे जाते हैं।

नागरी लिपि के अक्षर लिखे हुए और छपे हुए बड़े सुन्दर प्रतीत होते हैं। भारत की प्रान्तीय लिपियां इससे मिलती जुलती हैं। इनको जानने वाला नागरी को, और नागरी जानने वाला इनको बड़ी आसानी से सीख लेता है। नागरी मे सैंकड़ों बरसों के संस्कृत, हिन्दी, मराठी आदि साहित्य लिखे मिलते हैं। यूरोप मे भी जितना नागरी का प्रचार है उतना और किसी भारतीय लिपि का नहीं। स्वयं भारत मे इसके बराबर दूसरी कोई लिपि इतनी व्यापक नहीं है। पहले नागरी और उर्दू लिपि सीखने मे जातीय भेद नहीं था। बहुत से हिन्दू लोग उर्दू सीखते थे और मुसलमान नागरी सीखते थे। पर अब कुछ बरसों से सांप्रदायिक भेद के कारण उर्दू को मुसलमान अपनी भाषा और लिपि समझने लगे हैं और हिन्दी तथा नागरी को हिन्दुओं की भाषा और लिपि मानते हैं। हिन्दुओं की भी उर्दू के विरुद्ध ऐसी ही मनोवृत्ति होती जाती है।

कुछ लोग कहते हैं कि रोमन ही भारत की राष्ट्र लिपि होनी चाहिये; क्योंकि यह संसार में सब लिपियों से अधिक प्रचलित है। परंतु रोमन के प्रति हिन्दू मुसलमान दोनों का स्वाभाविक विरोध है।

नागरी उर्दू, और रोमन की जो तुलना ऊपर की गई है उससे विदित होता है कि नागरी मे भी त्रुटियां हैं। इसे सर्वाङ्ग संपूर्ण लिपि बनाने के लिये उन त्रुटियों को दूर करना होगा। अब इसके लिये उपाय हो रहे हैं। "हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग", तथा "भारतीय साहित्य परिषद् वर्धा" इस विषय पर विचार कर रहे हैं। वे स्वरों के सम्बन्ध मे इस प्रकार की कल्पना करते हैं—

स्वरों के वर्तमान रूप हैं—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ इनमे छः तो मूलरूप हैं। यथा-अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए,। और ग्यारह मात्रा रूप हैं—ा ि ी ु ू ृ ॄ ॢ ॣ े ै ो ौ जिन से स्वरों का काम चलता है। अब अगर इन मूल रूपों मे से केवल एक मूलरूप अ लेकर उस पर मात्राये लगाई जायं तो देखिये कितना लाघव आ जाता है—

अ आ अि अी अु अू अृ अॄ अॢ अॣ अे अै ओ औ इससे छः सात टाइप बच जाते हैं। इससे पुस्तक छापने के श्रम और व्यय में काफ़ी कमी हो जाती है। कई पुस्तकों मे स्वरों की इस परिष्कृत रीति का प्रयोग हो भी चुका है।

इसी प्रकार का सुधार व्यञ्जनों मे किया जा सकता है।

इस लेख को समाप्त करने से पहले दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

१. हिन्दी पुस्तकों मे जब अंग्रेजी के शब्द आते हैं; विशेष कर व्यक्तियों, नगरों और पुस्तकों के नाम, तो उनको रोमन अक्षरों में छापा जाता है और उनके साथ नागरी की प्रतिलिपि तक नहीं

[illegible] । हिन्दी के सभी पाठक अंग्रेजी या रोमन जानने वाले नहीं होते। केवल रोमन में छपे अंग्रेजी के शब्द ऐसे पाठकों का निरादर है। अब यह प्रथा कम होती जाती है। अच्छे लेखक तो अंग्रेजी के शब्द नागरी अक्षरों में लिखते हैं। उनकी रोमन प्रतिलिपि भी नहीं देते। रोमन प्रतिलिपि से नागरी अक्षरों का महत्त्व जाता रहता है। अब तो अंग्रेजी के वाक्य तक नागरी अक्षरों में लिखने और छापने चाहियें। उर्दू फारसी के शब्द तथा वाक्य तो पहले ही नागरी में लिखे छापे जाते हैं, क्योंकि उर्दू टाइप का प्रचार नहीं। उचित है कि अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं को नागरी में लिखने के लिये एक समान शैली नियत कर ली जावे।

२. बहुत से लोग हिन्दी नागरी लिखते समय अङ्क अंग्रेज़ी के लिखते हैं। यह बात भी अत्यन्त अनुचित है; क्योंकि नागरी अङ्क लिखने उतने ही आसान है जितने अंग्रेज़ी के। केवल थोड़े से ध्यान और अभ्यास की आवश्यकता है। माना कि अंग्रेजी और रोमन हमारे शासकों की भाषा और लिपि है, और हम इनको सीखने के लिये बाधित किये जाते है। परन्तु जहां तक हमारे निजी कामों का संबन्ध है—जैसे घर का हिसाब किताब, संबन्धी और मित्रों के साथ पत्रव्यवहार, घरों और दुकानों की नाम-पाटियां इत्यादि-इन सब मे हिन्दी और नागरी का प्रयोग होना चाहिये।

भाद्रपद कृष्ण ९
स २०००

बनारसीदास जैन.

—संपूर्ण—